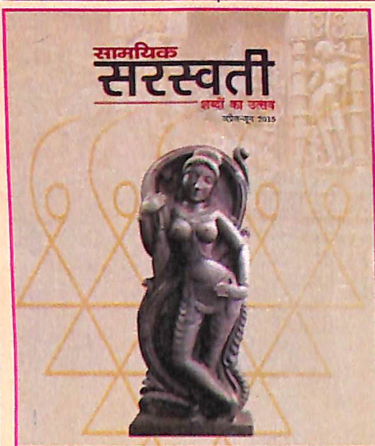
# नया ज्ञानोदय

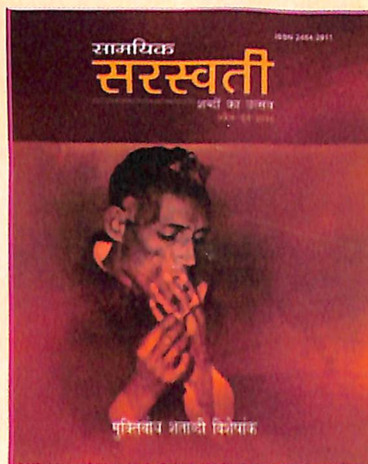
जुलाई 17
पृष्ठ 128
30 रुपये

## संवाद एकाग्र

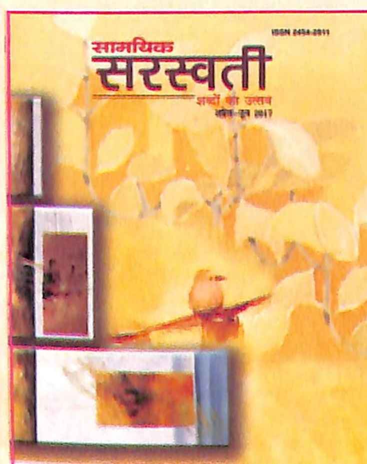
भारतीय ज्ञानपीठ




अप्रैल-जून 2015




अप्रैल-जून 2016




अप्रैल-जून 2017

# सामयिक सरस्वती

का आगामी आकर्षण



## थर्ड जेंडर विशेषांक

**रचनाकारों से अनुरोध :**

कृपया निम्नलिखित विषयों के अनुसार अपनी रचनाएं

**samayiksaraswati@gmail.com**

पर भेजने की कृपा करें

**लेख, शोधपरक लेख, आलोचना, साक्षात्कार, कहानियां और कविताएं**

**पत्रिका का सदस्यता शुल्क**

1 वर्ष ₹300 3 वर्ष ₹900 आजीवन ₹3000 (डाक व्यय सहित)

**Our Bank A/c Details:**

A/c Name. : SAMAYIK PRAKASHAN
Bank Name : CANARA BANK, Daryaganj, New Delhi-2
A/c No. : 0388256010566
IFSC Code : CNRB0000388, MICR Code : 110015006

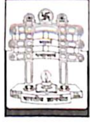
सम्पादक
महेश भारद्वाज

कार्यकारी सम्पादक
शरद सिंह




**SAMAYIK PRAKASHAN** *(Well Known Hindi Publisher)*

3320-21, JATWARA, NETAJI SUBHASH MARG, DARYA GANJ, NEW DELHI-110002
Phone: 011-23282733, 23270715 Mobile: 09868934715, 07065507086
E-mail: samayikprakashan@gmail.com • Website: www.samayikprakashan.com



भारतीय ज्ञानपीठ
संस्थापक
श्रीमती रमा जैन
श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन



नया ज्ञानोदय

भारतीय ज्ञानपीठ की मासिक साहित्यिक पत्रिका
अंक 173, जुलाई 2017

सम्पादक
**लीलाधर मंडलोई**



## रेखा-चित्र

*बीज में सोए हुए पौधे-सी*
*हृदय में पंख मूँदे कामना प्यारी*
*अथक पलकों के किनारे पर*
*ढुल-मुल ढुलकती नींद की कुमारी।*

*ऊषा को हेमन्त-शर्वरी की भेंट*
*हरी-भरी दूब के गले में झिलझिल मुक्ता-हार।*
*अँगीठी में ऊँघती बूढ़ी आग की कराह,*
*एक सौ छः डिग्री का बुखार।*

*मन का मैल धो जाती गंगा*
*कजरारी आँखों को धो जाती जमुना*
*आँसुओं की एक ही धारा के अनेक रूप*
*मानव को वरे हुए मधुर शाप।*

*काल के कपोल पर लाल एक तिल खिला*
*मौत को पौ फटते समय प्रात का तारा भला;*
*जीवन-सन्धि-पत्र पर वे काली रेखाएँ*
*चरम-सन्ध्या-पर्व में शमी-तरु की लेखाएँ।*

**(24वें ज्ञानपीठ पुरस्कार (1988) से सम्मानित विख्यात तेलुगु कवि डॉ. सी. नारायण रेड्डी, अब हमारे बीच नहीं रहे। श्रद्धांजलि स्वरूप उनकी यह कविता हार्दिक संवेदनाओं के साथ।)**

नया
# ज्ञानोदय

आधुनिक भावबोध, कला संचेतना और नवीनता की
प्रतिनिधि मासिक पत्रिका

अंक 173, जुलाई 2017

**साहू अखिलेश जैन**
प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

**प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ**
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड,
नई दिल्ली-110 003
फोन : 011-2462 6467, 2465 4196, 2469 8417, 2465 6201
फैक्स : 011-2465 4197;
ई-मेल : nayagyanoday@gmail.com / bjnanpith@gmail.com
वेबसाइट : www.jnanpith.net

सम्पादक
**लीलाधर मंडलोई**

Nayā Gyānodaya
A Literary Monthly Magazine
Editor : Leeladhar Mandloi
Language : Hindi
Published by **Bharatiya Jnanpith**
18, Institutional Area, Lodi Road,
New Delhi-110 003

**मूल्य :**
30 रुपये

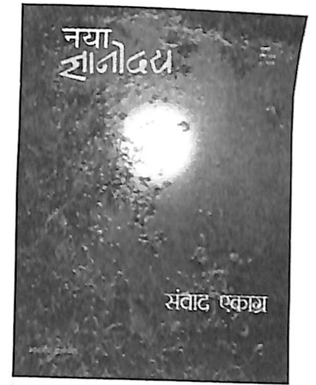
**व्यक्तियों के लिए :**
वार्षिक : 300 रुपये / त्रैवार्षिक : 800 रुपये
पंचवार्षिक : 1200 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

**संस्थाओं के लिए :**
वार्षिक : 350 रुपये / त्रैवार्षिक : 1000 रुपये
पंचवार्षिक : 1650 रुपये / आजीवन : 5000 रुपये

**विदेशों के लिए :**
**हवाई डाक** : एक अंक 6 डॉलर / वार्षिक 60 डॉलर

**नया ज्ञानोदय की पीडीएफ फाइल ई-मेल से प्राप्त करने हेतु शुल्क 10 डॉलर वार्षिक (विदेश), 200 रुपये वार्षिक (भारत) विशेष जानकारी के लिए** marketing@jnanpith.net **सम्पर्क करें**

शुल्क 'भारतीय ज्ञानपीठ' (Bharatiya Jnanpith) के नाम से उपर्युक्त पते पर भेजें।
(केवल मनीआर्डर / चेक / बैंक ड्राफ्ट से)
(दिल्ली से बाहर के चेक में 35 रुपये अधिक जोड़ें)




हर अंक विशेष

अंक जुलाई 2017

आवरण : महेश्वर, भीतरी रेखांकन : शैलेन्द्र सरस्वती. साज-सज्जा : सीमा चौहान

# भवदीय

## कुछ खोलकर या कुछ छिपाकर : शमशेर

शमशेर को पढ़ते हुए मेरी नज़र उनकी इन पंक्तियों पर मानो टिक सी गयी है—

1. योरोप के जो चित्रकार थे और जो आंदोलन अति-यथार्थवाद का वहाँ पर चला था, उसने बहुत गहराई से मुझको प्रभावित किया और उन रूपों को मैंने अपने ढंग से कविता में पेश करने की कोशिश की।

2. मैं आपसे ये अर्ज़ करूँ कि कला के प्रकार, काव्य के प्रकार बहुत हैं— जिनको मैंने बरता है, वो भी काफी हैं, इतने अधिक कि मैं समझता हूँ, उनका कोई शुमार नहीं है।

3. यकबयक एक इमेज़ जैसी कोई चीज़ आ जाती है और वो... यानि वो अपने शब्द लिये हुए आती है और मैं फौरन उसको लिख लेता हूँ क्योंकि वो एक-एक आन्तरिक फोर्स, एक मजबूरी जो मुझे बाँध लेती है।

4. एक और सूत्र मेरे मन में काम करता रहा है- ग़लत या सही। पर वो सूत्र है पुराना और बहुत ही काम का। वो सूत्र यह है कि कला उसे कहते हैं जिसमें कम से कम उपादानों के साथ अधिक-से-अधिक प्रभाव पैदा किया जा सके। शब्द कम हों। चित्र हैं तो रेखाएँ कम हों, रंगों का बहुत उपयोग न किया गया हो। मगर जो प्रभाव चाहिए वो उतने में पूरा अधिक-से-अधिक हो।

5. क्या साहित्य, क्या चित्रकला, क्या मूर्तिकला, क्या स्थापत्य। कहीं जो कोई अपवाद हो गया है, वही महान है। रवीन्द्रनाथ, निराला, इक़बाल, अवनींद्रनाथ, जामिनी रॉय इन्होंने अपनी ज़मीन बाहर नहीं खोजी, बाहर से केवल कुछ अनुभव लिया, प्रगति के कुछ चरण लिए, अनुभव अपनी ही धरती से लिए। आज हमारी अनुभूति की पृष्ठभूमि भी विदेशी है, भाषा की धड़कन, उसका ढाल और सांचा विदेशी है।

6. नेरूदा के बारे में मैंने पाया, ये शब्दों का प्रयोग, ये पंक्तियों का प्रयोग, वो एक चित्रकार की तरह करता है। शब्दमय पंक्तियाँ नहीं रखता है वो। रंग लेकर ब्रश से वो पेंट करता है। और भी दूसरा रंग लाता है। जो चीज़ उसके सामने आती है इमेज बनकर, वो तस्वीर बनाकर ज्यों का त्यों रख देता है। उसमें सम्बन्ध नहीं जोड़ता। वो पूरा सामंजस्य जो उनका है, वो चित्र जिनका कि बनता है।

मैं कहना ये चाहता हूँ कि शमशेर को इस बैकड्रॉप में देखिए। अब जैसे ही वो शब्द की दुनिया में आते हैं तो मुक्तिबोध का बहुत महत्त्वपूर्ण कथन है उसको केन्द्र में रखे बगैर आपको शमशेर का कवि समझ में नहीं आता। वो कहते हैं कि 'शमशेर ने अपने हृदय में आसीन चित्रकार को पदच्युत कर कवि को अधिष्ठित किया है।' यह बहुत इम्पोर्टेन्ट ऑब्जर्वेशन है मुक्तिबोध का। चित्रकला तो उन्हें छोड़नी पड़ी, कविता में वो आये। लेकिन इसका मतलब ये नहीं है कि वो अपने चित्रकार को छोड़ कर आये, अपने रंगों को छोड़कर आये या अपनी रंग संवेदना को छोड़कर आये। जो परशेप्सन उन्हें मिला था या जो सीनिक ऑब्जर्वेशन उनके पास था उसको वे छोड़कर नहीं आये। दरअसल चित्रकला में भी उन्होंने जिस कोमलतान को अर्जित किया था वो उसके साथ ही कविता में आये, उसको छोड़कर नहीं। इसको जब तक ध्यान में नहीं

रखेंगे तब तक कम से कम मुझे तो शमशेर समझ में नहीं आते। शमशेर अपनी कविता में भी जो केन्द्रीय वस्तु एक बार देखते हैं वो चाहे स्त्री की देह हो, किसी का चेहरा हो, दोस्त की छवि हो, प्रकृति हो, वो जो कुछ भी उनकी केन्द्रीय अनुभूति में ऑब्जेक्ट बनकर आता है वही केन्द्रीय रूप से कविता में काव्यात्मक रूप में ट्रान्सफार्म हो जाता है।

7. शमशेर के शब्द चित्रों पर ज़रा ग़ौर करें—

— दूर, विपथ, दूर! संग शान्त रात्रि, विभा मौन हाँ। एक चित्रकार... कवि चित्रकार, दीन, मूक, श्रोता, अति निभ्रांत। बैठा। हृदयहीन, सुखी, दीन। प्रेम से मलिन। यूँ ही। सदा... यूँ ही।

— आँगन है बारिश से लीपा हुआ मेरा गीला, काला, शान्त...।

— यह न कहानी है न अफ़साना, न रंग है न कोई नज़्म, ग़ज़ल, न सॉनेट। नर्म छली हुई-सी गुलाबी पीली मैदई धूल, साँस में है। ख़ुश्क लहर-सी दूर-पास।

— एक सीपी की चमक फैली सकल आकाश में

— वह दरिया तुम्हारी जाँघें हैं बेहद चिकनी एकदम चिकनी और गोल जैसे

— धीरे-धीरे। संध्या की लालिमा पर टिका हुआ। डूब रहा वह काला सूर्य। नवल रात्रि की गोद में। निद्रालु।

— कभी बाएँ से। कभी परछाइयाँ ओढ़कर। कभी धूप बालों से झाड़कर। तब कहीं उसे लफ़्ज़ मिलते हैं जो मिलते ही पर्सपेक्टिव बन जाते हैं। बस...।

— कला तो। उद्दाम यौवन है। उत्सर्ग है उसी का। सौन्दर्य। दोनों आत्मा में है निहित। कालोपरि।

— कला वह है कि जिसके अंक अपने मन में बैठाना बहुत आसान हैं, लेकिन कठिनतम उनका समझना।

— वो कवि जिसमें कला जीवन स्वयं हैं-गुनगुनाता है हमारे लोक में आकर, न फिर आना, न फिर जाना।

— गहरी घुली हुई शाम यानी शाम के बादल। बादलों का एक लंबा ढाल। हलकी ढलुवाँ हँसती हुई पहाड़ियाँ और हँसता हुआ ख़ुश-ख़ुश कुछ गहरा-सा ऊदा नीला आसमान।

— शाम का ऊदा गुलाबी धुआँ।

भारतीय कला में जब शमशेर आये थे वो 1935 के आसपास की बात है और लगभग डेढ़ दो दशकों में आप उस पीरियड को देखते हैं तो भारतीय कला में एक तरफ़ तो वो अभिव्यंजनावादी अमूर्तन का पीरियड था और दूसरी तरफ़ था अति-यथार्थवाद का दौर जिसको आप सुर्रियलिज्म कहते हैं। जो ट्रेनिंग होती है शमशेर की चित्रकला में वो बंगाल स्कूल के प्रसिद्ध चित्रकार शारदाचरण उकील के यहाँ होती हैं। बंगाल स्कूल में उस समय जो सबसे महत्त्वपूर्ण चित्रकार थे— वे हैं अवनीन्द्र नाथ ठाकुर, असित कुमार हलदार, अमरेन्द्र नाथ गुप्ता और नन्द लाल बसु।

अब इनके सारे चित्रों को अगर आप स्मरण करें, अगर वे आपके ध्यान में हो तो इन सारे चित्रकारों के विषय क्या थे? एक तो था जो मुगलकाल का भव्य इतिहास है, ये उसका चित्रांकन कर रहे थे और जो राजपूत राजा थे उनका जो दरबारी वैभव था, ये ही उनके चित्रों के विषय थे। इसके अलावा बंगाल स्कूल के चित्रकार जिन विषयों पर चित्र बना रहे थे उनमें रामायण है, महाभारत है और बुद्ध की जातक कथाएँ हैं।

अब सवाल ये उठता है कि जब शमशेर बंगाल स्कूल के उस्ताद के यहाँ सीख रहे थे तो उनके यहाँ भी ये सारी चीज़ें होनी चाहिए। लेकिन परम आश्चर्य की बात ये है कि बंगाल स्कूल की जो पुरूत्थानवादी सोच थी, शमशेर का एक भी चित्र बंगाल के उस स्कूल की शैली में नहीं मिलता। इस बात को बहुत गौर से देखना चाहिए कि ये क्यों नहीं मिलता? बंगाल स्कूल से उन्होंने सिर्फ़ दो चीज़ें सीखी थीं, एक तो रेखाओं और जल रंगों को बरतने का हुनर। इसके अलावा उन्होंने कोई और चीज़ नहीं सीखी। क्योंकि पुरूत्थानवादी सोच समाज के लिए माफिक नहीं थी। इसलिए इस सोच का विरोध रवीन्द्रनाथ टैगोर भी कर रहे थे और देवेन्द्रनाथ टेगौर भी। उन्होंने बंगाल स्कूल के चित्रकला का समर्थन नहीं किया।

दूसरी तरफ़ यामिनी राय और अमृता शेरगिल थे। इन्होंने भी उसका विरोध किया और उस जमाने में कलकत्ता में आठ कलाकारों का एक समूह हुआ करता था जिसके लीडर हुआ करते थे प्रदोशदास गुप्त। उनके साथ थे कमला दास, गोपाल घोष आदि इस ग्रुप में चित्रकार भी थे और मूर्तिकार भी थे। तो ये आठ कलाकारों का समूह उस समय बहुत प्रभावशाली था और इन्होंने भी बंगाल स्कूल का विरोध किया और कहा कि 'यदि हम प्राचीन गौरव का बखान करेंगे तो हम उन्नति नहीं कर सकते।'

अब इस बैकड्रॉप में आप शमशेर को या उनके चित्रों को समझने की कोशिश कीजिए कि एक तरफ़ तो विरोध हो रहा था और दूसरी तरफ़ यूरोप का सुर्रियलिज्म यानि अति-यथार्थवाद। तो इन दोनों के बीच में जब शमशेर खड़े होते हैं तो बंगाल स्कूल को वो भी खारिज कर देते हैं और वो अति-यथार्थवाद की चित्रकला का समर्थन करते हैं और उन्होंने लिखा है एक जगह 'कि यूरोप के

जो चित्रकार हैं और जो आन्दोलन अति-यथार्थवाद का वहाँ चला था उसने मुझे बहुत गहरे और बहुत दूर तक प्रभावित किया है।'

ये जो अति-यथार्थवाद था इसमें क्या चित्रण होता है? यथार्थ को अयथार्थ ढंग से प्रस्तुत किया जाता है और अयथार्थ का यथार्थवादी ढंग से अंकन किया जाता है। अगर आप शमशेर के सारे चित्र देखते हैं तो उसमें एक चीज बहुत गहरे तक आपको दिखाई देती है कि वो ऑबजेक्ट को जब पेंट करते हैं तो बंगाल स्कूल की उन रेखाओं का और जल रंगों का जो हुनर है उसका इस्तेमाल करते हैं और किसी भी मनुष्य का जो भीतरी संसार है, वो जो उसका भय है, उसकी जो असुरक्षा है, उसकी जो असहायता है या उसके भीतर चलने वाली जो हिंसा है तो अपने एब्सट्रेक्ट चित्रों में वो उन चीज़ों को लेकर आते हैं जो उस समय के यूरोप के मॉडर्न पीरियड से बिल्कुल मेल खाता है।

शमशेर का ये चित्रलोक अगर आपने देखा है तो मेरी गुजारिश होगी कि उसके साथ आप उनके काव्यलोक को देखना शुरू करें तो आपको जो परिणाम मिलेंगे वो बहुत विस्मयजनक है। चित्रकार जब चित्रकला को छोड़कर कविता में आता है तो उसके परिणाम जुदा होते हैं। शमशेर अपने लेखन के बारे में ख़ास तौर पर यह कहते हैं कि 'जो अनुभूति है, जो कलात्मक अनुभूति है मैं उसी पर जोर देता हूँ।'

यानी कि अगर उनकी कलात्मक अनुभूति में कोई एक दृश्य आता है, कोई एक व्यक्ति आता है, प्रसंग आता है तो वे अधिकांशत: उसी को पेन्ट करते हैं और आप इसीलिए उनके सारे चित्रों में देखेंगे कि अनुभूति के फोर्स में जिस चीज को वो पेन्ट कर रहे होते हैं या जिसको पेन्ट किया है उसके आसपास का समाज, उसके आसपास का परिवेश उनके चित्रों से लगभग ग़ायब रहता है। ये बड़ी दिलचस्प-सी चीज़ है।

मैं उनके उन चित्रों की बात करूँगा जो अपवाद के तौर पर हैं, लेकिन उनमें भी विचार हैं, जैसे उनका एक चित्र है कि 'बंदी गृह में एक जोड़ा वृक्ष।' या 'पिंजड़े के अन्दर तोता रानी या तोता और रक्षक।' ये जो इस शिल्प के तीन चार चित्र हैं जिसको उन्होंने शीर्षक दिए हैं इसमें स्त्री विमर्श और किसी पक्षी की, व्यक्ति की पराधीनता, उसके क़ैद की हालत, इन सारे चित्रों में बहुत स्पष्ट लगते हैं, क्योंकि उन्होंने उसके शीर्षक भी दिए हुए हैं। लेकिन अति-यथार्थवाद से प्रभावित चित्र उनके जो हैं वो अन्य कोटि के हैं।

अगर आप उनके बिम्ब देखें तो सीने में खुलती हुई खिड़कियाँ या ख़ूनी बालों वाला भेड़ियानुमा एक जानवर या गुलाबी तोते का बिल्लीनुमा रक्षक। तो इसमें आप देखेंगे कि असुरक्षा, भय और एक तरह का उत्पीड़न। और उस पीरियड को भी देखिए 1935 के बाद के पीरियड के उत्तर प्रभाव में पूरी दुनिया में क्या चल रहा था? विश्वयुद्ध की स्थितियाँ उसके बाद के समाज को, वो उस अति-यथार्थवाद के शिल्प में, उस समय को रच रहे थे जो कि मनुष्य की भीतरी स्थिति थी, जो सिर्फ़ हिन्दुस्तान में ही नहीं थी। समूचे विश्व में उसके भीतर का जो एक तरह का असुरक्षा बोध था, एक तरह का जो भय था, वो उसे रच रहे थे। इसके अलावा उन्होंने कुछ ख़ास तरह के चित्र बनाये हैं। एक तो सेल्फ पोट्रेट बनाये हैं जो ख़ुद के बारे में हैं और आप उन चित्रों को देखेंगे तो उन चित्रों में ये लगेगा की एक बेचैन रूह है, वो कुछ खोज रही है। शायद वही जिसका मैंने जिक्र किया। एक बहुत कोमलतान जो कहीं खो गयी है। इसके अलावा उनके कुछ स्टिल लाइफ के चित्र हैं, न्यूड्स भी हैं, क्योंकि वो पूरा का पूरा दौर पीकोसाई कला का भी था। उनकी एक लम्बी कविता भी पीकोसाई कला पर है। तो पीकासो का भी एक प्रभाव दिखाई देता है। तो ये जितने भी एब्सट्रेक्स चित्र हैं या चित्रों की पूरी की पूरी एक जो श्रृंखला है, उसके बारे में बहुत ज्यादा चर्चा नहीं हो पाई। जिसमें कुछ लेंडस्केप भी है। उसमें उनकी आधुनिक चेतना, समय के सवाल और वो डिस्कोर्स तब आकार ले रहे थे। ये सारे उनके चित्रों के विषय थे तो आप देखिए कि वो कवि चित्रकार कितनी दूर तक देख रहा था। आज हम जिस स्त्रीविमर्श की बात कर रहे हैं उस पर शमशेर ने 1935 में अपने चित्र बनाये।

उनके चित्रों में एक बुनियादी परिवर्तन हुआ जब वो बॉम्बे जाते हैं। बॉम्बे में जब उनका मार्क्सवाद से परिचय होता है और वहाँ मार्क्सवाद पार्टी का दफ़्तर था, उसमें वो काम करते हैं और अख़बार में भी काम करते हैं। तो वहाँ से उनकी दुनिया में एक परिवर्तन आता है। क्योंकि उनको चित्रकार के रूप में वो हैसियत नहीं मिली जबकि उनका परिचय उस ज़माने के बेन्द्रे और हुसैन और जो उनकी जो मॉडर्न पीढ़ी थी, जो प्रोग्रेसिव ग्रुप कहलाता था मुम्बई का, उनके साथ उनका राब्ता था, उनके साथ उनका संवाद था। लेकिन बतौर चित्रकार शायद उनको वो सफलता नहीं मिली या उसको वो आगे कन्टीन्यू नहीं करना चाहते थे। तब उसके बाद वो कविता की तरफ़ लौटते हैं। हुसैन ने शमशेर के बारे में बहुत अच्छी बात कही है कि 'जिस आदमी ने ये रेखाएँ बनाई हैं और जो एक ही बार की उठी हुई क़लम से बनाई हुई हैं और रेखाओं में जो संतुलन और जो सधाव है वो उसे कमजोर तो साबित नहीं करता।' यानि की शमशेर को चित्रकार के रूप में भी एक समादृति थी। उनकी चित्रकला को लोग मानते थे। लेकिन उनको वो काम छोड़ना पड़ा।

मेरे ख़्याल में जितने चित्र शमशेर ने अपने मित्रों के बनाये हैं या जितनी कविताएँ अपने मित्रों पर शमशेर ने लिखी हैं, दरअसल उसकी एक ट्रेडिशन जो शमशेर ने बनायी है उतना तो किसी और ने सम्भव नहीं किया। बाकी लोगों ने उनका अनुसरण किया है। फिर उसके बाद देह राग के जो बिम्ब हैं पेन्टिंग में देख लीजिए, गद्य में देख लीजिए, कविता में देख लीजिए, मतलब देह का इस तरह सृजन कविता या उससे बाहर उनके कला रूपों में ठोस है।

ठोस शब्द उनके यहाँ बहुत आता है और बिम्ब भी आता है तो काँसे का, काँसे की गोलाइयाँ। इसके बाद उन्होंने भू-दृश्य बनाये। जो उनकी कविताओं में आते हैं, गद्य में भी उसी तरह से आते हैं जैसे पेन्टिंग में आते हैं और ऐसा लगता है उनकी सारी इन्द्रियाँ जागृत हों और सारी इन्द्रियों से आते हुए बिम्ब कविता में, कला में या रचना में हों, ऐसा बहुत दुर्लभ होता है। सारी इन्द्रियों से जागृत शायद कोई कवि आपको दिखाई देता हो। उन्होंने जितनी भी विधाओं में लिखा है आपको उनकी भाषा, उनके विचार, उनकी चित्रात्मकता, और कहें सिनेमेटोग्राफी है वो सब देखिए। वो लगभग एक ही राग में दिखाई देगी। उनकी अनुभूति का जो फोर्स था वो किसी भी फॉर्म में चला जाये, वो लगभग एक ही तरह से दिखाई देता है। अगर मान लो उनकी उर्दू की ग़ज़ल का एक टुकड़ा लीजिए, 'हकीकत को लायें तखय्युल से बाहर मेरी मुश्किलों का कोई हल लाये।' 'तखय्युल' पर ध्यान दीजिए और 'हकीकत' पर ध्यान दीजिए। डायरी के पन्नों में आपको लगेगा ही नहीं कि आप कविता पढ़ रहे हैं कि आप डायरी के पन्ने पढ़ रहे हैं। दो तीन टुकड़े— 'बिम्बहीन दर्पण सा कुछ मैला नीला आकाश।' इसमें चित्र हैं। इसमें कविता भी है, इसमें एक सिनेमेटोग्राफर भी दिखाई देगा। उसी तरह से 'नभ की सीपी जो रात्रि की कालिमा में पड़ी थी धीरे-धीरे ऊषा की कोमल लहरों में घुलती और बिखरती जा रही है।' वो कविता भी इसी तरह पढ़ते थे अगर आपको याद हो। तो अगर गद्य भी पढ़ेंगे तो आपको लगेगा कि कविता पढ़ रहे हैं। 'हवा और बारिश में गीला आइना सा चमकता रहा रह रहकर', ये सब डायरी के हिस्से हैं।

अगर उस चित्रकार की चेतना, उसकी संवेदना, उसका रंगकौशल, उसका सौन्दर्यबोध पूरी तरह से खारिज हो गया होता तो उनकी कविताएँ भी ढह गयी होतीं क्योंकि उनमें रंग हैं। जैसे शमशेर का सबसे अज़ीज रंग सांवला है, नीला है, सांवला केसरिया है। ये रंग तो उनके चित्र संसार से ही आये हैं। फिर जिस तरह की रेखाओं का इस्तेमाल अपनी कविताओं में, अपने लेखों में करते हैं तो ये रेखाएँ कहाँ से आईं। ये भी चित्रकला से आई हैं। शमशेर का एक बहुत प्रिय बिम्ब है आइना। उन्होंने आइने के बारे में लिखा है, 'आइनो रौशनाई में घुल जाओ और आसमान में मुझे देखो और मुझे पढ़ो, आइनो मुस्कुराओ और मुझे मार डालो। आइनो मैं तुम्हारी ज़िन्दगी हूँ।'

हम सब जो शमशेर को प्रेम करते हैं, वो शमशेर दरअसल एक आइना हैं या आप कह लें पूरा आइनाख़ाना है। जब तक ये तमाम आइनो को, जो शमशेर की कला वीथिका में लगे हुए हैं अनेक रूपों में, उनको समेटकर एक जगह जब तक आप नहीं देखेंगे तो वो जो वास्तविक शमशेर है मुझे नहीं लगता कि आपको समझ में आयेंगे। इसलिए जब कभी उनके आइनाख़ानों में जाये तो कोशिश ये करें कि एक आइना आप अपना भी बनायें जिसमें शमशेर के सारे रूप एक साथ आपके सामने आते हों। क्योंकि वो अपने बारे में कहते हैं कि, 'वही वह है क्योंकि सबसे अपने को काटकर, अलग हटाकर, फिर अपने ही पीछे से घूमकर आगे आ गया है।' वही चित्रकार आगे आ गया है फिर-फिर-फिर। एक बात उन्होंने लिखी है सारी कलाओं के बारे में, **'कि तस्वीर, इमारत, मूर्ति, नाच, गाना और कविता इन सबमें बहुत कुछ एक ही बात अपने ढंग से बोलकर या छिपाकर या कुछ खोलकर या कुछ छिपाकर कही जाती है और मैं वही करता रहा हूँ।'** शायद वो यही कहना चाहते थे। मैं भी शायद उसी को समझना चाहता था। मैं नहीं जानता था कि मैं क्या कह पाया। मैंने कोशिश की है अपनी तरह से कि शमशेर को समझ सकूँ। मैं शमशेर को समझ पाया इसका दावा गलत होगा।

**और अन्त में**

**कविता में उपवास**

आज वह कविता में उपवास रखेगा
इतना तो एक कवि को करना ही चाहिए

उपवास इसलिए कि कुछ किसान
और मर गये या मारे गये
इसलिए कि उन्होंने आवाज़ बुलन्द की...

इसलिए कि उन्होंने आत्महत्या नहीं की
इसलिए कि लागत के नुक़सान की
सहनशीलता को छलाँगते हुए
उन्होंने फसलों में आग लगा दी

कुछ ने नारे लगाते हुए उन्हें बीच रास्ते में फेंक दिया
कि कोई और चारा नहीं था इसके अलावा

और वे फिर भी व्यस्त रहे
कि राष्ट्र की तरक्की वाले
हस्बमामूल मुद्दे ज़्यादा अहम थे
या फिर उद्योगपतियों के प्रतिवेदन
उपवास इसलिए उनके लिए सरकार के दरवाज़े बन्द थे

एक कवि उनके साथ है तो वह
कविता में इतना तो करेगा
कि वह उपवास ज़रूर रखेगा।

डॉ. सी. नारायण रेड्डी, ज्ञानपीठ सम्मान 1988 से पुरस्कृत लेखक का निधन हो गया। वे गहरी अर्न्तदृष्टि, विरल काव्य संवेदना के कवि और तार्किक कुशाग्रता के कारण अपने समय के प्रवर्तक रचनाकार के रूप में समादृत रहे।

भारतीय ज्ञानपीठ की विनम्र श्रद्धांजलि।

**—लीलाधर मंडलोई**

# पुरखों के कोठार से

## केशवचन्द्र वर्मा

# ठुमरी

**भारत का शास्त्रीय** संगीत धर्म तथा राज्य संरक्षण की दो कलियों पर ही घूमता रहा है। दोनों की रूढ़ियों ने जब संगीत को भी क्रमशः रूढ़िगत बन्धनों में जकड़ना प्रारम्भ किया तो प्रतिक्रियास्वरूप ठुमरी गायन का जन्म हुआ। जन्मतः लोकतन्त्र पर आधारित होते हुए भी ठुमरी की रसानुभूति ने उसे सामन्तवादी परम्पराओं के बीच ला मिलाया। रीतिकालीन कविता की भाँति ठुमरी का राधाकृष्ण लीलावर्णन भी उसी संस्कृति की देन है। शास्त्रीय संगीत के आचार्यों ने ठुमरी गायन को सदा निम्नकोटि की साधना माना, किन्तु वस्तुतः ठुमरी ने संगीत को काव्यमय अनुभूतियों से अधिक सुदृढ़ तथा ग्राह्य बनाया और रागों के कठोरतम बन्धनों से मुक्त होकर मानवीय संवेदनाओं को सही अर्थों में और भी गहरे उतरकर छूने का प्रयास किया। रागों के सूक्ष्म और अगम भावबोधों को ठुमरी के माध्यम से जीवन के अधिक निकट लाया जा सका।

**अंग : एक**

ठुमरी का जन्मस्थान लखनऊ मानते हैं। लखनऊ के ही उस्ताद सादिक अली खाँ इस अंग की गायकी के जनक कहे जाते हैं। अवध के कला-विलासी नवाब वाज़िदअली शाह जो अनेक कलाओं को प्रोत्साहित करने के लिए विख्यात हैं, उनमें ठुमरी का अपना एक महत्त्व है। वे स्वयं ठुमरी के एक अच्छे रचयिता थे। 'कदर पिया', 'ललन पिया', 'अख़्तर पिया' जैसे उपनामों वाले अनेक 'पिया' ठुमरियों के रचनाकार हुए। अवध का कत्थक नृत्य ठुमरी गायकी से विशेष रूप से सम्बन्धित रहा है। धीमी लय में पहले गीत गाकर, फिर नृत्य द्वारा उन भावों की अभिव्यक्ति कत्थकों का प्रिय नृत्य था।

**अंग : दो**

लखनऊ की ठुमरी गायकी दरबारी संरक्षकता में अभिजात्य वर्ग की अभिरुचि से भरी-पूरी थी। नागरिक संस्कृति इन ठुमरियों में बोलती हुई दिखती है। गायन शिल्प की सूक्ष्मता, कुशलता और पदों के बोलों का अभिजात्य प्रदर्शन, उर्दू और ब्रज मिश्रित भाषा की चुलबुलाहट, शास्त्रीय रागों से मोह, और ख़्याल-गायकी से ठुमरी अंग की विशिष्टता प्रदर्शित करना, लखनऊ के ठुमरी रचनाकारों और गायकों का अपना सौष्ठव था। उत्तर प्रदेश में वाराणसी ठुमरी का एक दूसरा केन्द्र बना। राज्य संरक्षक से सर्वथा विहीन और विमुक्त बनारस में ठुमरी ने लोकतत्त्वों को ही विशुद्ध रूप से पहली बार अपनाया। चैती, कजरी, सावनी, होली आदि लोक प्रचलित धुनें ठुमरी गायन का महत्त्वपूर्ण अंग बन गयी। बनारस

नक की ठुमरी में इसी कारण न केवल लोकरंजन का ही पक्ष बहुत सबल है, वरन् उनमें आज भी नवीनता और ताज़गी मिलती है। लखनऊ और बनारस दोनों की ही एक प्रकार से पूरब अंग की ठुमरी कही जाती है। ठुमरी का दूसरा पक्ष 'पंजाबी अंग' के नाम से प्रसिद्ध है। इस अंग की ठुमरी का मूल पंजाब का लोक संगीत माहिया, पहाड़ी आदि धुनें हैं। पदों के बीच में तानों का पारे के दानों-सा बिखरना और गोल छल्ले जैसे स्वरों से शब्दों का जोड़ना, खटकों का प्रयोग, पंजाबी अंग की अपनी विशेषता है। पंजाबी अंग के गायक शब्दों की अपेक्षा तानों पर अधिक बल देते हैं, जिससे ठुमरी का बोल पक्ष पीछे छूट जाता है। ठुमरी गायकी बोलों की ही गायकी है। काव्य का विशेष रस लेने के लिए ही ठुमरी लोकप्रिय हुई। ठुमरी का यह अंश पंजाबी अंग में उपेक्षित रहा। किन्तु इधर पंजाबी अंग के गायक भी काव्यात्मक रस की रक्षा करने की चेष्टा करते हुए दीख पड़ते हैं। पंजाबी अंग की लोकप्रियता भी बढ़ रही है और बहुत से गायक पूरब अंग के साथ इसका मिश्रण करते हैं।

**सीमित राग**

ठुमरी के लिए सीमित राग हैं। संक्षिप्त और चंचल राग ही ठुम के लिए उपयुक्त माने गये हैं। खम्भाज, पीलू, काफी, भैरवी आ ठुमरी के प्रचलित राग हैं, किन्तु आजकल तिलंग, खम्भावती, सिन्दूरा जैसे रागों में भी ठुमरी गाते हैं। ठुमरी श्रृंगार से सम्बन्धित भावों, अनुभावों, उद्दीपनों तथा संचारी भावों का एक अपूर्व मिलनतीर्थ रहती है। निष्णात गायन इन सभी अनुभवों से एक सम्पूर्ण रस की सृष्टि करने की चेष्टा करता है। किसी भी बोल के जितने भावात्मक स्तर हो सकते हैं, उसे गायक अपने कंठ से विभिन्न स्वर समूहों से अभिव्यक्त करने की चेष्टा करता है, जिसे टेक्निकल ढंग से 'अदा करना' कहते हैं। ठुमरी के प्रधान रसतत्त्व को कल्पना प्रवणता से गायक नये-नये रूपों में प्रदर्शित करता है। अच्छा गायक न केवल सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति की रस ग्राह्यता को ही प्रभावित करता है वरन् इसी हेतु वह लोकरंजक भी सिद्ध होता है।

रीतिकालीन काव्यधारा की जो सामाजिक पृष्ठभूमि थी और उस काल में जैसी काव्य कृतियों की रचना ठुमरी के रचनाकार कर सकते थे, वही ठुमरी गायकी की भावपीठिका बनी। 'राधा कन्हाई सुमिरन को बहानों' लेकर श्रृंगार की जैसी घोरतम रचनाएँ की गयीं ठुमरियों में उसके उदाहरण भी कम नहीं मिलेंगे। 'नजरिया' के प्यारी लगने की चर्चा उठकर उसे किसी सीमा तक ले जाने में ठुमरी गायकों को संकोच नहीं होता। 'फुलगेंदवा' बनकर 'सैंया की गोद' की आकांक्षा न जाने कितने गीतों का ताना-बाना बुन चुकी है। इस प्रकार की रचनाओं के पीछे उन घरानों का विशेष हाथ रहा है जिसका काम मज़लिसों और राजसभाओं में नाचना गाना मात्र ही था। उनके व्यवसाय की दूषित छाया इन गीतों में प्रायः प्रतिभासित हुई है। दादरा गीतों में ये भावनाएँ और भी स्पष्ट हुई हैं। ठुमरियों और दादरों के ये बोल बिना किसी परिष्कार के पुनः सुसंस्कृत गायक समाज ने संगीत के पुनरुत्थान काल में स्वीकार कर लिये। इस प्रकार के बोलों का अनर्थ तब होता है जब अहिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश की भद्र महिलाएँ ठुमरियों के इन्हीं पदों को सोत्साह गाती हैं।

**संशोधन-परिवर्तन आवश्यक**

आवश्यकता इस बात की है कि ठुमरियों के इन बोलों का पूर्णरूपेण संशोधन एवं परिवर्तन किया जाए। ठुमरियों के रचयिता अच्छे गायक भी रहे हों परन्तु वे कवि निश्चित ही घटिया थे। यदि अच्छे कवियों की कृतियाँ ठुमरियों के माध्यम से सामने आतीं तो वे अच्छी आलम्बन सिद्ध होती। संगीत की महत्ता इस दृष्टि से आज की हिन्दी कविता तो कम से कम नहीं ही स्वीकारती। जिस माध्यम से भक्तिकालीन कवियों की अनेक कृतियाँ जन-मानस में उतरीं, उसका महत्त्व रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पहचाना था। इसीलिए भले ही उन्होंने शास्त्रीय संगीत को तोड़-मरोड़कर 'रवीन्द्र संगीत' को जन्म दिया हो पर उनकी काव्यकृतियाँ उस माध्यम से बंगाल के हर घर तक सरलता से पहुँचने में समर्थ हुईं। हिन्दी काव्य में ठुमरी में गाने योग्य गीत लिखे ही न गये हों, ऐसी बात नहीं है। परन्तु वस्तुतः गायकों का अर्धशिक्षित समाज न तो इतना प्रबुद्ध था और न इतना चेतन ही कि वह स्वयं उन्हें चुने और बदले। उसे यह भी नहीं ज्ञात है कि वह गाना गाता ही क्यों है। उसके संगीत की परिक्रमा म्यूजिक कान्फ्रेंसों, आकाशवाणी के कार्यक्रमों और संगीत नाटक अकादमी के पुरस्कारों तक ही सीमित है या उसका और भी कोई गन्तव्य है? इस चेतना के अभाव में वह ठुमरी के बोलों को भी कोई महत्त्व नहीं देता। चाहे पिया के साथ रंगरेलियाँ करना हो या उससे भी उथला अथवा गहरा मन्तव्य हो, उन्हें मात्र एक 'परफॉरमेंस' से मतलब रह गया है जिसके बाद उन्हें अपने पैसे तत्काल मिलने चाहिए।

ठुमरी गायन इस कला का ही एक विशेष अंग नहीं है, वह जीवन के प्रति एक नयी मानवीय दृष्टि है। उसका स्वरूप शास्त्रीय संगीत एवं काव्य से लोकोत्तर आनन्द की सृष्टि करता है, उसे मुखरित करता है। सूक्ष्मतम भावों का तात्कालिक प्रभाव समुपस्थित करता है। ठुमरी की वही शक्ति इस समय सो गयी है। इसी कारण वह अपने मूल उद्देश्य से दूर हट गयी है। संगीत के आचार्यों ने इस माध्यम को मानवीय संवेदनाओं का अधिक सूक्ष्म वाहन बनाने की चेष्टा की, किन्तु आज जब उसके उस सामर्थ्य की सबसे अधिक आवश्यकता है, हमारा गायक समाज उसे बिलकुल ही भुला बैठा है। ठुमरी ने शास्त्रीय संगीत को बन्धनों से मुक्ति देकर लोकमानस के निकट खींचा था। जनरुचि और शास्त्रीय संगीत के बीच की खाई को पाटने के लिए इस माध्यम का पुनः आकलन करना वांछनीय होगा।

**(भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'विस्मृत निबन्ध' से)**

जानकीप्रसाद शर्मा

# ग़ालिब की फ़ारसी मस्नवी 'चिराग़-ए-दैर'

**ग़ालिब अपनी रचनाशीलता** की बाबत इस मुक़ाम से बोलते हैं :

**रग-ए-संगम शरारे मी नवीसम**
**क.फ़-ए-ख़ाक़म ग़ुबारे मी नवीसम**

अर्थात् मैं पत्थर की रग हूँ, चिनगारियाँ मेरे क़लम से निकलती हैं। मुट्ठी भर ख़ाक हूँ, दिल का ग़ुबार लिख रहा हूँ। (अनुवाद ज़ोय अंसारी) उनके यहाँ अगर प्रखर अनुभूति की चिनगारियाँ हैं, तो गहन विषाद का ग़ुबार भी है। और इनके दरमियान जीवन के कितने ही रंग-रूप। उनके पास वह संवेदनशील मन है जो पत्थर की रग को महसूस कर सकता है। यह हैं 'चिराग़-ए-दैर' के ग़ालिब।

ग़ालिब की फ़ारसी मस्नवी 'चिराग़-ए-दैर' उनकी कलकत्ता यात्रा की देन है। यह यात्रा उनके पेंशन प्रकरण की दृष्टि से भले निष्फल रही हो, लेकिन भारतीय साहित्य के लिए इसकी एक असाधारण उपलब्धि 'चिराग़-ए-दैर' को माना जाता है। अक्सर यह कहा जाता है कि ग़ालिब के लिए यह यात्रा देश के एक बड़े हिस्से के जन-जीवन को निकट से देखने-समझने का निमित्त साबित हुई। इसने उनके सोच पर एक नये दरीचे को खोल दिया।



प्रामाणिक स्रोतों से प्राप्त विवरणों के अनुसार ग़ालिब ने दिसम्बर 1826 में पेंशन के सिलसिले में कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया। वे कानपुर, लखनऊ, बाँदा, इलाहाबाद, बनारस और मुर्शिदाबाद होते हुए 21 फरवरी, 1828 को कलकत्ता पहुँचे। हस्बे ज़रूरत किराये की पालकी, बैलगाड़ी, नाव और घोड़े की सवारी करते हुए यह सफ़र तय हुआ। ग़ालिब ने पाँच-छह महीने बीमारी की हालत में लखनऊ में गुज़ारे। वहाँ से उन्होंने अपने एक प्रशंसक मौलवी मुहम्मद अली सदर अमीन बाँदा को अपने अहवाल बयान करते हुए फ़ारसी में एक पत्र लिखा। मौलवी साहब ने उन्हें बाँदा बुला लिया। कुछ महीनों के आराम के बाद वहाँ से इलाहाबाद

पहुँचे। 28 नवम्बर, 1827 को इलाहाबाद से नाव पर सवार हुए और 1 दिसम्बर, 1827 को नाव बनारस के घाट पर जाकर लगी। सर्दी की मुलायम धूप में गंगा की लहरों के बीच चार दिन का नौका विहार ग़ालिब के लिए एक रोमांचक अनुभव था। इस अनुभव को 'चिराग़-ए-दैर' की रचना-प्रक्रिया का पहला क्षण कहा जा सकता है।

ग़ालिब का बनारस में 29 दिन क़याम रहा। क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार ने अपने 'ग़ालिब' उपन्यास में लिखा है : ''एक सुबह वह सोच रहा था कि अगर कलकत्ते की मुहिम सर हो जाये तो यहीं-कहीं एक कुटिया बनाकर बाक़ी उम्र गंगा के किनारे गुज़ार दे।''[1] यह सवाल उठ सकता है कि बनारस में बस जाने का ग़ालिब का यह ख़याल कथाकार की कल्पना है या इसके पीछे कोई तथ्यात्मक साक्ष्य है? ख़ैर, वास्तविकता जो भी हो, लेकिन गहन अवसाद की मन:स्थिति में बनारस की फ़िज़ा ने उनके भीतर एक नयी स्फूर्ति का संचार किया कि शे'रों के एक सौ आठ चिराग़ जल उठे। यानी कि यह मस्नवी।

यह मस्नवी 'कुल्लियात नज़्मे-ग़ालिब फ़ारसी' (मुंशी नवल किशोर, लखनऊ, 1968 ई.) में पृष्ठ 358 से 364 तक शामिल है, जिसका सम्पादन प्रो. अमीर हसन नूरानी ने किया है। अब तक इसके पाँच उर्दू अनुवाद हो चुके हैं, जिनमें ज़ोय अंसारी, अली सरदार जाफ़री और कालीदास गुप्ता 'रज़ा' के अनुवाद गद्य में हैं, और अख़्तर हसन व हनीफ़ नक़्वी ने मंज़ूम तर्जुमे (काव्यानुवाद) किये हैं। प्रो. सादिक़ ने मूल सहित उक्त पाँचों अनुवाद 'मस्नवी चिरागे-दैर मय पाँच तराजिम'[2] (उर्दू अकादमी दिल्ली, 2015 ई.) किताब के रूप में एक भूमिका के साथ सम्पादित कर दिये हैं। भूमिका के अन्त में उन्होंने तीन अन्य अनुवादों का उल्लेख भी किया है।

फ़ारसीदानों की राय में यह मस्नवी न सिर्फ़ ग़ालिब बल्कि भारतीय फ़ारसी कविता में एक बुलन्द मुक़ाम रखती है। इसका विषय तो रिवायत से हटकर है ही, भावोत्कर्ष और कल्पनाप्रवणता की दृष्टि से यह बेजोड़ है। वैसे भी ग़ालिब अपने फ़ारसी कलाम को उर्दू दीवान से श्रेष्ठतर समझते थे। प्रो. अलीम अशरफ़ के अनुसार, ''ग़ालिब को हम हिन्दुस्तानी फ़ारसी शाइरी के गुलदस्ते के चार ख़ुशनुमा फूलों में चौथा शुमार कर सकते हैं जिनका नम्बर हज़रत अमीर ख़ुसरो, फ़ैज़ी और 'बेदिल' के बाद आता है।''[3] रचनाकालक्रम के हिसाब से यह बात दुरुस्त है, पर ग़ालिब तो ईरान के महान शाइरों से होड़ लेते थे। इसे आत्मश्लाघा कहें या आत्मविश्वास, ग़ालिब स्वयं को हाफ़िज़ (1309-1374 ई.) से कम नहीं आँकते थे, अस्तु।

फ़ारसी और उर्दू में मस्नवी की सुदीर्घ परम्परा रही है। मौलाना' जलालुद्दीन रूमी (1187-1255 ई.) की मस्नवी विश्वप्रसिद्ध है। उर्दू में मीर हसन की 'सहरुल बयान', दयाशंकर 'नसीम' की 'गुलज़ारे-नसीम' और मिर्ज़ा शौक़ लखनवी की 'ज़हर-ए-इश्क़' के बारे में सब जानते हैं। जैसा कि प्रतीत होता है, 'चिराग़-ए-दैर' में ग़ालिब ने मस्नवी के पारम्परिक स्वरूप को अपने ढंग से बरता है। मस्नवी क्या है, इसके बारे में विद्वानों की राय जान ली जाये। अल्लामा अख़्लाक़ देहलवी ने लिखा है: ''वह नज़्म जिसके हर शे'र के दोनों मिसरों में क़ाफ़िया हो। यह विधा तवील क़िस्सों के लिए मौज़ूँ समझी जाती है।''[4] प्रो. एहतिशाम हुसैन ने मस्नवी को इस तरह परिभाषित किया है: ''लम्बी क्रमिक कविता जिसमें कोई कहानी कही गयी हो या एक ही विषय पर विचार प्रकट किये गये हों, मस्नवी कहलाती है। यह हिन्दी के प्रबन्धकाव्य से मिलती-जुलती चीज़ है।''[5] यह स्पष्ट है कि मस्नवी के लिए एक विषय की केन्द्रीयता या किसी क़िस्से का होना लाज़िमी है। 'चिराग़-ए-दैर' में एक विषय की केन्द्रीयता तो है, लेकिन कथा-तत्त्व बहुत क्षीण है, अनुभूति तत्त्व ज़्यादा प्रभावशाली है। पर यह मस्नवी है तो किसी न किसी वाक़िए का समावेश तो होना ही था। एक सौ आठ में से अन्तिम कुछ शे'रों में एक संक्षिप्त-सा वाक़िआ आता है जो इस रचना को मस्नवी बनाता है। शाइर की भेंट आसमानी गर्दिशों (ग्रह-नक्षत्रों की गति) का रहस्य जाननेवाले एक बुज़ुर्ग से होती है। उसके मन में कुछ जिज्ञासाएँ जागती हैं:

**शबे-पुरसीदम अज़ रौशन बयाने**
**ज़े गर्दिशहाए-गर्दूं राज़ दाने**

एक रात मैंने एक रौशन बयान से जो आसमानी गर्दिशों के राज़ जानता था, पूछा। (अली सरदार जाफ़री) क्या पूछा यह देखिए :

**बिरादर बा बिरादर दर सितीज़स्त**
**व फ़ाक़ अज़ शशजहत रू दर गुरेज़स्त**

भाई-भाई से उलझा हुआ है, मेल-जोल सारी दुनिया से उठ चुका है। सितीज़ यानी लड़ाई-झगड़ा। ग़रज़ यह कि इंसानी समाज के इतने पतन के बावजूद अब तक क़यामत क्यों नहीं आई है? यह शे'र अपने समय के प्रति ग़ालिब की जागरूकता को भी संकेतित करता है। यह सम्भव ही नहीं है कि यहाँ आत्मगत और वस्तुगत कारणों से जारी सामाजिक अध:पतन की प्रक्रिया का उनकी चेतना पर दबाव न रहा हो। आदमी कहाँ जा रहा है, इसका संकेत वे अपने एक उर्दू शे'र में ख़ुद को 'आदमी का काटा हुआ' कह कर दे चुके हैं। (डरता हूँ आदमी से कि मर्दुम गज़ीदा हूँ)

हम शाइर के क़यामत से सम्बन्धित प्रश्न पर आते हैं। वह बुज़ुर्ग गंगा और आसपास की वादियों की ओर उँगली से संकेत करते हुए इस प्रश्न का उत्तर देते हैं :

**कि हक़्क़ा नीस्त साने' रा गवारा**
**कि अज़ हम रेज़द ईं रंगीं बनारा**

अख़्तर हसन इसका उर्दू काव्यानुवाद इस तरह करते हैं:

**इसे देखो ये शहरे-नूरो-निक्हत, ये हसीं वादी**
**नहीं सन्ना-ए-फ़ितरत को गवारा इसकी बर्बादी**

भाव यह है कि प्रकृति के स्रष्टा को बनारस की इन रंगीन वादियों को नष्ट करना गवारा नहीं है, अन्यथा क़यामत तो कब की आ चुकी होती। यह स्रष्टा की अपनी सुन्दर सृष्टि के प्रति आसक्ति है। यह गंगा के परिवेश का अप्रतिम सौन्दर्य है जो क़यामत को रोके हुए है। दुर्भाग्य से अगर क़यामत आती तो सारी सृष्टि के साथ बनारस भी फ़ना हो जाता। बुज़ुर्ग से उपयुक्त उत्तर पाकर ग़ालिब ने इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दिया है।

मस्नवी का आरम्भ गहन उद्विग्नता और अन्यमनस्कता के भावों के साथ होता है। वे जिन हालात के बीच घिरे हैं, उन्हें ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहे हैं। ऐसे हालात जिनमें साँस भी क़यामत के दिन फूँके जानेवाले सूर (बिगुल) की तरह लगती है। 'हम वहाँ हैं जहाँ से हमको भी / कुछ हमारी ख़बर नहीं आती' जैसी कैफ़ियत है। मस्नवी का पहला शे'र देखें :

**नफ़स बासूर दमसाज़स्त इमरोज़**
**ख़मोशी महशरे-राज़स्त इमरोज़**

आज मेरी नफ़स (साँस) सूरे-क़यामत की हम आवाज़ है और मेरी ख़ामोशी गोया मैदाने-हश्र है जिसमें राज़ छुपे हुए हैं। (अली सरदार जाफ़री)

इस शे'र में असाधारण अर्थ गर्भत्व है। इसका मतलब हम पर पूरी तरह से खुल नहीं पाता। क्योंकि इसमें शाइर की जो मनःस्थिति है उसे अनुवाद की भाषा में स्वायत्त करना टेढ़ी खीर है। अली सरदार जाफ़री ने अपने एक भाषण में उचित ही कहा है, ''इस मस्नवी का दर्जा ग़ालिब की शाइरी में ख़ासा बुलन्द है। फ़ारसी ज़बान के ऐतिबार से इसमें बहुत मुश्किल मुक़ामात है जिनसे गुज़रना आसान काम नहीं है और गद्य में तो इसका तर्जुमा हो ही नहीं सकता। बहुत से अशआर ऐसे होते हैं जिनका तर्जुमा हो ही नहीं सकता...।''[6]

शुरू के कुछ शे'रों से दिल्ली को ख़ैरबाद कहने की मनोदशा का पता चलता है। दिल्ली शहर उनकी साँसों में बसा हुआ था। इस शहर ने उन्हें गर्दिशें दीं और इन गर्दिशों ने उनकी शाइरी में ज़िन्दगी के हज़ारहा रंग-रूपों को नुमायाँ कर दिया। कुछ अर्से के लिए यह शहर छोड़ने पर उनकी प्रतिक्रिया देखिए:

**ज़े देहली ताबरूँ आवर्दः बख़्शाम**
**बा तूफ़ाने-तग़ाफ़ुल दादः रख़्तम**

अर्थात् जब मेरी क़िस्मत मुझे दिल्ली से बाहर निकालकर ले आयी तो मेरे सरो-सामान को उपेक्षा के तूफ़ान के हवाले कर दिया। यानी मुझे बिल्कुल भुला दिया गया।

उनके उस दौर के उर्दू शे'रों में भी दिल्ली के आत्मीय जनों से बिछोह की पीड़ा झलकती है— 'हिज्रे-याराने-वतन का भी अलम है हमको।' ध्यान देने योग्य बात यह है कि बनारस पहुँचने पर हिज्रे-याराने-वतन का अलम उनके दिल से निकल जाता है और वे स्वयं को बनारस की स्तुति के लिए समर्पित कर देते हैं।

'चिराग़-ए-दैर' का मूल प्रतिपाद्य बनारस के सांस्कृतिक सौन्दर्य का निरूपण है। फ़ारसी शाइरी में बनारस का सबसे पुराना सन्दर्भ मुल्ला तुग़रा मशहदी के यहाँ मिलता है। तुग़रा सत्रहवीं सदी में मशहद (ईरान) से भारत आये और शाहजहाँ के बेटे मुराद बख़्श के दरबार से सम्बद्ध हुए। उन्होंने बनारस की प्रशंसा में कुछ शे'र कहे हैं, मसलन :

**हुस्ने-बुतरा सैर कर्दम, ज़ौक़हा दर दैर कर्दम**
**नक़्दे ईमाँ ख़ैर कर्दम, पेशे-दरबाने-बनारस**

अर्थात् मैंने बनारस के बुतों की ख़ूब सैर की है। यहाँ के मन्दिरों को देखकर मेरे भीतर ज़ौक़ पैदा हो गया, यानी मुझे आनन्द की अनुभूति हुई। मैंने अपने ईमान की दौलत को बनारस पर न्यौछावर कर दिया।

दूसरा नाम शेख़ अली हज़ीं (1692-1769 ई.) का है। हज़ीं बादशाह शाह आलम सानी के ज़माने में इस्फ़हान से बनारस आये और यहीं के हो रहे। उन्होंने अपने कई फ़ारसी शे'रों में बनारस के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। बतौर बानगी कुछ शे'र :

**परीरुख़ाने-बनारस बसद करिश्मओ-रंग**
**पई परस्तिशे-महादेव यूँ कुनन्द आहंग**
**ब गंग ग़ुस्ल कुनंद व संग पा मालंद**
**ज़ही शराफ़ते-संग व ज़हे लताफ़ते-गंग**

अर्थात् बनारस के परीरुख़ अपनी सुन्दरता के रंगारंग करिश्मों के साथ महादेव की आराधना के लिए आगे बढ़ते हैं। पहले गंगास्नान करते हैं, अपने पैरों को पत्थर से रगड़ कर स्वच्छ करते हैं। धन्य है उन पत्थरों की पवित्रता और धन्य है वह गंगा का लालित्य।

**अज़ बनारस न रवम माबिदे-आम ईं जा**
**हर बरहमन पिसर लछमन-ओ-राम ईं जा**

अर्थात् मैं बनारस से कहीं नहीं जाऊँगा। यह तो एक आम इबादतगाह है। यहाँ हर बरहमन का बेटा राम और लक्ष्मण के समान लगता है। 'बरहमन' शब्द यहाँ वर्ण या जाति सूचक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। इसका अर्थ एक सामान्य श्रद्धालु या आराधक लेना चाहिए।

'चिराग़-ए-दैर' की रचना के दौरान ग़ालिब के अवचेतन में

मुल्ला तुग़रा मशहदी और शेख़ अली हज़ीं ज़रूर रहे होंगे। वजह यह है कि ग़ालिब ईरानी व हिन्दुस्तानी फ़ारसी शाइरी की परम्पराओं से गहरी वाबस्तगी रखते थे। तुग़रा और हज़ीं के अदबी कारनामों से उनकी अभिज्ञता स्वाभाविक है।

फ़ारसी की सूफ़ी धारा की शाइरी में विभिन्न धर्मों की बुनियादी एकता की ज़मीन पर श्रेष्ठ मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा पर बल दिया गया है। उनका ध्यान संस्कृतियों के अन्तरावलम्बन पर रहा है। संस्कृतियों के जीवित रहने का अर्थ ही यह है कि उनके बीच लेन-देन की प्रक्रिया जारी रहती है। हिन्दी सन्त कवियों की तरह फ़ारसी के सूफ़ी शाइरों की नज़र इस ओर गयी जिसके परिणामस्वरूप पारम्परिक भारतीय संस्कृति और उसके प्रतीकों (जैसे बनारस) को अपनी शाइरी का विषय बनाया। समन्वित संस्कृति की ज़मीन हमवार हुई। सूफ़ी शाइरी की इस विरासत का अनुरणन 'चिराग़-ए-दैर' में भी सुना जा सकता है।

'चिराग़-ए-दैर' बनारस के इतिहास-भूगोल, आर्थिक जीवन और राजनीतिक हालात का लेखा-जोखा नहीं है। इसके कालजय रचना होने का सबब ही यह है कि इसमें तथ्यों के बजाय सर्जनात्मक कल्पना का वैभव ज़्यादा भास्वर है। दरअस्ल यह ग़ालिब के सेक्युलर नज़रिए का आईनादार है। इस रचना में आये सांकेतिक विवरणों के अलावा बनारस में और भी बहुत कुछ रहा होगा। महत्त्व इस बात का है कि ग़ालिब ने जिस ज़ेहनी सतह से बनारस को देखा, उन्हें मनुष्य के आत्मविस्तार व आत्मोत्कर्ष की सम्भावनाओं से भरा हुआ वातावरण नज़र आया। यहाँ मुक्तिबोध के 'डबरे पर सूरज का बिम्ब' निबन्ध को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि बाह्य वास्तविकता के जितने अंश ने उन्हें संवेदित किया, सिर्फ़ उसी का प्रतिबिम्ब इन शे'रों में झलकता है।

उन्नीसवीं सदी के तीसरे दशक में 'सेक्युलरिज़्म' पद हमारे यहाँ किसी सामाजिक विमर्श में व्यवहृत नहीं था। उस दौर में राजा राममोहन राय (1772-1833) धार्मिक पाखंड के विरोध और तार्किक शिक्षा के पक्ष में ब्रह्म समाज के मंच से आवाज़ उठा रहे थे। इसके अलावा इस समय तक हिन्दू या मुस्लिम समुदाय में कोई प्रभावशाली आन्दोलन नहीं था। अतएव न तो ग़ालिब का सेक्युलर नज़रिया किसी सामयिक आन्दोलन से प्रेरित था और न ही तसव्वुफ़ या वेदान्त की तरह यह कोई दर्शन था कि जिसे वे किताबों के ज़रिए आत्मसात् करते। यह नज़रिया उनकी इंसान दोस्ती और एक ख़ास क़िस्म के आभिजात्य के बावजूद उनकी सहिष्णु स्वभाव की उपज था। जैसा कि उनके निजी व्यवहार और आत्मीय जनों को लिखे पत्रों से मालूम होता है, वे हर तरह के मज़हबी व क़ौमी पक्षपात से ऊपर उठ चुके थे। ग़ालिब की फ़िक्र में धर्म-सम्प्रदाय और मज़हबो-मिल्लत के विभेद को न सिर्फ़ जगह नहीं है, बल्कि वे इनकी सत्ता को ग़ैर ज़रूरी मानते हैं। अगर वे यह कहते हैं कि 'बेदरो-दीवार-सा इक़ घर बनाया चाहिए' तो वे एक ऐसे समाज की कल्पना कर रहे हैं जिसमें लोगों को बाँटने वाली दीवारें नहीं होंगी।

इस रचना का शीर्षक ही ग़ालिब की रौशन फ़िक्री का परिचायक है। 'चिराग़-ए-दैर' यानी देवालय के दीप के आलोक में वे पूरे बनारस को देखते हैं। यहाँ की हर शै रौशन हो उठती है। अपने अन्तर्मन का अँधेरा भी छँटता जाता है। इस दीप के माध्यम से हमारी तवज्जो 'मीर' की तरफ़ चली जाती है :

**उसके फ़रोग़े-हुस्न से झमके है सब में नूर**
**शम्मे-हरम हो या कि दिया सोमनात का**

—मीर

काबे की शम्अ और सोमनाथ का दीया 'उसके' सौन्दर्य से ही आलोकित हैं। मीर की यही भावभूमि चिराग़-ए-दैर में विस्तार पाती प्रतीत होती है। अली सरदार जाफ़री ने अपने अनुवाद में मीर के इसी शे'र को ध्यान में रखा है और इसे 'ग़ालिब का सोमनात ख़याल' नाम दिया है।

अब हम ग़ालिब के उस शे'र पर नज़र डालते हैं जिसे उनके मानसिक क्षितिज के विस्तार और सेक्युलर नज़रिए के लिए सर्वाधिक उद्धृत किया जाता है :

**इबादत ख़ानए-नाक़ूसियानस्त**
**हमाना काबए-हिन्दोस्तानस्त**

हनीफ़ नक्वी का उर्दू काव्यानुवाद देखिए :

**इबादतख़ानए-नाक़ूसियाँ है**
**ये गोया काबए-हिन्दोस्ताँ है**

अर्थात् बनारस शंख बजाने वालों का उपासना-स्थल है। निश्चय ही यह हिन्दुस्तान का काबा है। नाक़ूस यानी शंख।

अँग्रेज़ी व फ़ारसी विद्वान शफ़ी शौक़ ने 'चिराग़-ए-दैर' मस्नवी का Temple lamp नाम से अनुवाद किया है। उन्होंने नाक़ूसियान (शंख बजानेवाले) से Music-lovers अर्थ लिया है :

It is the place of worship for the music-lovers
surely it is the Mecca of Hindustan.[7]

ग़ालिब ने मन्दिरों में आरती के समय शंखध्वनि सुनी होगी। श्रद्धालुओं की तन्मयता को देखकर उन्हें लगा होगा, यह अनिर्वचनीय अनुभूति काबे की तरह है। यहीं से बनारस और काबे में सादृश्य का ख़याल उनके मन में आया होगा। यहाँ शंख बजाने वालों का लक्ष्यार्थ हिन्दू है। अगर वे सीधे-सीधे हिन्दुओं का इबादतख़ाना कहते तो यह ग़ालिब की कविता न रह जाती।

सब जानते हैं कि काबा अहले-इस्लाम के मुक़द्दस (पवित्र) मुक़ाम का नाम है जो कि मक्का में स्थित है और जहाँ हर साल हज होता है।

यहाँ हमें ग़ालिब जैसी ही उदग्र चेतना के कवि कबीर अनायास याद आ जाते हैं। स्थापित सत्य के प्रति संशय दोनों को क़रीब ले आता है। ग़ालिब को गंगा किनारे काबे का आभास हुआ और कबीर को गोमती किनारे काबा नज़र आया। एक पद की आरम्भिक दो पंक्तियाँ हैं :

**हज हमारी गोमती तीर**
**जहाँ बसे पीताम्बर पीर**

ग़ालिब के यहाँ काबे की किसी अन्य धर्म के तीर्थ स्थान से बराबरी महज़ एक शाइराना ख़याल नहीं है। न ही इसे काव्यरूढ़ि समझना चाहिए। निश्चित ही उपनिवेशवाद के दौर में काबे और काशी के बीच बँटते हुए अवाम की दुरवस्था का कुछ न कुछ एहसास उन्हें रहा होगा। उनकी कविता सामयिक प्रतिक्रिया की कविता नहीं थी। इसलिए एक अवसर विशेष पर किसी बहाने यह एहसास अभिव्यक्ति पा ही जाता था, जैसा कि यहाँ हुआ है।

इस रचना में कुछ शे'र ऐसे भी हैं जिन्हें देखकर कहा जा सकता है कि ग़ालिब को काशी से सम्बन्धित जनश्रुतियों का इल्म था, भले ही वह इस एक माह के प्रवासकाल में हुआ हो। भक्तिकाव्य में ऐसे अनेक सन्दर्भ भरे पड़े हैं जिनसे मालूम होता है कि काशी में देह त्यागने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यहाँ तक कि कबीर काशी में मोक्ष की धारणा से सहमत न होते भी इसका उल्लेख ज़रूर करते हैं— 'अब कहु राम कवन गति मोरी/तजिले बनारस मति मई थोरी।' ग़ालिब बनारस की महिमा का इस तरह बखान करते हैं :

**कि हर कस काँ दराँ गुलशन बमीरद**
**दिगर पैवन्द जिस्माने— न गीरद**

'कि बनारस के गुलशन में जो आता है, वो दोबारा जिस्मानी पैकर (शरीर) अख़्तियार नहीं करता। वह दोबारा पैदा नहीं होता।' (अली सरदार जाफ़री) अर्थात् जो काशी में आकर देह त्याग देता है, वह जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

नि:सन्देह यहाँ ग़ालिब किसी अतार्किक धारणा का समर्थन नहीं कर रहे हैं, बल्कि लोक विश्वास का सम्मान कर रहे हैं। दरअसल वे यह कहना चाहते हैं कि लोग ऐसा मानते हैं। इतना ही नहीं अगले शे'र में कहते हैं :

**चमन सरमाया-ए-उम्मीद गर्दद**
**ब मुर्दन ज़िन्दा-ए-जावेद गर्दद**

अपने वतन की धरती से हार्दिक लगाव की जो बात कही गयी है, उसकी जीती-जागती मिसाल यह रचना है। यह अलबत्ता है कि यह लगाव एक शहर यानी बनारस के सन्दर्भ से व्यक्त हुआ है। अस्ल बात तो यह है कि ग़ालिब का रचना-विवेक भारतीय सांस्कृतिक परिवेश की उपज है। ईरान या तूरान से इसकी कोई संगति नहीं बैठती। त्रिलोचन अगर यह कहते हैं तो इसका एक मतलब है : 'ग़ालिब ग़ैर नहीं हैं, अपनों से अपने हैं।'

'यह चमन (शहर बनारस) उसकी उम्मीदों का सरमाया बन जाता है और इस चमन में मरकर वह ज़िन्दा जावेद बन जाता है। (अली सरदार जाफ़री) अर्थात् व्यक्ति इस शहर में मर कर भी अमर हो जाता है। ज़िन्दा-ए-जावेद यानी अमर।

जब वे गंगा किनारे मस्तों की टोलियाँ देखते हैं तो इसकी कैफ़ियत यों बयान करते हैं :

**सवादश पाए-तख़्ते-बुतपरस्ताँ**
**सरापा बेश ज़ियारतगाहे-मस्ताँ**

यह बस्ती बुतपरस्तों की राजधानी है और सारे का सारा शहर मस्तों की ज़ियारतगाह है। (अली सरदार जाफ़री) 'मस्त' शब्द यहाँ दीन-दुनिया से बेख़बर लोगों के लिए आया है, यानी निस्पृह।

एक भारतीय कवि के रूप में बनारस की प्रशंसा करते हुए ग़ालिब स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। इसमें उन्हें अपने सुख़न (काव्य, कथन) की सार्थकता नज़र आती है :

**सुख़न का नाज़िशे-मीनू क़िमाशी**
**ज़े गुलबांगे-सताइशहाए-काशी**

अख़्तर हसन ने एक उर्दू शे'र में इसे इस तरह ढाला है :

**मेरे ज़ौक़े-सुख़न को नाज़ है उसकी सताइश पर**
**मेरे अशआर में शामिल है उसके हुस्न का जौहर**

शहर के हुस्न का जौहर दिखाने वाले ग़ालिब वहाँ के परीवशों का ज़िक्र और बयान क्यों न करते? मन्दिरों में शिव-पार्वती की पूजा-अर्चना करतीं तरुण युवतियों ने भी ग़ालिब का ध्यान खींचा है। इस प्रकार के शे'र सन्दर्भ से विच्छिन्न होकर भी अर्थवान बने रहते हैं। इन्हें एक दार्शनिक आयाम से युक्त श्रेष्ठ क्लासिकल

शाइरी की श्रेणी में रखा जा सकता है जिस में ईहाम (द्वि अर्थकता) का तत्त्व होता है। बुतपरस्त सिर्फ़ मूर्तिपूजक न रहकर आशिक़ या माशूक़ का अर्थ देने लगता है। इस नौईयत का एक शे'र है :

**ज़े ताबे-जल्वए-ख़्वेश आतिश अफ़रोज़**
**बुताने बुतपरस्त-ओ-बरहमन सोज़**

वो हसीनाने बुतपरस्त अपने जल्वे की ताब से आग भड़का देने वाले हैं, और बरहमन तक को इश्क़ की आग में जला डालने वाले हैं। (कालीदास गुप्ता 'रज़ा') यह अग्निधर्मी सौन्दर्य है। व्यंजना यह है कि पूजा में लीन रमणियों का जल्वा संन्यासियों के मन में भी राग उत्पन्न कर देता है। ये जब अपनी मोहक अदाओं के साथ जल-क्रीडा करती हैं तो इससे गंगा की तरंगों का मान बढ़ता है:

**रसांदः अज़ अदाए-शुस्त-ओ-शूए**
**ब हर मौजे-नवेदे-आबरूए**

**परी पैकर बनारस के जो गंगा में नहाते हैं**
**वो आबरू हर मौजे-गंगा की बढ़ाते हैं**

(अख़्तर हसन)

उनके नहाने से पानी में जो बिम्ब बनता है, इसकी अद्भुत अक्कासी की है ग़ालिब ने:

**फ़ताद: शोरिशे-दर क़ालिबे-आब**
**ज़े माही सद दिलश दर सीनः बेताब**

'क़ालिबे-आब' (पानी का जिस्म) का मुहावरा अश्रुतपूर्व है। स्नान करती हुई रमणियाँ ऐसी लगती हैं मानो गंगा के जल में मछलियाँ किलोलें कर रही हों। उनकी चंचलता से पानी के जिस्म में हलचल मच जाती है और सीने में सैकड़ों दिल मछलियों की तरह तड़प उठते हैं।

ग़ालिब को बनारस एक मुग्धा नायिका की भाँति लगता है जो गंगा रूपी दर्पण को हाथ में लेकर अपने रूप को निहारती रहती है। कुछ 'आप आपुही आरसी लखि रीझति रिझवारि' जैसी स्थिति है:

**मगर गोई बनारस शाहिदे-हस्त**
**ज़े गंगश सुब्हो-शाम आइनः दर अस्त**

यूँ कहो कि गोया बनारस एक दिलरुबा हसीना है जिसके हाथ में सुबह-शाम सिंगार के लिए गंगा का आईना रहता है। 'शाहिद' का व्युत्पत्तिपरक अर्थ साक्षी होता है। यहाँ सुन्दर स्त्री के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

अब सायंकालीन आरती के दृश्य पर आईए। ऊँचे-ऊँचे मन्दिरों में दीप प्रज्जवलित हैं। इनका प्रतिबिम्ब गंगा के जल में पड़ता है। ग़ालिब इसका चित्र खींचते हैं :

**ब गंगश अक्स ता परतो फ़ुगन शुद**
**बनारस ख़ुद नज़ीरे-ख़्वेश्तन शुद**

जब गंगा के पानी में उसका अक्स पड़ा तो बनारस अपनी नज़ीर (मिसाल) ख़ुद आप बन गया। इस नज़ारे को हम 'तरल चित्रसारी' कह सकते हैं। (इस पद का प्रयोग जयशंकर प्रसाद ने 'पेशोला की प्रतिध्वनि' कविता में किया है।)

गंगोर्मियों के बिम्ब के ज़रिए प्रकृति में मानवीय भावों की प्रतिष्ठा की एक मिसाल देखिए। ग़ालिब की कल्पना है कि घाट पर मौजूद कुछ लोग गंगा की जलराशि के सौन्दर्य निरूपण हेतु भिन्न-भिन्न उपमाएँ तज्वीज़ कर रहे हैं। किसी ने कह दिया कि बनारस सुन्दरता में चीन के समान है। यह उपमा बनारस को बहुत नागवार गुज़री। गंगा रुष्ट हो गयी। आज तक गंगा की तरंगें उसके माथे का बल बनी हुई हैं। भाव यह है कि गंगा को अपने सौन्दर्य का अवमूल्यन कहाँ बर्दाश्त! शे'र यों है :

**बनारस रा कसे गुफ़्ता कि चीनस्त**
**हनोज़ अज़ गंग चीनश बर जबीनस्त**

संस्कृत एवं फ़ारसी विदुषी डॉ. नाहीद आबिदी ने इसका बहुत ही ललित काव्यानुवाद किया है। इसका लुत्फ़ भी लेते चलिए:

**स्वोपमा चीनदेशेन कृतां श्रुत्वा रुषान्विता**
**गंगोर्मिभृकुटिंग भाले दधात्यद्यापि काशिका[8]**

यह उल्लेखनीय है कि आबिदी 'चिराग़-ए-दैर' के पूरे एक सौ आठ शे'रों का संस्कृत काव्यानुवाद 'देवालयस्य दीप:' नाम से कर चुकी हैं, और यह राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली से 2007 में प्रकाशित हो चुका है।

'चिराग़-ए-दैर' को पढ़ते हुए हमारा ध्यान उनकी एक अन्य फ़ारसी कविता की ओर चला जाता है जोकि क़त्ए के फ़ॉर्म में है। इस कविता में बनारस के साथ-साथ दिल्ली, पटना (अज़ीमाबाद) और कलकत्ता की प्रशंसा भी मौजूद है। बनारस से सम्बन्धित शे'र देखिए :

**गुफ़्तमश चीस्त ईं बनारस? गुफ़्त**
**शाहिदे-मस्त, महवे-गुल चीदन**

अर्थात् मैंने पूछा कि और बनारस के बारे में क्या राय है? उसने कहा कि वह फूल चुनने में मगन ख़ूबसूरत प्रेमिका की तरह है।

शम्सुर्रहमान फ़ारूक़ी के अँग्रेज़ी अनुवाद से हम इस शे'र को और गहराई के साथ समझ सकते हैं :

I said : what about
Benaras then?
He said, a sweet

beloved absorbed
in plucking flowers.[9]

यह सच है कि ग़ालिब को अपने तूरानी मूल के होने पर बड़ा गर्व था। जो उन्होंने पढ़ और सुन रखा था, उसे याद करते हुए बहुत नॉस्टैल्जिक हो जाते थे। 'यादगार-ए-ग़ालिब' में हाली ने उनका एक क़त्आ उद्धृत किया है जिसका पहला शे'र है :

**ग़ालिब अज़ ख़ाके-पाके तूरानीम**
**ला जिरम दर नसब फ़रहमंदीम**

अर्थात् ग़ालिब, मेरा रिश्ता तूरान की पाक सरज़मीन से है
इसमें कोई शक नहीं कि नस्ल के ऐतिबार से मेरा कोई मुक़ाबला नहीं कर सकता।

इसी क़त्ए में आगे उन्होंने सगर्व याद दिलाया है कि मैं तुर्क ज़ादा हूँ, मैं ऐबक हूँ, मैं समरक़ंद के ज़मींदारों की औलाद हूँ, आदि। इसके अलावा भी उन्होंने अपने पूर्वजों के मुल्क (जैसे समरक़ंद शहर) का अनेकश: गुणगान किया है। वहीं यह भी सच है कि अपने मुल्क, अपने वतन की सरज़मीन के प्रति उनके मन में गहरा लगाव था। उस मिट्टी से उन्हें बड़ी अक़ीदत थी जिससे उनके व्यक्तित्व का ख़मीर उठा था। यहाँ के लोग, मौसम, जलवायु और संस्कृति के वैविध्य ने उनके वतनपरस्ती के जज़्बे को और सुदृढ़ बनाया। वे यहाँ की एक छोटी नदी (सोहन) को नील, जैहून और फ़रात जैसी बड़ी नदियों से श्रेष्ठतर कह सकते थे। कलकत्ता के आमों के आगे वे स्वर्ग के मेवों को तुच्छ ठहरा सकते थे। कतिपय ग़ालिब विशेषज्ञों की राय है कि इस प्रकार के भाव विशेषत: उनकी फ़ारसी कविता में ज़्यादा मूर्त रूप में प्रकट हो सके हैं। चेक विद्वान डॉ. यान मैरेक (Jan Marek) का कहना है कि : "ग़ालिब ने अपने प्रमुख विषयों पर उर्दू और फ़ारसी दोनों में लिखा। उन्होंने अपने दार्शनिक, धार्मिक, रहस्यवादी और मानवतावादी विचारों का इन दोनों ज़बानों में इज़हार किया, लेकिन कुछ ऐसे भाव हैं जो उनके द्वारा सिर्फ़ फ़ारसी में व्यक्त हो सके। हिन्दुस्तान के प्रति उनका प्रेम, अपने वतन के प्रति हार्दिक लगाव और देशभक्ति व राष्ट्रीयतावादी भावनाएँ यहाँ मेरे ज़ेहन में हैं।"[10] तभी तो ग़ालिब कह उठते हैं : 'हिन्द दर फ़स्ले-ख़िज़ाँ नीज़ बहारे-दारद।' अर्थात् हिन्दुस्तान में पतझड़ के मौसम में भी बसन्त रहता है।

'चिराग़-ए-दैर' को उपर्युक्त पृष्ठभूमि में भी देखने की ज़रूरत है। अपने वतन की धरती से हार्दिक लगाव की जो बात कही गयी है, उसकी जीती-जागती मिसाल यह रचना है। यह अलबत्ता है कि यह लगाव एक शहर यानी बनारस के सन्दर्भ से व्यक्त हुआ है। अस्ल बात तो यह है कि ग़ालिब का रचना-विवेक भारतीय सांस्कृतिक परिवेश की उपज है। ईरान या तूफ़ान से इसकी कोई संगति नहीं बैठती। त्रिलोचन अगर यह कहते हैं तो इसका एक मतलब है : 'ग़ालिब ग़ैर नहीं हैं, अपनों से अपने हैं।'

## सन्दर्भ


1. क़ाज़ी अब्दुस्सत्तार : 'ग़ालिब' (हिन्दी अनुवाद जानकीप्रसाद शर्मा), पृष्ठ 87, प्र.सं. 1985
2. इस लेख में आये उर्दू अनुवाद 'मस्नवी चिराग़-ए-दैर मय पाँच तराजिम' किताब से लिये गये हैं।
3. ज़ाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में 1 फ़रवरी, 2017 को ग़ालिब की फ़ारसी कुल्लियात पर आयोजित अन्तरराष्ट्रीय सेमिनार में पठित प्रो. अलीम अशरफ़ ख़ान का आलेख।
4. अल्लामा अख़्लाक़ देहलवी : 'फ़न-ए-शाइरी' (उर्दू) पृष्ठ 163, संस्करण 1976 ई.
5. सैयद एहतिशाम हुसैन : 'उर्दू साहित्य का इतिहास (हिन्दी संस्करण), पृष्ठ 356, 1954 ई.
6. प्रो. सादिक़ द्वारा सम्पादित 'मस्नवी चिराग़-ए-दैर मय पाँच तराजिम' के पृष्ठ 10 पर उद्धृत।
7. Shafi Shauq : 'Persian Poetry of Mirza Ghalib', Page 101, Ed. 2000.
8. डॉ. नाहीद आबिदी : 'देवालयस्य दीप:', पृष्ठ 118, प्र.सं. 2007 इ.
9. Shamsur Rahman Faruqi : 'The shadow of a bird in Flight', Page 45.
10. Ghalib wrote on his main themes both in Urdu and Persian. He used to express his philosophical, religious, mystical and humanistic views in both these languages. But there are certain kinds of sentiments that were expressed by him in Persian only. Here I have in my mind, his love of India, his affection for his native country, his patriotic and nationalistic feelings.

    -Ghalib Institute's Souvenir on GHALIB's 200th BIRTH ANNIVERSARY : 'Some notes on Ghalib's Persian Poetry' by Dr. Jan Marek.



**मो.: 9811517897**

# कथालोक

*'नयी कहानी' के दौर में निर्मल वर्मा की कहानी 'परिन्दे' ने एक प्रतिमान गढ़ा था और उसे पहली नयी कहानी होने का गौरव हासिल हुआ। निर्मल वर्मा नयी भाषा, शिल्प और भाव-भंगिमा के अप्रतिम कथाकार हैं। उनकी परम्परा में लिखनेवाले चन्द कथाकारों में नरेन्द्र नागदेव का नाम बेहिचक लिया जा सकता है, जिनको भाषा के सम्पुट संयोजन और शिल्पगत बारीकी में कहानी लिखने का माद्दा हासिल है। उनके यहाँ संवेदना एक लय के साथ चलती है और वह कहानी के अन्त तक जारी रहती है। 'हाउस ऑफ लस्ट' कहानी को ही देखें तो लगेगा जैसे वे एक विदेशी परिवेश की चकाचौंध की बारीकियों को तराश रहे हैं, मगर उसमें निहित अविछिन्न भावधारा लगातार क्रियाशील रहकर अपने लक्ष्य का सन्धान करती है। एक वेश्या के जीवन का तथागत की मुद्रा में तब्दील हो जाना—अद्भुत और अकल्पनीय है। नरेन्द्र नागदेव कहानी लिखते नहीं, उसे भरपूर जीते हैं और उसके असल जीवन को पाठक के सामने रखकर तटस्थ हो जाते हैं।*

**नरेन्द्र नागदेव**

## हाउस ऑफ लस्ट

**क्या कहा आपने?** ज्यूरिख शहर आपको भी पसन्द है? दरअसल हम दोनों की पसन्द एक-सी है।...अरे बन्धु, वह तो सपना है, सपना। विस्तृत ज्यूरिख झील के किनारे बसा यह खूबसूरत शहर, जिसके ठीक बीच में कुछ सोचती-सी बहती है लिम्मत नदी, जो लेक ज्यूरिख से झगड़ कर इधर बह निकली है। आप ही की तरह मुझे भी सुकून देता था उसके पुलों पर झुककर नीचे बहती जल-धाराओं को महसूस करना। वह भी उन गुनगुनी शामों में, जब नदी के दोनों ओर बने लाल ढलवाँ छतोंवाले चार-पाँच मंजिला मकानों में बत्तियाँ टिमकने लगती थी, और उनके बीच सिर उठाए चर्चों के बेल टॉवर्स सुनहरी आभा के साथ भक्क से जल उठते थे।

क्या पूछा है आपने? कि मैं वहाँ क्यों गया था? निहायत ही स्वाभाविक प्रश्न है। मैं गया था वहाँ की आध्यात्मिक संस्था 'डिवाईन लिविंग' के वार्षिक सम्मेलन मे भाग लेने। हमारी संस्था 'नचिकेता' उससे सम्बद्ध थी। अन्तरराष्ट्रीय महोत्सव था। विश्व भर से प्रतिनिधि आए थे—नामी दार्शनिक, चिन्तक, विद्वान। उन्हें वहाँ मंथन करना था एक बेहतर दुनिया रचने के लिए। पाप और सन्त्रास से मुक्त सरल, सुखमय रास्ते खोजने के लिए। अँधेरों से उजालों की यात्राओं के लिए।...तमसो मा ज्योतिर्गमय...।

मुझसे पहले पापा जाते रहे थे— 'डिवाईन लिविंग' के सम्मेलनों में ज्यूरिख। उनका बड़ा सम्मान था— वहाँ। इस वर्ष उनकी अस्वस्थता के चलते मुझे मौका मिला था।

अरे, आप मुझे इस तरह हैरानी से मत देखो, बन्धु।

मैं इस पच्चीस वर्ष की उम्र में बहुत कुछ हासिल कर चुका था। योग्यता देखिए, उम्र पर मत जाईये। अब अपनी तारीफ करना अच्छा नहीं लगता, लेकिन लोग कहते हैं कि आध्यात्मिक ज्ञान

**नरेन्द्र नागदेव :** सुपरिचित कथाकार। पेंटिंग के लिए भी चर्चित। नौ कहानी संग्रह और चार उपन्यास प्रकाशित। अँग्रेज़ी, मराठी, उर्दू तथा अन्य भाषाओं में इनकी कहानियों तथा उपन्यासों के अनुवाद भी। दिल्ली में ही कलाकृतियों की छह एकल प्रदर्शनियाँ। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद का कृति पुरस्कार, हिन्दी अकादमी दिल्ली के 'कृति पुरस्कार' तथा 'साहित्यकार सम्मान' से सम्मानित। कला तथा वास्तु कला की कई प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत। व्यवसाय से आर्किटेक्ट। दिल्ली में रहते हैं।

का भरा-पूरा छलकता हुआ गागर था— मैं। अपने शहर की सौ वर्ष पुरानी संस्था 'नचिकेता' का वारिस।

शाम को भाव-विह्वल होकर जब वहाँ प्रवचन देता था ना, तो सरस्वती बसती थी मेरी जिह्वा पर। श्रोता भाव विभोर। उनकी तो आँखें नम हो जाती थीं। कहाँ-कहाँ से श्लोक उद्धृत करता था प्रवचन में और कहाँ-कहाँ से लाता था उद्धरण। वातावरण जैसे महक उठता था।

पापा कहते थे कि यह तो खानदान में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही ज्ञान की परम्परा थी। शहर में नदी है ना? उसके पास घाट है। घाट के पीछे तीन एकड़ ज़मीन में फैली है 'नचिकेता'। चार पीढ़ी पहले के पूर्वज ने स्थापित की थी। तब से जो ज्ञान की गंगा प्रवाहित हुई नचिकेता में, तो अनिवार बहती रही अब तक, झरझराती हुई।

उन पूर्वज का एक बड़ा पेंटिंग अभी तक लगा है— वहाँ। सुनहरी फ्रेम में जड़ा उसी जमाने का मास्टरपीस पेंटिंग। उन्होंने उस जमाने की तत्कालीन रानी का उद्धार किया था। वह सँभाल नहीं पायी थी अपना चरित्र। भटक गयी थी पाप के रास्ते पर। पेंटिंग मे वह फर्श पर बिछी है—करबद्ध, पूर्वज के चेहरे की ओर ताकते हुए। उसके सामने खड़ी है पूर्वज की भव्य आकृति। उनके निर्मल चेहरे पर रानी के लिए करुणा और दया का अद्भुत भाव है। कहते हैं कि यही भाव रानी को उन अँधेरी गलियों से वापिस लौटा लाया था। कुछ इस कदर सर्वग्राही, मन्त्रमुग्धकारी भाव था— वह। दरबार के तत्कालीन कलाकार से रानी ने यह पेंटिंग बनवायी थी। उन दिनों के कलाकार भी कमाल करते थे। ब्रश क्या उठाते थे कि 'मोनालिसा' रच देते थे।

ज्यूरिख में मारिया सेमिनार के तीसरे दिन मिली थी। वह सेमिनार हॉल के सामने कुछ दूरी पर खड़ी थी, लोहे के एक पुराने, नक्काशीदार लैम्प पोस्ट के नीचे। पीटर और मैं सुबह हॉल की ओर जाते समय ठीक वहीं से गुज़रते थे।

लैम्प पोस्ट से कुछ हटकर आगे लिम्मत नदी बहती थी। उसके खूबसूरत पुल नज़र आते थे।

लिम्मत पर उस दिन कुहासा था। सारा परिवेश जैसे एक स्लेटी रंग मे रँगा था— पुल के नीचे बहती नदी... नदी के आगे दूर तक फैली झील... झील के ऊपर आकाश... सब पर स्लेटी धुन्ध थी। बारिश रूकी हुई थी, लेकिन बूँदें बेतरतीब छितरा रही थीं— हवा में। पुल पर रेनकोट, हैट और छतरियाँ आ—जा रही थीं।

वह जिस अन्दाज में खड़ी थी, वही अपने आप में आमन्त्रण था। उसके वस्त्र काले और चमकीले थे और कुछ ऐसी बनावट के कि शरीर ढँकने की प्राथमिक शर्त को ठीक से निभा नहीं पा रहे थे। काले हैट के नीचे उसके लिपे-पुते चेहरे पर तीखी काली भौंहें बनी थीं और होठों पर तेज लाल रंग की लिपिस्टिक दहक रही थी। उसने अपनी ऊँगलियों के बीच कत्थई पाईप में सिगरेट फँसा रखी थी। उसे एक झलक देखकर ही उसके व्यवसाय के बारे मे कोई शक नही रह जाता था।

हुआ यह कि हम उसके पास थे तभी तेज़ हवा के झोंके में उसकी छतरी उड़ने लगी और मैने उसे सँभाला था। धन्यवाद स्वरूप उसने मुझे जिस तरह की स्माईल दी थी, उससे मेरे भीतर सिहरन दौड़ गयी थी।

उसने अपने सुनहरे पर्स से कार्ड निकाल कर मुझे दिया और कहा कि इसमें उसका रात का पता लिखा है। वह मेरा इन्तजार करेगी।

'मुझे पता है।'— पीटर ने चलते-चलते कहा, 'यहाँ वह ग्राहकों को फँसाती है। धन्धा इनका चलता है नीदर फोर्ड चौक के 'हाउस ऑफ लस्ट' में।

वह चिढ़ा हुआ था— 'तुम्हें क्या ज़रूरत थी उससे बात करने की?'

'मतलब?'

'मतलब तुम समझते नहीं क्या? शी इज़ ए होर... वैश्या है वह...।'

हम आगे बढ़ गए थे। उस दिन कुछ और सोचने का वक़्त भी नहीं था। कोई घंटे भर बाद ही उस दिन मेरा वक्तव्य था, जो मेरे लिए बेहद महत्त्वपूर्ण था।

यहाँ आने के पहले कई दिनों से मैं इस वक्तव्य की तैयारी में डूबा हुआ था। वहाँ के प्रबुद्ध जनों के साथ विमर्श करके अपने व्याख्यान की रूपरेखा तैयार करता रहा था। पुस्तकों का अध्ययन करता रहा था। कई दिनों से दिन-रात मेरी सोच के केन्द्र में जीवन को सहज-सरल रूप से जीने के उपाय मात्र थे, निर्वाण तक पहुँचने की प्रक्रियाएँ थीं। मैं इन तमाम गहन विचार-मंथनों के दिव्य आलोक में डूबता रहा था— पिछले कई दिनों से। सच पूछो तो दैहिक अस्तित्व से ऊपर उठकर मैं स्वयं एक ज्ञानपुंज बन गया था।

मेरे विषय के केन्द्र में ही थे अन्धकार से आलोक की ओर.. पाप से पुण्य की ओर बढ़ने के संकल्प।

मै विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि मैं इसी गम्भीर स्थिति में सेमिनार के तमाम सत्रों में भाग ले रहा था और वक्तव्य तो कुछ ऐसा देना चाहता था कि वापिस लौटने पर 'नचिकेता' मुझ पर गर्व करे।

मेरा वक़्त करीब आया। मंच से मेरा नाम पुकारा गया। और मैं गरिमापूर्ण ढंग से मंच पर चढ़कर माइक के पास पहुँच गया।

लेकिन अभी शुरुआत करने जा ही रहा था कि हॉल के दरवाज़े पर कुछ हलचल-सी दिखाई दी। ...मारिया जबरन भीतर आने की कोशिश कर रही थी और सुरक्षाकर्मी उसका रास्ता रोक रहे थे।

सच तो यह है कि मुझे ख़ुद यह अच्छा नहीं लगा था कि शहर ज्यूरिख की एक बदनाम वैश्या उस हॉल के भीतर आ जाए, जो हम जैसे प्रबुद्ध प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित हो।

लेकिन मारिया झगड़ने लगी और अन्ततः लड़ती-भिड़ती वह न सिर्फ़ भीतर आने में कामयाब हो गयी, बल्कि मेरी कुर्सी को खाली देखकर उसी पर बैठ भी गयी। सच पूछो तो मुझे यह बड़ा नागवर गुजरा था। ऐसा लगा कि वहीं से लताड़ दूँ कि ओ पतन के गर्त में डूबी लड़की, उस कुर्सी पर बैठने के लिए पावन चरित्र चाहिए और चाहिए उम्र भर की साधना। तू है कहाँ?

लेकिन पीटर ने मुझे संयत रहने का इशारा किया तो मैंने भी सायास अपने वक्तव्य पर ध्यान केन्द्रित किया और बहुत जल्दी ही लय मे आ भी गया। मेरे लिए तो रोजमर्रा की बात थी। मैं तो श्रोताओं को सम्मोहित कर देने का वैसे भी अभ्यस्त था। फिर आज तो विषय भी मनपसन्द था— पाप से पुण्य की ओर... फ्रॉम डार्कनेस टु लाइट...

''...हाँ, तो प्रतिनिधिगण, पाप और पुण्य के बारे मे आप लोगों का क्या विचार है? ...कभी समय के साथ इनकी परिभाषाएँ बदल जाती हैं, कभी भूगोल के साथ। ...एक पक्ष का पाप ही दूसरे पक्ष के लिए पुण्य नहीं बन जाता है क्या? और एक पक्ष का पुण्य दूसरे के लिए पाप।

फिर भी अगर इन सीमाओं से ऊपर उठकर उन्हें परिभाषित किया ही जाना है तो इतना तो विवाद से परे है कि जो सत्य का पक्षधर हो वह पुण्य, और जो असत्य का पक्षधर हो वह पाप।

जो मानव मात्र के कल्याण के लिए हो वह पुण्य और जो उसके पतन के लिए हो वह पाप।

लेकिन क्या ऐसा चमत्कार हो सकता है कि किसी दिन एक पापी प्राणी एकाएक पुण्यात्मा में बदल जाये?

हमारे यहाँ तो हैं ऐसे उदाहरण।

नौ सौ निन्यानवे निर्दोष नागरिकों का कत्ल करनेवाला अँगुलिमाल महात्मा बुद्ध की एक करूणामयी दृष्टि पड़ते ही पुण्यात्मा मे परिवर्तित हो गया। ...और भगवान राम ने अपने सान्निध्य की कृपा क्या कर दी कि उन्हे लूटने आया दस्यु परमसंत वाल्मीकि बन गया।

चलो कुछ असामान्य स्थितियों की कल्पना करते हैं। जैसे यह कि मान लो किसी दिन स्वर्ग मे टहलते हुए वाल्मीकि और अँगुलिमाल की आपस में मुलाकात हो जाए, तो उनकी बातचीत कितनी दिलचस्प होगी। ...शायद वे अपने व्यक्तित्वों में हुए तत्काल परिवर्तनों पर अपने-अपने अनुभव साझा करें। शायद ये रहस्योद्घाटन भी करें कि क्या ये परिवर्तन उसी क्षण पूरे हो गए थे, या यह बदलाव का वहाँ से शुरू हुआ एक लम्बा सिलसिला था, जो बाद मे उनके भीतर धीरे-धीरे घटित होता रहा। ...शायद वे एक-दूसरे से यह भी पूछें कि क्या परिवर्तन के तुरन्त बाद पिछली ज़िन्दगी के पाप समूल नष्ट हो गए, अथवा कभी एकान्त मे वे उनके अन्तस का दरवाज़ा भड़भड़ाते पीटते थे और अतृप्त आत्माओं की तरह रोते-चिल्लाते थे?

आपका क्या विचार है? क्या ऐसा सम्भव है कि व्यक्ति इस एक जन्म में ही दोनो तरह की ज़िन्दगियाँ जी ले एक साथ- पापमय भी और पुण्यमय भी?

देखो भई, पापमय ज़िन्दगी से मुक्ति का एक ही तरीका है। और वह यह है कि तुम अपने भीतर एक नितान्त अलग, स्वस्थ चेतना का विकास करो। तब तुम पाओगे कि अतीत में तुम्हारे किए गए पाप अर्थहीन हो गए हैं। जैसे उन्हें करने में तुम्हारी कोई भूमिका थी ही नहीं। वे सब उस समय नियति द्वारा संचालित थे। तुम्हारी देह तो मात्र निमित्त थी।

''लेकिन अगर आप अपने पिछले पापों से लड़ भिड़ कर उन्हें हराने की कोशिश करोगे, तो यकीनन हारोगे। और ये हार तुम्हें और और अवसाद की ओर ढकेलती रहेगी।''

अरे क्या-क्या सुनाऊँ आपको बंधु। स्टेंडिंग ओवेशन मिला था मुझे। प्रतिनिधियों ने करतल ध्वनि की थी। और करते ही रहे जब तक कि मैं अपनी सीट पर बैठ नहीं गया।

सत्र ख़त्म होने के बाद जब प्रतिनिधि लंच के लिए बाहर लाऊंज में जा रहे थे, तो वह ठीक दरवाज़े पर खड़ी मेरी राह देख रही थी।

लोग उसे कुछ अजीब नज़रों से देखते हुए, उससे कुछ दूरी बना कर निकल रहे थे। उसे लगता है इसकी चिन्ता नहीं थी।

मुझे देखते ही हाथ पकड़ कर वह मुझे एक ओर ले गयी। लोग ठिठककर हमें देखने लगे। बड़ी असुविधाजनक स्थिति थी। न जाने क्या-क्या सोचा होगा उन्होनें?

हमारे बैठने के लिए उसने पहले से ही जगह तय कर रखी थी शायद। वहाँ एक काँच की सेन्टर टेबल के आसपास दो सोफा चेअर्स थीं, जो बड़े शीशे के साथ लगी थी।

शीशे के आसपास दूर तक फैला शहर था—बरसाती मौसम में धुँधलाया हुआ और स्लेटी रंग का शहर। ...धुँधला ही सही, लेकिन दूर पर वह लैम्प पोस्ट दिख रहा था, जिसके नीचे वह सुबह मिली थी। उसके आगे लिम्मत नदी और उसके पुल सड़कों पर बहते लोगों और छतरियों के रेले, शीशे पर बूँदें अभी भी छितरा रही थी और पानी की लकीरें अनवरत उतर रही थी।

वह मेरे सामने बैठी थी और इतनी देर में पहली बार मैंने उसके चेहरे पर आँखें टिकाकर गौर से देखा और पाया कि वहाँ सुबह वाली व्यावसायिक कुटिलता नहीं थी। उस पर शायद मेरे वक्तव्य का खुमार अभी तक चढ़ा हुआ था और वह प्रशंसा, बल्कि आदर के साथ मेरी ओर एकटक ताक रही थी—लगभग श्रद्धावन्त।

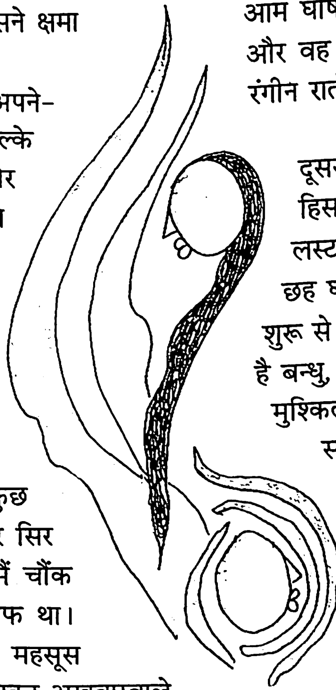
वक़्तव्य का खुमार तो स्वयं मुझ पर भी छाया हुआ था और मैं आत्मगौरव की आभा में दीप्त-सा वहाँ बैठा था— सम्माननीय, अलौकिक लार्जर देन लाईफ।

''सुनो, मैं सिर्फ़ यह कहना चाहती हूँ कि सुबह जो मैंने तुम्हें 'हाउस ऑफ लस्ट' मे आने का निमन्त्रण दिया था, उसके लिए

मुझे खेद है और मैं उसे वापिस लेती हूँ।'' उसने क्षमा याचना करते हुए कहा।

लाऊंज का माहौल खुशनुमा हो उठा था। अपने-अपने ड्रिंक्स हाथों मे लिए प्रतिनिधि हल्के-फुल्के वार्तालापों मे मग्न थे। आर्केस्ट्रा वाले एक ओर कोई दिलकश धुन बजा रहे थे। सिगार का खुशबूदार धुँआ माहौल में तैर रहा था। बाहर शायद सुबह से छाए हुए बादल ऊबकर थोड़ा-सा छँट गए थे और लिम्मत नदी धुन्ध के बीच एक चाँदी की लकीर की तरह भक्क से चमक उठी थी।

मुझे ख्याल ही नहीं रहा कि मैं एकटक उसका चेहरा देखने लगा था और उसी क्षण कुछ ऐसा अनपेक्षित घट गया कि मुझे अपने भीतर सिर उठाती एक सनसनी का एहसास हुआ और मैं चौंक गया। चौंक इसलिए गया कि मैं इससे वाकिफ था। ठीक इसी सनसनी को मैने बरसों पहले तब महसूस किया था, जब बचपन में झाड़ियों के पीछे छिपकर अखबारवाले ने मुझे एक पोर्न किताब दिखायी थी।



जरा गौर करें बन्धु, अरे मैं साला उतनी-सी उम्र में ही धार्मिक, दार्शनिक ग्रन्थ कंठस्थ कर लेनेवाला मेधावी लड़का वहाँ काँपते हाथों से उस किताब के पन्ने पलट रहा था और अखबारवाला नज़रें रखे था कि कोई आ तो नही रहा है? मैं तो तभी समझ गया था कि बेटे, यह सनसनी एक बार पैदा हो गयी तो फिर काबू मे नहीं आती।

फिर भी मैने अपने चेहरे पर ओढ़ी हुई गरिमा सँभालते हुए पूछा— ''क्यों? क्यों नहीं आ सकता मैं वहाँ?''

''क्योंकि वह आप जैसे पवित्र पुरुषों के जाने योग्य जगह नहीं है। पापघर है वह।'' मारिया की आवाज़ में निवेदन था।

''पापघर है? तो फिर मैं उस पापघर से तुम्हारी मुक्ति की कम से कम एक कोशिश करने के लिए ही वहाँ आऊँगा।''— मैने जान बूझकर अपनी आवाज़ को उठाते हुए कहा, ताकि आसपास के लोग खड़े हो कर ठीक से सुन लें।

''सच?'' उसने बमुश्किल कहा। उसकी आवाज रूँध गयी। उसने मेरे हाथ पर अपना हाथ रख दिया। मै सिहर गया।

''बिलकुल सच।'' मैने उसकी आँखों मे सीधे झाँक कर कहा, जो अनायास ही भर आयी थी।

''मैं तुम्हारा इन्तजार करूँगी'' उसने जाते जाते कहा था।

और उसके जाने के बाद तो वह सनसनी खुलकर खेलने लगी। जैसे एक स्याह आकृति में तब्दील होकर व्यंग्य भी करने लगी— भई वाह, क्या शातिर चाल चली है जाओ ...मजा करो आज वहाँ जाकर। अरे, लोग तो वहाँ मुँह छिपाकर जाते हैं...तुम तो खुले आम घोषणा करके जा रहे हो, वह भी बाकायदा निमन्त्रण पर और वह भी अपने देश से हज़ारों मील दूर यहाँ, ज्यूरिख की रंगीन रातों में।

दूसरा सत्र शुरू हो गया था। अभी कोई तीन बजे थे। मैने हिसाब लगाया अगर मैं नौ बजे के लगभग हाउस ऑफ लस्ट पहुँचूँ, तो अभी कोई छह घंटे बिताना है मुझे... पूरे छह घंटे...कितना लम्बा वक़्त है। या तो मन मे वैसी व्यग्रता शुरू से ही नही होती, तो और बात थी, लेकिन आप को पता है बन्धु, इसके शुरू होने के बाद तो एक-एक मिनिट काटना मुश्किल पड़ता है। फिर यहाँ तो पूरे छह घंटे खड़े थे— मेरे सामने मुँह बाये।

वक़्तव्य शुरू हो चुके थे, लेकिन मैं एकाग्र कैसे करता अपने मन को? कुछ देर पकड़ने की कोशिश करता कि वक्ता कह क्या रहा है? फिर उठ कर बाहर लाऊंज में चला जाता। वहाँ शीशे के पास वे दो कुर्सियाँ खाली रखी दिखती, जिन पर हम बैठे थे। बीच में वह काँच की सेन्टर टेबल थी, जहाँ मेरे हाथ पर उसने अनायास हाथ धर दिया था। शीशे के पार धुँधले माहौल में एक लैम्प पोस्ट दिखता। फिर हवाएँ चलने लगती उसकी छतरी उड़ने लगती और मैं फिर हॉल मे लौट आता।

पीटर से पूछता कि मेरी अनुपस्थिति में कुछ विशेष हुआ क्या? उसके चेहरे पर किंचित नाराजगी उभरती।

सत्र का अन्तिम वक्ता कोई स्पेनिश प्रतिनिधि था। उसने कहा कि अगर हम दुनिया में किसी एक भी भटके हुए को रास्ता दिखा सकें, तो समझ लेना कि उम्र भर का चिन्तन सार्थक हो गया।

इस वक़्तव्य का सहारा लेकर मैने फिर पीटर के सामने अपने निर्णय को दोहरा दिया हॉल से बाहर आते हुए।

''सुना तुमने पीटर? सुन लिया ना वह क्या कह रहा था? तो अगर मैं एक कोशिश करूँ आज रात हाऊस ऑफ लस्ट में जाकर, तो गलत क्या है?''

''आर यू क्रेजी?'' वह बिफर गया, ''विदेश में हो। तिस पर वह बदनाम जगह है। कहीं पुलिस के हत्थे चढ़ गये तो सारे आदर्श धरे रह जाएँगे।''

''कुछ नहीं होगा। मैने उस लड़की की आँखों में झाँक कर देखा था। अगर वह उस अँधेरे से बाहर आना ही चाहती हो तो अपनी ओर से हाथ बढ़ाने में हर्ज ही क्या है?'' मैने भरसक महानता की मूर्ति बनते हुए कहा।

पीटर ने मेरी ओर व्यंग्य से देखा था।

वह समझ गया था। कितना भी छिपाओ, यह साला बराबर ताड़ लेता है। वह यह भी समझ गया था कि अब मैं किसी के रोके नहीं रुकूँगा।

वह ठीक समझा था। एक बार अगर उस व्यग्रता ने सिर उठा ही

लिया, तो फिर क्या किसी के बस में होता है उसे काबू करना?

फिर भी शाम को लिम्मत नदी के किनारे घूम आने का उसका प्रस्ताव मुझे अच्छा लगा। इसलिए कि इससे यह बीच का असहनीय वक्त कुछ कट जाता। हम नदी के एक पुल के ऊपर टहलते रहे। पुल पर शाम की गहमा गहमी थी। नीचे नदी मे बोट्स आ-जा रहे थे। सामने और पुल नज़र आ रहे थे। उसके भी आगे नदी झील मे जा मिली थी। इतनी दूर से झील में स्थित फव्वारा नज़र नहीं आ रहा था।

''मौसम साफ होता तो आकाश में टँगी चाँदी की पर्वत-शृंखलाएँ शाम की धूप में चमकती।'' पीटर ने सूचना दी।

कुछ पलों के लिए मुझे सचमुच पीटर से ईर्ष्या हुई...पीटर हाउ फार्चुनेट यू आर तुम कितने एक रह सकते हो भीतर और बाहर से? दुविधाओं से परे तुम यहाँ प्रकृति का रसपान कर सकते हो आकाश मे टँगी पर्वत-शृंखलाएँ देखने के लिए शान्त मन से धूप का इन्तजार कर सकते हो।

और एक मैं हूँ तुम्हारे पास खड़ा हुआ साला।

तभी मैं एकदम से चौंक पड़ा। मुझे लगा कि पुल के दूसरे छोर पर वही अख़बारवाला सायकिल पर जा रहा है, जो बचपन में मेरे लिए पोर्न किताबें लाता था और झाड़ियों में छिपकर दिखाता था। मेरा ख्याल है कि उसने भी पीछे मुड़कर मुझे देखा था, लेकिन वह रूका नही और तेजी से आगे भीड़ मे गुम हो गया।

''अरे, तुम इतने घबराए हुए से क्यों लग रहे हो? मै पूछ रहा हूँ कि डिनर तो प्रतिनिधियों के साथ ही करोगे ना?'' पीटर शायद दूसरी या तीसरी बार मुझसे पूछ रहा था।

''क्या? ...डिनर? अरे नहीं यार वो बहुत देर से शुरू होता है। दस बजे तक तो वहाँ ड्रिंक्स के दौर ही चलते रहेंगे। तब कहीं जा कर वे डिनर की प्लेटें पकड़ेंगे।''

''लेकिन वही तो मौका रहता है जब तमाम प्रतिनिधि आपस में अपने विचारों का आदान-प्रदान करते हैं, उनसे परिचय बढ़ता है, बल्कि अनायास ही आगे का कोई रास्ता भी खुल जाता है।''

''सब ठीक है यार, लेकिन मुझे तो बहुत देर हो जाएगी। मैं तो अब होटल जाकर तैयार होना चाहता हूँ।'' मैने कहा। और मुझे लगा कि मारिया से शीघ्र मिलने की बेचैनी अब मेरी आवाज़ में भी काँपने लगी थी।

पीटर मुझ पर व्यंग्य करने का अवसर चूकना नहीं चाहता था— ''तो ऐसा करना कि होटल में जाकर बढ़िया गर्म पानी का शॉवर लेना। खूब इत्र छिड़कना। बेहतर तो यही होगा कि वहाँ जाने के लिए तुम टैक्सी की बजाय दो घोड़ोंवाली बग्घी का इन्तजाम कर लो। उसमे महाराजा की वेषभूषा में बैठना, हाथ में गुलाब का फूल सूँघते हुए।'' वह हँस पड़ा और उसकी हँसी में उसके भीतर की तमाम नाराजगी भड़भड़ाती हुई बाहर आ गयी।

क्या उसमे मेरे लिए कोई धिक्कार का भाव भी छिपा होगा? अब होगा तो क्या करें उस समय फुर्सत ही कहाँ थी उसकी चिन्ता करने की?

ठीक नौ बजे मैं नीदरफोर्ड के भव्य, जगमग चौक में अपने गंतव्य के सामने खड़ा था, जिसके ऊपर नियॉन अक्षरों में 'हाऊस ऑफ लस्ट' जल बुझ रहा था।

जा अब। कर हिम्मत और पहुँच जा भीतर। अबे ये जो नक्काशीदार दरवाजा खुल-बन्द हो रहा है, यही जन्नत का दरवाजा है। भीतर काम के लिप्त अप्सराएँ हैं। उन्हीं में एक मारिया होगी। वह इन्तजार कर रही होगी— तेरा।

एक-एक कदम बढ़ाना भारी लग रहा था। बाहर गोल टेबलें सजी थीं चौक में। लोग बीयर की चुस्कियाँ ले रहे थे। एक तरफ़ बड़ी तल्लीनता के साथ बड़े-बड़े वाद्यों वाले संगीतज्ञ कोई धुन बजा रहे थे। गहमागहमी थी। रौनक थी। फ्लोरिस्ट की दुकान से खुशबू उड़ रही थी।

मेरी हिम्मत जबाब दे रही थी। न जाने कैसे पैरों में इतनी कमजोरी आ गयी थी। ज्यूरिख की उस रात, जब हवा में ठंडक थी और लोग गर्म जर्सियाँ पहने हुए थे— मुझे पसीना आ रहा था।

कोई था जो मुझे पकड़ कर पीछे खींच रहा था। ये क्या मेरे भीतर जमे हुए आध्यात्मिक संस्कार थे? माँ तथा पिता के साथ धोखाधड़ी करने का अपराध भाव था? अथवा सीधे-सीधे अपनी कायरता थी?

मेरी आँखों के ठीक सामने नक्काशीदार दरवाजा खुलता। कोई बाहर से भीतर जाता। कोई भीतर से बाहर आता।

न मुझसे रुका जा रहा था न आगे बढ़ा जा रहा था। फिर उस दुर्दमनीय उत्तेजना का करता क्या मैं?

मैं जानता था कि वह हर रुकावट को छिन्न-भिन्न कर देगी।

फिर किसे परवाह है कि मैं साला आध्यात्म पुरुष, हज़ारों मील दूर से आया हूँ यहाँ, मानव मात्र के कल्याण की गुत्थियाँ सुलझाने के लिए।

ऑर्केस्ट्रा की धुन तेज-तेज होती जा रही थी। फिर अनायास मन के भीतर चल रहे बवंडर ने मुझे उठा लिया। और मैं कुछ समझ पाता तब तक तो उसने मुझे सीधे हाऊस ऑफ लस्ट के दरवाजे पर ला कर पटक दिया। एक अतीन्द्रीय बवंडर।

ऑर्केस्ट्रा की धुन खूब तेज क्लाईमेक्स तक जाकर एक झटके के साथ रुक गयी।

दरवाज़ा मेरे लिए खुल गया था।

और अब मैं एक नितान्त दूसरी दुनिया में था। मुझे हैरानी हुई कि महज एक नक्काशीदार दरवाजे के इस पार एक तरह की दुनिया हो सकती है और उस पार नितान्त दूसरी।

दरवाजे के पास गोल काउंटर पर एक रौबदार आदमी बैठा था

बड़ी मूँछोंवाला। उसने सामने रखा पैग उठाया, एक घूँट में खाली करके खट्ट से काउंटर पर पटका और कुछ अजीब नज़रों से मुझे देखा। मेरा रंग रूप शायद उसे आम ग्राहकों से भिन्न लगा होगा। लेकिन उसने एक टिकिट काटी, पैसे लिए, और दूसरा पैग चढ़ाने मे व्यस्त हो गया। काले सूटवाला एक दुबला, स्मार्ट लड़का मुझे भीतर ले गया और एक सोफे पर बैठा दिया।

''ड्रिंक?'' उसने पूछा।

हॉल के एक ओर बड़ा स्टेज बना था, जिस पर फिलहाल ऊपर से नीचे तक एक बड़ा लाल मखमली पर्दा पड़ा था। प्रकाश की एक तेज किरण उस पर गोलाई मे घूम रही थी। धीमा, उत्तेजक संगीत बज रहा था।

न जाने कौन-सा रहस्यलोक होगा स्टेज पर जो पर्दा उठते ही हाहाकार मचा देगा— तीव्र जिज्ञासा ने उछलकर एक क्षण के लिए मेरी चेतना को दबोच लिया।

अभी उसके जाने के बाद साँस सँभाल भी नही पाया था कि दूसरी लड़की आ बैठी।

''मै जानती थी कि तुम उसे पसन्द नही करोगे।'' उसने मेरा मुड़ा हुआ कॉलर ठीक करते हुए कहा। पहले वाली गोरी त्वचा के विपरीत यह खासी साँवली थी और स्वयं को इंडोनेशिया से आयी हुई बता रही थी।

मैं डरा हुआ था और बार-बार लग रहा था कि कहाँ आ फँसा। कभी सामने के स्टेज के पर्दे की ओर देखता तो कभी प्रवेश द्वार की तरफ़। इस दूसरी लड़की की मुद्राएँ पहलीवाली से भी अधिक आक्रामक थी, जैसे धमका रही हो कि अबे, जरा मुझे रिजेक्ट कर के तो देख ...मैं भी देखती हूँ कि बाहर कैसे निकलता है।

मैने कुछ टूटी-फूटी अँग्रेज़ी, कुछ हाथ के इशारों से कहा कि मुझे ड्रिंक नही लेना।

उसने सख्ती से कहा कि ड्रिंक लेना पड़ेगा।

मैं बेचैन हो गया। कहीं ड्रिंक इतना महँगा हो कि पर्स में मौजूद पैसों से भी ज्यादा तो?

वह मेरी परेशानी समझ गया। शुक्र था कि उसने हाथ पकड़कर मुझे बाहर का रास्ता नहीं दिखाया।

समझ में नहीं आ रहा था कि मैं आखिर वहाँ करूँ तो क्या? मारिया दिख नहीं रही थी।

हॉल मे सोफों के अलग-अलग समूह बने हुए थे। प्रत्येक में कोई समृद्ध ग्राहक किसी लड़की के साथ काम केलि रत था। सब अपने-अपने मे मग्न। किसी को किसी से कोई मतलब नहीं। किसी को किसी से कोई शर्म भी नही। हॉल के मखमली अँधेरे मे सुनहरा प्रकाश रेंग रहा था। दीवारों पर बड़ी-बड़ी उत्तेजक ऑयल पेंटिंग्स लगी थी। ...अजीब तिलस्मी दुनिया थी।

स्टेज के पास कुछ लड़कियाँ एक समूह मे बैठी हँसी मजाक कर रही थी। कुछ देर बाद उनमें से एक लड़की आकर सोफे पर मेरे साथ बैठ गयी।

पता नहीं क्या होने जा रहा है? मैने हड़बड़ा कर उसे कहा कि मै तो सिर्फ़ स्टेज का शो देखने आया हूँ। कब शुरू होगा?

उत्तर में उसने मेरे गले में एक बाँह डाली और दूसरे से बालों मे उगलियाँ फिराने लगी। यह नितान्त अप्रत्याशित था।

घबराहट के साथ ही मुझे एक और दुश्चिन्ता ने घेर लिया कि मान लो इसकी हर क्रिया का कोई रेट हो तो मैं तो बाहर निकलते-निकलते पूरा लुट जाऊँगा।

मुझे पसीना आने लगा। मै अपने आपको उससे छुड़ाते हुए सोफे पर नो-नो करते हुए उससे दूर सरकने लगा। जब बिलकुल कोने पर आ गया तो उसने मुझे गुस्से से देखा कि कैसे-कैसे बेवकूफ आ जाते हैं वक़्त बरबाद करने के लिए। फिर वह झटका-सा देती हुई उठकर चली गयी।

अभी उसके जाने के बाद साँस सँभाल भी नही पाया था कि दूसरी लड़की आ बैठी।

''मै जानती थी कि तुम उसे पसन्द नही करोगे।'' उसने मेरा मुड़ा हुआ कॉलर ठीक करते हुए कहा। पहले वाली गोरी त्वचा के विपरीत यह खासी साँवली थी और स्वयं को इंडोनेशिया से आयी हुई बता रही थी।

मैं डरा हुआ था और बार-बार लग रहा था कि कहाँ आ फँसा। कभी सामने के स्टेज के पर्दे की ओर देखता तो कभी प्रवेश द्वार की तरफ़।

इस दूसरी लड़की की मुद्राएँ पहलीवाली से भी अधिक आक्रामक थी, जैसे धमका रही हो कि अबे, जरा मुझे रिजेक्ट कर के तो देख ...मैं भी देखती हूँ कि बाहर कैसे निकलता है।

फिर दो-तीन बातें एक साथ हो गयी। उसने मेरा हाथ पकड़ कर अपने एक घुटने पर रख दिया। मै हड़बड़ा कर खड़ा हो गया। तभी नक्काशीदार दरवाज़ा खुला और उसमें से मारिया भीतर आती दिखी और मैने जोर से आवाज दी— ''मारिया...''

हाउस ऑफ लस्ट की शान्ति भरभरा कर ढह गयी। तमाम सोफों पर से जोड़े चौंक कर मुझे देखने लगे। उनकी क्रियाओं में विघ्न पड़ गया था। वे गुस्से मे थे। ...यह लड़की छिटककर दूर

खड़ी हो गयी और ऐसी खा जाने वाली नज़रों से मुझे देखने लगी कि शुक्र मना बेवकूफ...आज मेरे हाथ से बच गया।

मारिया ने वहीं दूर से प्रणाम की मुद्रा मे झुककर मेरा अभिनन्दन किया। इशारे से कुछ इन्तजार करने को कहा। अब मै थोड़ा निश्चिन्त हुआ। अब जाकर मेरी जान में जान आई।

मैं जानता था कि मारिया का यह इन्तजार अब और जानलेवा होगा। बहुत सारे आवेग मन के भीतर दौड़ रहे होंगे। कभी वे एक-दूसरे से उलझ जाएँगे। कभी हावी होने की कोशिश करेंगे एक-दूसरे पर। कभी हँसेंगे मुझ पर। कभी तरस खाएँगे।

तकदीर भी कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है। अब देखो ना, इंडिया से चला तब सिर्फ इतना पता था कि यहाँ यूरोप की जगमग दुनिया होगी। तिलस्मी शहर होंगे। नदी-पहाड़ होंगे। झील और पहाड़ों पर खिलती सुबहें होंगी। जगमग गलियों मे पसरती हुई शामें होंगी। सेमिनार मे आए प्रतिनिधियों के दुर्लभ वक्तव्य होंगे। उन सब के बीच अपना पक्ष प्रस्तुत करने का नायाब मौका होगा। एक अप्रतिम अवसर होगा अपने आपको स्थापित करने का।

और आज मैं यहाँ हूँ। शहर ज्यूरिख के इस बदनाम पते पर।

कभी मारिया के साथ अब कुछ ही देर बाद गुजरनेवाले सम्भावित लम्हों की उत्तेजना से मन काँपने लगता। कभी लिम्मत के पुल पर सायकिल चलाता एक परिचित अखबारवाला निकल जाता। लैम्प पोस्ट के नीचे तेज आँधी में एक छतरी उड़ने लगती और सामने लाल लिपिस्टिक वाले दो होंठ दहकने लगते। और इसके पहले कि मै उड़ती छतरी को थाम पाता, सेमिनार में दिए गए अपने वक्तव्य की पंक्तियाँ उछलने लगती... बेतरतीब। हाऊस ऑफ लस्ट का नक्काशीदार दरवाजा कभी खुलता, कभी बन्द होता।

कुमारगिरि के मन मे ऐसा ही अंधड़ बहा होगा जब एक रात वह चित्रलेखा की कुटी के द्वार पर जा खड़ा हुआ था। उसकी आँखें दप-दप जल रही होंगी। मुझे नहीं पता यह महज कहानी थी या सच था, लेकिन मैं मानता हूँ कि सच ही रहा होगा। सच के अलावा वह और कुछ हो ही नही सकता। इसलिए कि कुमारगिरि हर दौर में होते हैं।

मै तो कहता हूँ कि विश्वामित्र को कोई हक नही था मेनका पर क्रोधित होकर उसे शाप देने का, जब उसके कामोत्तेजक नृत्य से उसकी तपस्या भंग हो गयी थी। यह भी खूब रही। आप तो ख़ुद नियन्त्रण रख नही पाए स्वयं पर और शाप दे दिया उसे। शाप ही देना था तो देते स्वयं को। ...क्या मैं स्वयं को शाप दे सकता हूँ?

कितनी देर लगा दी उसने आने में। मुझे तो एक-एक पल झेलना मुश्किल हुआ जा रहा था। मै ही जानता हूँ कि मैने कैसे गुजारा होगा वह वक़्त। जब कि मन का हर आवेग अपने उस कमजोर पक्ष को गेंद की तरह उछाल रहा था जिसे आत्मनियन्त्रण कहते हैं। यह शब्द वैसे भी उस माहौल में बेमानी ही था।

अन्तत: वह आयी। आ गया वह क्षण। ठीक इसी क्षण का मैं पिछले कई युगों से इन्तजार कर रहा था, लेकिन मुझे हैरानी हुई कि उसका श्रृंगार—अगर उसे श्रृंगार कहें तो— निहायत ही सामान्य था। जैसे घर में काम करते हुए कोई गृहिणी किसी आगन्तुक के सामने सहज ढंग से उठकर आ गयी हो। न उसका चेहरा किसी तरह लिपा-पुता था, न होंठ तेज लाल लिपिस्टिक से दहक रहे थे। गले से पैर तक उसकी देह सामान्य सफेद परिधान में सलीके-से ढँकी हुई थी।

वह मेरे सोफे के सामनेवाली सोफा सीट पर बैठ गयी और अतिरिक्त विनम्रता से बोली— ''कृपया हैरान न हों। मैं भीतर से वही हूँ। ज्यूरिख शहर की मशहूर और धनाढ्य वैश्या, लेकिन आज इस उम्मीद में हूँ कि आप जैसे दिव्यपुरुष का सान्निध्य शायद उस अन्धकार से बाहर आने की मेरे भीतर गहरे कहीं दबी इच्छा को जरा-सी हवा दे दे।

वहाँ मै था। उसके ठीक सामने। हाऊस ऑफ लस्ट की एक मदहोश कर देनेवाली अर्द्धरात्रि में, जो एन्द्रिक सुख के सैलाब मे आकंठ डूबी थी। वहाँ कोई क्रिया छुप कर नहीं चल रही थी। सब खुले आम हो रहा था। सब स्वीकार्य। किसी को किसी से न कोई मतलब, न कोई आपत्ति।

वह मेरे ठीक सामने थी। मेरी पहुँच के भीतर। मेरा कोई परिचित मुझे देख नही रहा था। मै अकेला था। स्वच्छन्द।

वह भी अपने खुलेपन के लिए मशहूर यूरोप की जमीन पर।

मैं जानता भी था कि ये मौके बार-बार नहीं आते ज़िन्दगी में। बावजूद इसके, अपनी थरथराती देह, तेज धड़कते दिल, तूफानी रफ्तार से उठती गिरती साँसों के बीच भी, क्यों लग रहा था कि सदियों से वांछित इस सुख को थामने का साहस नही है मुझमें?

क्या चीज आड़े आ रही थी मेरे और उस चरम सुख के बीच? क्या उसके सामने प्रस्तुत अपनी पवित्र छवि? क्या वह भीतर कहीं विद्रोह कर रही थी— मेरी इस अवस्था से?

उसके सान्निध्य की गन्ध मुझे पागल किये दे रही थी। अबे ये महज सान्निध्य की गन्ध नहीं है— मूर्ख आदमी। यह देह की गन्ध है। डूबकर तो देख इस देह के समुन्दर में।

लेकिन उसकी भाव-भंगिमा से, क्रिया-कलाप से, हरगिज ऐसा नही लग रहा था कि वह डूबने के लिए किंचित भी तत्पर है। लिम्मत के पास, लैम्प पोस्ट के नीचे ग्राहक फँसाती वेश्या का कोई अक्स तक नहीं था उसमें।

''ओह, मुझे लगता है तुम्हे ज्यूरिख की ठंड रास नही आयी। तभी इतने असहज हो। चिन्ता मत करो। मैं तुम्हारे लिए एक छोटा पैग बना देती हूँ।'' मारिया ने कहा और पैग बनाने मे व्यस्त हो गयी। उसने सोडा डाला। दो-तीन आइस क्यूब डाले, और फिर जैसे मुझे तसल्ली-सी देते हुए पैग मेरी ओर बढ़ा दिया।

मेरी तो समूची देह कँपकँपायी थी। मै क्या करता? उसके हाथ

से पैग लेते हुए हाथ ऐसे काँपने लगा कि शराब मेरे शर्ट पर छलक गयी।

''ओह... ओह... डोंट वरी। मै अभी पोंछ देती हूँ।'' उसने मेरे हाथ से पैग लेते हुए कहा।

फिर उसने सिर्फ इतना किया था कि एक हाथ मेरे कन्धे पर धर कर, दूसरे हाथ से शर्ट पोंछने लगी थी। इस प्रक्रिया में उसका चेहरा मेरे चेहरे के इतना करीब आ गया और उसके बालों की गन्ध ने मुझे इस कदर आक्रान्त कर दिया कि अपनी रगों मे ख़ून का प्रवाह सँभालना मुश्किल हो गया मेरे लिए तो।

दिल ऐसे धड़कने लगा कि अभी टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर जाएगा। मैं तो शुरुआत ही नहीं झेल पा रहा था। यह हालत तो घंटों उस माहौल मे डूबने के बाद होनी चाहिए थी।

मैने चारों तरफ़ सिर घुमाकर देखा। कुछ हल्का मखमली अँधेरा, कुछ हल्का मखमली उजाला। वे तो सब क्रीड़ामग्न थे। देह के समुन्दरों में डूबते-उतराते हुए। शेष दुनिया से बेखबर। ख़ुद से बेखबर। वे यहाँ रात भर तैरेंगे। मैं तो पानी में उतर भी नही पा रहा।

मुझे लगा जैसे वे सब घूमकर मुझे देख रहे हैं—हिकारत से मूर्ख आदमी, किसलिए तूने कोशिश की हमारी दुनियाँ मे घुसने की। उतना साहस है भी तुझमें? अब भुगत अपनी हीनता को। हम कुछ नही कर सकते अब।

शर्ट पोंछने के बाद मारिया सन्तुष्ट लगी— ''आशिर्वाद दो मुझे कि मेरी इच्छा पूरी हो। मैं जानती हूँ कि बहुत शक्ति होती है आप लोगों के आशिर्वाद में।''

अरे पर ये हो क्या गया था मुझे? झाड़ियों के पीछे छिपकर पोर्न किताबें तो देखता था ना बचपन में? फिर? इतना कमीनापन तो कहीं छिपा ही होगा अभी भी मेरे भीतर, लेकिन वह भी काम नही आ पा रहा था यहाँ तो।

दो घूँट और उतरे गले के नीचे तो मैने अपने आप को सहेजने की पुरजोर कोशिश की। ललकारा अपने आपको। अबे ओ जन्मजात कायर। इतने अर्से से जो अपने भीतर लिप्साएँ पाले घूमता रहा था, वहीं तो खींच कर लायी होंगी ना तुझे यहाँ। अब इतना सही मौका साक्षात् खड़ा है तेरे सामने, तेरी पहुँच के भीतर, तेरा इन्तजार करता हुआ...थाम इसे। उठ... थाम...।

और फिर क्या हुआ कि एक अतिमानवीय कोशिश में मैने अपनी दोनों बाँहें फैलाकर उसके गले में डाल दीं। ...बेहद फूहड़ तरीके से... दोनों थरथराते हाथ उसके कन्धे पर टिका दिए।

यह सब इतना मुश्किल था कि मैं हाँफने लगा।

उसने बहुत हैरानी के साथ मेरी आँखों में झाँका। उसने अवश्य देख ली होगी वहाँ हवस की कौंध। मैने तब उसके चेहरे पर अविश्वास का साया उतरते देखा था।

...वह मोहभंग था।

जैसे कोई बहुत जतन से सहेजी हुई आशा खनखनाती हुई टूट जाए।

मैंने उसकी आँखों में अनायास ध्वस्त हुई उस छोटी-सी आशा से उत्पन्न उदासी को उतरते देखा। बहुत साफ-साफ देखा।

फिर उसने मेरे दोनों हाथों को अपने कन्धों पर से आहिस्ता से हटा दिया— 'रहने दो... रहने दो' उसने कहा, 'बस, थोड़ा अपने आप को सँभाले रखो। मैं तुम्हे उबार लूँगी।''

अनायास ही रोल बदल गए थे। जहाँ उसे होना था, वहाँ मैं आ गया था, और मेरी जगह वह।

और तब मैंने देखा कि उसके चेहरे पर एक निर्मल शान्ति पसर गयी है— खूब उजली, खूब शीतल, हिम धवल...।

मैंने देखा कि उसकी आँखों में मेरे प्रति वही असीम करूणा भर आयी है, जैसी उस पेंटिंग में मेरे पूर्वज के चेहरे पर थी। उसके मुखमंडल पर मेरे प्रति असीम दया का भी ठीक वही निर्मल भाव था।

और सच तो यह है कि उसके सामने मैं ठीक उसी स्थिति में था, जैसे तस्वीर में अँधेरों से उबरकर रोशनी की पहली किरण का स्पर्श करती हुई वह पतिता रानी...।

उसने सोफे पर मुझे ठीक से टिका दिया।... 'शान्त हो जाओ।' उसने कहा, ''आँखें मूँद लो और समझ लो कि तुम उजाले की नीली परतों मे तैर रहे हो।''

मैने आँखें मूँद लीं। उसने मेरे मस्तिष्क पर हाथ धर दिया।

और तब मुझे लगा कि मेरी तेज-तेज चलती साँसें सामान्य हो रही है। धमनियों में ज्वार की तरह अंधाधुंध दौड़ता रक्त प्रवाह अब शिथिल पड़ रहा है। ...धड़कनें अब काबू में हैं ...अब किसी तरह की कोई उत्तेजना नही है... मैं सचमुच नीले उजाले की परतों में तैर रहा हूँ...।

...और मैं देख रहा हूँ कि मैं अपने देश में 'नचिकेता में कहीं हूँ। तैर रहा हूँ वहाँ दालानों में। ...माँ अभी-अभी पूजाघर की ओर गयी है... बाबूजी की किसी ग्रन्थ का सस्वर पाठ करती हुई आवाज कहीं गूँज रही है ...वक्त का एहसास खत्म हो गया है...।

कितनी देर उस अवस्था में रहा हूँगा, यह तक नहीं पता।

फिर मुझे लगा जैसे चेतना लौट रही है। मैंने अपने आप को छू कर देखा— मैं ज़िन्दा था।

मैंने अपने गालों पर हाथ फेरा— वे आँसुओं से तर थे।

रक्त प्रवाह, साँस, देह— सब स्थिर थे, जैसे किसी प्रेतात्मा के चंगुल से अभी-अभी मुक्त हुए हों।

मैं डगमगाता हुआ उठ खड़ा हुआ। लग रहा था जैसे किसी लम्बे स्वप्न से अभी-अभी जागा हूँ।

मैंने पूरे हॉल पर दृष्टिपात किया— सामने स्टेज पर झूलते बड़े लाल पर्दे...उन पर गोलाई में घूमती रोशनी की किरणें... पार्श्व मे बजता उत्तेजक संगीत...दीवारों पर लगी कामुक तस्वीर मखमली अँधेरो मे सुनहरी रोशनियों के वृत्त हरेक वृत्त के नीचे एक सोफा

समूह...उन पर कामक्रीड़ा रत पुरुष और अर्धनग्न वेश्याएँ, जिन्हे पीटर होर कहता था...।

मै घबरा गया, ये... ये मैं कहाँ आ गया हूँ? ...कौन लाया है मुझे यहाँ? कितनी देर से यहाँ हूँ मैं? ...मैं आखिर कर क्या रहा हूँ यहाँ? ...कोई मुझे यहाँ देख लेगा तो?...

भाग चल...भाग चल यहाँ से... दोगले आदमी...।

मैं लड़खड़ाता-टकराता हुआ टेबलों के बीच से उस ओर दौड़ा जहाँ नक्काशीदार दरवाज़ा था।

दरवाज़ा इस बार सिर्फ मेरे लिए खुला और मै जैसे जान बचा कर बाहर आ गिरा।

शायद दो बज रहे होंगे रात के। ज्यूरिख शहर मे सिर्फ रोशनियाँ जाग रही थीं। आकाश साफ था। हवा सर्द थी। फिर भी मुझे अच्छा-सा लग रहा था। कुछ-कुछ प्रेत बाधा से मुक्त होने जैसा।

बोन होफ स्ट्रासे तक पहुँचने के बाद मैंने नोट किया कि मारिया साथ आ रही है।

''मैं चला जाऊँगा।'' मैने कहा।

''नहीं, आगे एक स्ट्रीट पर अँधेरा है।'' उसने ऐसे कहा, जैसे उस पर कोई जबाबदारी आ गयी हो।

''अच्छा तो?''

''तो क्या? उस अँधेरे से तुम्हें निकाल कर रोशनी तक ले जाना मेरा फर्ज है।''

मुझे लगा कि इस बार मैं हँसने लगूँ और लगातार हँसता चला जाऊँ। रात दो बजे...शहर ज्यूरिख के इस सन्नाटे में। इक्की-दुक्की खिड़कियाँ खोल कर लोग देखें भी तो क्या सोचेंगे? यही ना कि ऐसा तो होता ही रहता है। इतनी रात को, शराब के नशे में, एक वेश्या के साथ लड़खड़ाता हुआ आदमी ऐसी हरकत नहीं करेगा तो और करेगा क्या?

लेकिन मैं चुप रहा। मुझे डर था कि अगर हँसना शुरू किया तो पता नहीं कब रोने लगूँगा।

अगली सुबह मैं देर से सोकर उठा था। पीटर ने ही जगाया था— ''चलना नहीं है क्या? कब तक सोओगे?''

आज धूप निकल आयी थी। रास्ते भर, ज्यूरिख खिला-खिला लग रहा था, इतने दिनों की अनवरत झर-झर बारिश के बाद। हम लिम्मत नदी के पुल पर से गुजरे। नीचे जल प्रवाह में असंख्य छोटी-छोटी लहरों पर धूप झिलमिला रही थी। कतारबद्ध मकानों की लाल ढलवाँ छतें खूब धुली-धुली लग रही थी। बिना छतरियों की सड़कें कुछ अधिक ही खुश-खुश लग रहीं थी। बहुत दूर, लिम्मत झील की दिशा में धूप में चमकती चाँदी की पर्वत श्रृंखलाएँ आकाश के ठीक बीच मे टँगी थी। गहमा गहमी के बीच से गुजरते हुए सभागार की ओर जाना अच्छा लग रहा था।

आज सेमिनार का अन्तिम सत्र था।

अनेक प्रतिनिधि जिन्होंने कल लाऊंज मे मारिया के साथ मेरी बातें सुनी थी, यह जानने को उत्सुक थे कि मेरा हाऊस ऑफ लस्ट का अनुभव कैसा रहा?

इसलिए सत्र के अन्त में मैं अध्यक्ष की अनुमति ले कर मंच पर आ गया।

'सम्माननीय प्रतिनिधि गण,'— मैने माइक पर कहा, ''मैं आज सन्तोष के साथ कह सकता हूँ कि कल का मेरा प्रयोग सफल रहा। मैंने यह भी अनुभव किया कि किसी को पाप के अँधेरों से निकाल कर रोशनी दिखाने के लिए बड़े-बड़े वक्तव्य और उपदेश आवश्यक नहीं होते... न ही आवश्यक होता है कोई भव्य व्यक्तित्व बस, किसी चेहरे पर उभर आयी करुणा और दया की एक दृष्टि ही पर्याप्त है। संयोग से कल वह चेहरा मारिया का था। पाप के अँधेरों से तो मुझे निकलना था...।''

मेरी बात सुन कर सभागार में विस्मय और रोष की एक लहर-सी उठी थी, जिसे मैं मंच से देख सकता था। वे एक साथ कानाफूसी करने लगे थे।

मैं आगे बढ़ा— ''इसलिए प्रतिनिधि गण... अब मैं उस कुर्सी पर बैठने के लिए स्वयं को काबिल नहीं पाता, जिसके सामने मेरे नाम की पट्टिका लगी है। मुझे लगता है कि वह स्थान ग्रहण करने के लिए मारिया ही अधिक उपयुक्त है— इस हॉल में, आप सभी प्रबुद्ध प्रतिनिधियों के बीच। इस निवेदन के साथ ही मैं, इस गरिमामयी संस्था को छोड़ने की इजाजत चाहता हूँ आप सब से। मुझे ज्यूरिख याद रहेगा।''

पीटर दौड़ता हुआ आया था और हाथ पकड़कर मुझे खींचता हुआ मंच से नीचे ले गया था।

हम सभागार से बाहर आ गए थे तब भी मैं भीतर उठती ऊँची आवाज़ों को सुन सकता था। सब एक साथ बोल रहे थे। शब्द साफ नहीं थे। यकीनन वे मुझे कोस रहे होंगे और अपमान जनक बोल रहे होंगे मारिया के लिए।

मैं जानता था कि ये आवाज़ें मुझसे पहले ही 'नचिकेता' तक पहुँच भी जाएँगी।

हम सभागार को पीछे छोड़ते हुए उन आवाजों की पहुँच से दूर हो गए थे।

लेकिन उस लोहे के बने नक्काशीदार लैम्प पोस्ट के पास पहुँच कर पीटर एक क्षण के लिए ठिठक गया।

''क्यों रुक गए?'' मैने पूछा।

''नहीं, वैसे ही...वह है नहीं अभी यहाँ... मैं सोच रहा था कि अगर वह होती तो तुम उससे कुछ बात कर लेते।'' उसने उस जगह की ओर देखते हुए कहा, जहाँ वह कल मिली थी।

मैं उसका चेहरा देखता रह गया था।

मो.: 09873498873

*स्त्री जब जिंस में तब्दील हो जाए तो उसकी एक निश्चित क़ीमत तय कर दी जाती है। ऐसी भी जातियाँ हैं, जहाँ लड़की या स्त्री एक नहीं कई बार शादियाँ-रचा सकती हैं सिर्फ़ इस प्रथा के तहत कि लड़केवाले लड़की के बाप को दहेज देते हैं। जो ज़्यादा दहेज देगा, स्त्री उस घर की हो जाती है, लेकिन पहलेवाले पति को दहेज लौटाने के बाद। अजीब है स्त्री जीवन की यह कथा कि कहाँ से होती है शुरू और कहाँ होती है ख़त्म। प्रेम जहाँ अपराध है और अपराध नैतिक बोध की अनिवार्यता। समाज की शर्मिन्दगी में झूलता एक सवाल।*

## पंकज सुबीर

# जनाब सलीम लँगड़े और श्रीमती शीला देवी की जवानी

**यह कहानी सुने** जाने से पहले कुछ जानकारियों से अवगत होने की माँग करती है। उन जानकारियों की रोशनी के अभाव में कहानी कुछ अविश्वसनीय लगेगी। इसलिए बहुत संक्षिप्त-सी जानकारी यहाँ दी जा रही है। इसे भी कहानी का हिस्सा ही मान कर पढ़ा जाए। कहानी की कहानी और ज्ञान का ज्ञान। असल में यह कहानी एक विशेष अंचल की है। इस अंचल के कुछ जिलों में कई सारी जातियों की मिली-जुली जनसंख्या है। इस मिली-जुली जनसंख्या में कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं, जो बिल्कुल भी यहाँ की नहीं लगती हैं। न रंग-रूप में और न ही आचार-व्यवहार में। ये कहाँ से आए? 'आए' शब्द का प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि इनका आचार-व्यवहार भी इस अंचल के लोगों से बिल्कुल ही अलग है। और उस अलग में से ही किसी एक अलग पर हमारी यह कहानी चलती है। इन लोगो में एक बहुत ही अजीब-सी प्रथा है। अजीब तो है लेकिन पहली बार सुनने में अच्छी भी लगती है कि चलो कहीं तो ऐसा भी हो रहा है। असल में इन लोगों में लड़कियों की शादी होने पर लड़की का पिता लड़केवालों से दहेज़ लेता है? दहेज़? लड़की का पिता? जी हाँ यही एक अजीब-सी बात है। इसी कारण इन लोगों में जब भी लड़की का जन्म होता है तो ख़ुशियाँ मनायी जाती हैं और लड़के के जन्म पर बाप दहेज़ की तैयारियों में लग जाता है। कई बड़ी-बड़ी उम्र के लड़के इस समाज में कुँआरे घूमते दिखाई देते हैं। कारण? वही, पिता के पास देने के लिए दहेज़ नहीं था। यह दहेज़ अधिकतर सोने-चाँदी के रूप में लिया जाता है। लड़की के जन्म पर जो खुशियाँ मनायी जाती हैं वह देखने लायक होती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जो बड़ी संख्या में कुँआरे रह जाते हैं, उनका क्या होता है? उनके पास दो ही रास्ते होते हैं, पहला तो यह कि पुरुष और पुरुष ही आपस में जोड़े बना लेते हैं। इस प्रकार के जोड़े बहुतायत दिखायी देते हैं। दूसरा रास्ता यह कि क़रीब बीस-पच्चीस

**पंकज सुबीर :** सुपरिचित कथाकार। तीन उपन्यास, दो कहानी संग्रह, रवीन्द्र कालिया के साथ सात सम्पादित कथा-संग्रह। ज्ञानपीठ युवा पुरस्कार, जे.पी.जोशी शब्द-साधक पुरस्कार, म.प्र. का वागीश्वरी सम्मान, इन्दु शर्मा कथा-सम्मान। कुछ कहानियों पर फ़िल्में। प्रकाशन चलाते हैं और सीहोर में रहते हैं।

कुँआरे पुरुष मिलकर पैसे एकत्र करते हैं। जिसके पास से जितने आ जाएँ। पैसे एकत्र करके यह लोग एक लोडिंग मेटाडोर किराये पर लेते हैं। क़रीब डेढ़ सौ किलोमीटर दूर स्थित आदिवासी अंचल में जाते हैं। वहाँ जाकर थोक के भाव में लड़कियाँ या औरतें ख़रीद लाते हैं। और फिर उनको लाकर पैसों के हिसाब से बाँट लेते हैं। जिसने ज़्यादा पैसे दिए थे, उसके हिस्से में कम उम्र की लड़की और जिसने कम दिए थे, उसके हिस्से में अधिक उम्र की औरत। व्युत्क्रमानुपात यह काम पूरी ईमानदारी से किया जाता है। इस काम में पैसे उसकी तुलना में बहुत कम लगते हैं, जिसे शादी कहा जाता है। अपने समाज की लड़की के पिता को बहुत सारा पैसा देकर शादी करने से अच्छा, आदिवासी लड़की के पिता को पैसा देकर लड़की या औरत ख़रीद लाओ। ऐसे लोगों को, जिन्होंने यह काम किया है, कुछ नीची नज़रों से देखा जाता है, लेकिन क्या फ़र्क पड़ता है नीची या ऊँची नज़र से, घर तो बस जाता है।

यह तो हो गयी एक प्रथा, चलिए अब दूसरी की ओर चलते हैं। पिछलीवाली से भी अधिक अविश्वसनीय प्रथा। प्रथा यह कि इनमें शादी हो जाने के बाद भी लड़की के सर्वाधिकार उसके पिता के पास सुरक्षित रहते हैं। मतलब? मतलब यह कि लड़की का पिता कभी भी अपनी बेटी को वापस ला सकता है। दहेज़ में लिया गया पैसा लौटा कर। समाज की एक पंचायत बैठती है और छोड़-छुट्टी हो जाती है। पैसा वापस, लड़की वापस। इसके बाद लड़की का पिता लड़की को दूसरे को दे सकता है, दे देता है। असल में तो यह होता ही इसलिए है कि किसी दूसरे ने अधिक पैसा ऑफर कर दिया था। इस दूसरी बार जाने को नातरा कहते हैं। एक ऐसी भी महिला भी है, जिसका दस बार नातरा हो चुका है। और उस पर भी गज़ब यह कि इन दस बार में वह एक ही व्यक्ति के पास तीन बार गयी। दहेज़ लेने की सुनकर आपके मन में जो भाव आए थे, वह इस दूसरी सूचना से कड़वाहट में बदल गए होंगे। आपने सोच भी कैसे लिया था कि पुरुष प्रधान समाज महिला को लेकर कुछ अच्छा भी कर सकता है, रिवाजों के रूप में, परम्पराओं के रूप में, रवायतों के रूप में। तो, कोई क़ानून नहीं, कोई तलाक़ नहीं, बस समाज की पंचायत बैठी और दोनो पक्षों ने अपनी-अपनी बात रखी। जो पैसा पहलेवाले ने दिया था, वह पैसा समाज की पंचायत को लड़की का पिता सौंप देता है। पंचायत उसे पहलेवाले को देती है और हो गयी छोड़-छुट्टी। लड़की क़ानूनी रूप से वापस पिता की सम्पत्ति हो जाती है। यह अलग से बताने की आवश्यकता तो नहीं है न कि लड़की के पिता ने जो पैसा वापस किया है, वह कोई अपनी जेब से नहीं किया है, बल्कि दूसरे दावेदार से लेकर दिया है। लड़की का नातरा अब दूसरे के साथ हो जाता है।

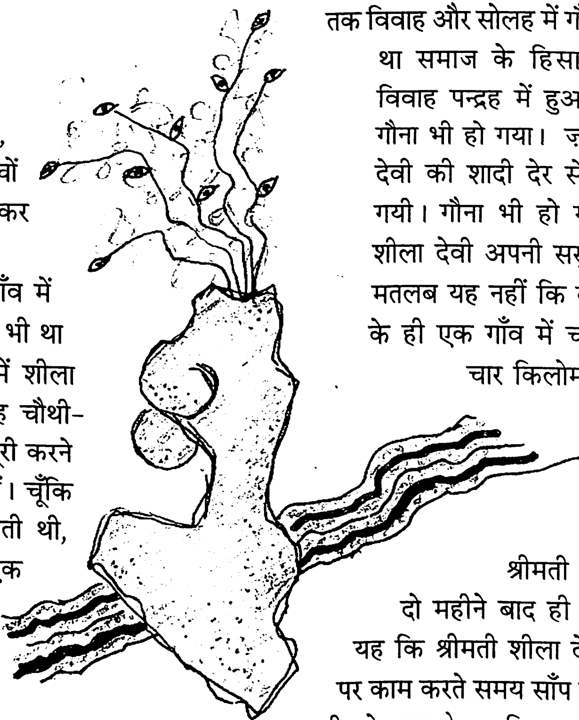
बस इतनी-सी जानकारी जानना कहानी को जानने के लिए आवश्यक था। इसलिए क्योंकि यह जानकारी बहुत ही अविश्वसनीय है। इसे सीधी भाषा में बेटी बेचना भी कह सकते हैं। अस्थाई रूप से। आज शिक्षा के कारण यह कम तो हो रहा है, लेकिन वह कम बहुत मामूली-सा ही है। एक बात और इसमें यह भी है कि लड़की की शादी अकसर तेरह-चौदह की उम्र में ही कर दी जाती है। बाल विवाह? जी हाँ बाल विवाह। कोई नहीं रोकता, कोई नहीं रोक सकता। जिस उम्र में क़ानून विवाह की अनुमति देता है, उस उम्र तक तो यह लड़कियाँ शायद दो-तीन घरों के फेरे लगा चुकी होती हैं। एक और अजब-सी बात है इस पूरी जानकारी में, वह ये कि इन स्त्रियों का अपने पतियों से कोई लगाव नहीं होता है। मतलब यह कि जब एक के घर से छोड़-छुट्टी के बाद दूसरे के यहाँ भेजा जाता है, तो पिछलेवाले के मोह का कोई संकेत नहीं मिलता। लगता ही नहीं है कि इनको इनके पति से अलग किया जा रहा है। जैसे ऊधौ घर रहे वैसे रहे बिदेस। यह इस पूरी दास्तान का सबसे हैरतअंगेज़ तथ्य है। शादी हुई, साथ रहे, और अचानक छोड़ के किसी दूसरे के घर चल दिए, इस प्रकार से मानो कुछ हुआ ही नहीं हो। कहा तो यह जाता है कि यदि किसी जानवर के साथ भी रह लो, तो उससे भी लगाव हो जाता है, मोह हो जाता है। यहाँ तक कि निर्जीव चीज़ों से भी कुछ समय बाद मोह हो जाता है, लेकिन जाने क्या था इन जातियों की स्त्रियों में कि उनको मोह व्यापता ही नहीं था। एक और अलग बात इन जातियों में यह थी कि इनमें देह के प्रश्नों को लेकर कोई बहुत ज़्यादा वर्जनाएँ, नैतिकता के सवाल आदि नहीं खड़े होते थे। पाश्चात्य समाज में देह की स्वतन्त्रता की जो बात है, दबे-छिपे में उससे कहीं ज़्यादा प्रगतिशीलता इन जातियों में थी। शायद इसके पीछे कारण यह था कि विवाह नहीं हो पाने की समस्या के कारण इस प्रकार के चोर रास्तों की आवश्यकता सभी को पड़ती थी, सभी पुरुषों को। न तू मेरी कह और न मैं तेरी किसी से कहने जाऊँगा। उजागर तो नहीं, लेकिन अन्दर ही अन्दर सब कुछ होता था और सबको पता भी होता था। सामान्य-सी घटना की तरह उसे लिया जाता था।

आइये अब चलते हैं कहानी के दोनों प्रमुख पात्रों की ओर। पहले बात जनाब सलीम लँगड़े की। लँगड़ा शब्द कहानीकार द्वारा उपहास उड़ाने के लिए नहीं किया जा रहा है। असल में समाज में कुछ नाम ऐसे ही होते हैं। सलीम लँगड़े जो थे वह उस गाँव के पास के गाँव के थे, जिससे गाँव की श्रीमती शीला देवी थीं। यहाँ हर दो-तीन किलोमीटर पर गाँव हैं। कुछ छोटे, तो कुछ बहुत ही छोटे, टप्पर गाँव टाइप के। पगडंडियों से जुड़े हुए गाँव। पता चलता है कि किसी का घर एक गाँव में है और खेत दूसरे गाँव में है। कई गाँव तो ऐसे भी हैं कि उनके नाम भी युगल में ही लिए जाते हैं जैसे हरसपुर-बिछोली, थूना-पचामा आदि-आदि। ये वास्तव में दो गाँव हैं, लेकिन इतने पास-पास हैं कि एक ही साथ इनका नाम लिया जाता है। तो, सलीम लँगड़े जो थे वे भी इसी प्रकार के एक जुड़वें गाँव में रहते थे जो कि श्रीमती शीला देवी के गाँव से

जुड़ा था। सलीम लँगड़े का बचपन में एक पैर टूट गया था और ठीक प्रकार से जुड़ नहीं पाया था, इस कारण उस पैर की तरफ़ से कुछ कमज़ोर थे वे। बचपन में ही उनके नाम के साथ उपनाम भी जुड़ गया था। उपनाम इसलिए कि उस गाँव में तीन सलीम थे। सलीम भूरा, मिच्चा सलीम और तीसरे ये। पहले ये केवल सलीम ही थे, लेकिन बाद में इनको भी उपनाम मिल गया। सलीम भूरा जो था वह आवश्कता से कुछ अधिक गोरा था इसलिए वह सलीम भूरा था। मिच्चा जो था वह बात करते समय अचानक एक आँख को मिचमिचा देता था इसलिए मिच्चा और तीसरे अपने सलीम लँगड़े। बाकी के दोनो सलीमों का इस कहानी से कोई लेना-देना नहीं है इसलिए उनको छोड़िए। बात अपने सलीम की। तो जनाब सलीम लँगड़े के एक पैर में कुछ लचक होने के अलावा कोई कमी नहीं थी। अच्छे ख़ासे थे। रूबरू जवान टाइप के। खेती भी और गृहस्थी भी थी। शादीशुदा थे और दो बच्चों के पिता भी थे। शौकीन मिज़ाज आदमी थे। घर से निकलते तो टिप-टाप होकर। सफेद कुरता-पायजामा, आँखों में सुरमा, मुँह में पान और उँगली के सिरे पर लगा हुआ चूना। कपड़ों पर हिना का अत्तर महकता रहता बारहों महीने। निकलते तो ख़ुशबू को एक भभका-सा छोड़ते जाते। भभका? हाँ भभका ही। उम्र यही कोई सत्ताईस-अट्ठाईस। इस उम्र में दो बच्चे भी? उसमें क्या है, यदि उन्नीस में शादी हुई तो इस उम्र तक क्या दो भी नहीं होंगे? बल्कि ये तो कम है, अभी तक तो चार हो जाने चाहिए थे। सलीम लँगड़े अपनी खेती-बाड़ी सँभालते थे। बाकी का समय उसी प्रकार से काटते थे, जिस प्रकार से गाँव के बाकी के युवक काटते थे। मतलब चौपाल पर बैठकर ताश खेलना, ज़र्दा मलना, सरौती से सुपारी काटना, मलना, खाना और थूकना। दिन कब निकल जाता, पता ही नहीं चलता था। घर में बेगम बच्चों को सँभालती थीं और घर को भी। कुल मिलाकर ज़िन्दगी ठीक-ठाक चल रही थी।

सलीम लँगड़े का घर और खेत जिस गाँव में था, उस गाँव में श्रीमती शीला देवी का खेत भी था और सरकारी स्कूल भी। स्कूल? असल में शीला देवी भी गाँव की दूसरी लड़कियों की तरह चौथी-पाँचवी तक की पढ़ाई की औपचारिकताएँ पूरी करने इसी स्कूल में आयी थीं। सरकारी स्कूल में। चूँकि हर गाँव में सरकार स्कूल नहीं खोल सकती थी, इसलिए वह दो-तीन गाँवों के बीच में एक स्कूल खोल देती थी। आसपास के गाँवों के बच्चे पढ़ाई छोड़ने से पहले तक उसी स्कूल में आते थे। जैसे शीला देवी भी आयीं थीं। और जनाब सलीम लँगड़े के साथ एक ही कक्षा में पढ़ी थीं। शीला देवी ने कुछ पहले पढ़ाई छोड़ी और जनाब सलीम लँगड़े ने कुछ साल बाद। पढ़ाई छोड़ना कहना ठीक नहीं है, असल में स्कूल छोड़ना कहना होगा, क्योंकि स्कूल में पढ़ाई होती ही कब थी। बच्चे स्कूल छोड़ते थे, पढ़ाई नहीं। अब इसको ऐसा मत समझिए कि जनाब सलीम लँगड़े और शीला देवी यदि एक ही स्कूल में पढ़े हैं, तो उनके बीच में स्कूल में कहीं कुछ पनप गया होगा। नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं हुआ था। बल्कि शक्ल-सूरत थोड़ा बहुत जानने के अलावा और कुछ भी नहीं हुआ था।

आइए अब बात करते हैं शीला देवी की। शीला देवी अच्छी-खासी सुन्दरी थीं। पन्द्रह की उम्र में ही भरी-पूरी स्त्री लगती थीं। सुन्दर थीं, इसलिए पिता को और अच्छा दहेज़ मिलने की उम्मीद थी, और मिला भी। शीला देवी के तीन भाई थे, उन पर एक अकेली बहन थीं वो। दो भाई उनसे बड़े थे और एक छोटा। अभी किसी का भी विवाह तय नहीं हुआ था। नहीं हुआ था, तो उसके पीछे भी वही समस्या आड़े आ रही थी, दहेज़ की। सोचा यह गया था कि शीला देवी के विवाह से प्राप्त दहेज़ को कम से कम दो बड़े भाइयों के विवाह में उपयोग कर लिया जाएगा, जो बिल्कुल ही 'छिकने' की कगार पर आ चुके हैं। अगर और दो-तीन साल शादी नहीं की गयी तो गाँव की कहावत के अनुसार टेमरू झड़ जाएगा। छोटा भाई भी बड़ों के पीछे लगा-लगाया ही आ रहा था। शीला देवी का विवाह पन्द्रह की उम्र में हुआ। समाज के हिसाब से कुछ देर से हुआ। क़ायदे में बारह की उम्र तक विवाह और सोलह में गौना, यह सबसे अच्छा समीकरण था समाज के हिसाब से। मगर शीला देवी का विवाह पन्द्रह में हुआ और अठारह लगते न लगते गौना भी हो गया। ज़्यादा दहेज़ के चक्कर में शीला देवी की शादी देर से हुई। ख़ैर देर से हुई पर हो गयी। गौना भी हो गया और शीला देवी, श्रीमती शीला देवी अपनी ससुराल चली गयीं। ससुराल का मतलब यह नहीं कि बहुत दूर चली गयीं, वहीं पास के ही एक गाँव में चली गयीं। पास मतलब तीन-चार किलोमीटर दूर के गाँव में। जब इच्छा हो तो पैदल-पैदल अपने मायके आ जाओ। इतना चलना तो रोज़ अपने खेत जाने के लिए भी करना ही पड़ता था।



श्रीमती शीला देवी के गौने के क़रीब दो महीने बाद ही घटनाक्रम शुरू होता है। हुआ यह कि श्रीमती शीला देवी की माताजी अचानक खेत पर काम करते समय साँप काटने से चल बसीं। पत्थरवाले पीर के चबूतरे पर दिन भर झाड़ा-फूँकी होती रही। मगर

कुछ न हो सका। साँप का ज़हर अपना काम कर गया। और श्रीमती शीला देवी का मायका स्त्री विहीन हो गया। मतलब यह कि अब घर के काम-काज करने की ज़िम्मेदारी चारों पुरुषों पर ही आ गयी। एक बाप और तीन बेटे। कुछ दिन के लिए शीला देवी ने आकर मायका सँभाला, लेकिन फिर ससुराल से लिवव्वा आ गए और जाना पड़ा। अच्छा तो नहीं लग रहा था पिता और भाइयों को इस प्रकार छोड़कर जाना, लेकिन जाना तो था। मगर फिर भी श्रीमती शीला देवी का एक-दो दिन में इधर का चक्कर लग ही जाता था। आकर इकट्ठी रोटियाँ सेंक कर रख जातीं। साफ-सफाई कर जातीं। उपले थोप जातीं। मतलब यह कि माँ की ज़िम्मेदारी निभा कर वापस अपने घर। इस समाज में स्त्री दोहरी ज़िम्मेदारी उठाती है, घर की भी और खेत की भी। घर का काम पूरा करके स्त्रियाँ खेत पर चली जाती हैं और वहाँ नींदना, गोड़ना, काटना, मवेशियों को सानी-पानी देना जैसे काम में जुटी रहती हैं। दिन में पुरुष खेत छोड़कर दूसरे कामों से चले जाते हैं और स्त्रियाँ खेत पर बनी रहती हैं। शाम को पुरुष खेत पर लौटते हैं और स्त्रियाँ दुधारू पशुओं को साथ लेकर घर लौट आती हैं। बहुत मेहनमकश होती हैं ये स्त्रियाँ।

तो दोनों ही स्थानों पर स्त्री की कमी खलने लगी। पिता ने दोनों बड़े भाइयों की शादी के लिए भाग-दौड़ शुरू कर दी। घर में अब एक औरत की तुरन्त ही आवश्यकता थी, जो आकर घर को सँभाल सके। मगर उस समाज में लड़कों का विवाह करना इतना मुश्किल था, जितना दूसरे समाजों में लड़की का विवाह करना भी नहीं था। लड़की के पिताओं की नाक पर मक्खी तक भी नहीं बैठ पाती थी। छोटी-मोटी जोत के किसानों को तो लड़की का बाप ऐसी हिकारत से देखता था कि बस। ज़मीन, सोना, चाँदी, घर-बार, मतलब यह कि लड़की ले जाने की औक़ात है भी कि नहीं तुम्हारी। तो शीला देवी के पिता के भी सचमुच में ही जूते घिस गए। इस गाँव से उस गाँव भागते-दौड़ते। कहीं भी कोई सकारात्मक उत्तर नहीं मिल पा रहा था। कारण यह भी था कि जो कुछ पूँजी हाथ में थी उसमें दो लड़के निपटाने थे। एक के लिए तो वह पूँजी ठीक-ठाक थी, लेकिन दो के लिए तो बहुत कम हो रही थी। शीला देवी के पिता की मुसीबत यह थी कि यदि केवल एक की शादी कर देते हैं, तो पीछे से दूसरा जो तैयार खड़ा है, उसका क्या होगा? और उसके पीछे तीसरा भी तो है। शीला देवी के विवाह से जो मिला था उसमें कम से कम दो तो निपटें।

कहते हैं जहाँ चाह होती है वहीं राह भी होती है। अब राह तो होती है, लेकिन कैसी होती है इसकी कोई गारंटी नहीं होती है। दूर के गाँव में एक ही परिवार में दो लड़कियाँ शादी के लायक मिलीं। मगर दिक़्क़त यह थी कि उनके घर में एक बड़ा भाई भी कुँआरा बैठा था। लड़कियों के पिता ने मज़ाक में कहा कि लड़की ब्याहने के पहले आ जाते, तो अट्टा-सट्टा (अदल-बदल) कर लेते, दो लड़कियाँ तुमको दे देते और एक लड़की तुमसे ले लेते। खाना खाते में लड़की के पिता ने बात कही और शीला देवी के पिता का खाना खाते हुए हाथ रुक गया। उन्होंने लड़कियों के पिता को देखा, जो कुटिलता के साथ मुस्करा रहा था। शीला देवी के पिता ने भी एक भरपूर कुटिल मुस्कराहट उत्तर में। इन मुस्कराहटों के आदान-प्रदान में बहुत कुछ था, जो केवल यह दोनों ही जानते थे।

भोजन के बाद फिर से बैठक जमी। बात निकली थी, तो उसको दूर तलक भी तो जाना था। प्रश्न यह था कि जो पैसा श्रीमती शीला देवी के दहेज़ में प्राप्त हुआ है, वह तो समाज की पंचायत को लौटाना होगा, छोड़-छुट्टी के लिए। जो वापस शीला देवी के पति को दिया जाएगा। ऐसे में यह जो एक के बदले में दो का सौदा है, यह किस प्रकार से पूरा होगा? लड़कियों का बाप चाह रहा था कि एक लड़के के लिए तो लड़की अट्टा-सट्टा कर ली जाए, लेकिन दूसरी लड़की एकदम से मुफ़्त में कैसे दे दी जाए? बहस लम्बी चली, और अन्त में श्रीमती शीला देवी की सुन्दरता के चर्चों ने ही बाज़ी मार ली। कारण यह भी रहा कि लड़कियों के पिता की माली हालत, श्रीमती शीला देवी के पिता से उन्नीस भी नहीं बल्कि चौदह-पन्द्रह ही थी। उसका लड़का छिका जा रहा था। और अन्त में डील डन हो गयी।

इधर डील डन हुई और उधर सप्ताह भर के अन्दर ही श्रीमती शीला देवी के पति की मति फूट गयी। शीला देवी रोज़ अपने मायके नहीं जाती थीं। दो-तीन दिन में चक्कर लगता था। उस दिन जब वापसी हुई तो कुछ देर हो गयी। असल में उधर पिता सम्बन्ध की बात करके लौटे थे, सो बातचीत में कुछ वक़्त लग गया। लौटते में कुछ देर हो गयी। इधर पति खेत से लौट चुका था और शीला देवी को घर पर नहीं पाकर परेशान हो रहा था। श्रीमती शीला देवी ने जब अपने घर में प्रवेश किया तब तक पति का पारा सातवें नम्बर के आसमान के आसपास ही था। ग़ुस्से ने उसके दिमाग़ को इतना कुन्द कर दिया कि वह नातरा नामक सामाजिक प्रथा को ही भूल गया। वह हो गया जो नहीं होना था। वह हो गया जो श्रीमती शीला देवी के पिता के हिसाब से देखें तो हो जाना था।

अगले दिन श्रीमती शीला देवी के पति सुबह खेत गए और शीला देवी ने मायके की राह पकड़ ली। यहाँ पर कुछ लोगों के अनुसार एक छोटा-सा पेंच है। कहनेवाले कहते हैं कि असल में तो श्रीमती शीला देवी के पिता ने उनको सिखा-पढ़ा कर ही भेजा था कि एक-दो दिन में मामले को ख़त्म करके वापस मायके आ जाओ। छोटे भाइयों की शादी का सवाल था। एक साथ दोनों भाइयों का मामला जमने जा रहा था। और रहा सवाल मोह का, तो वो तो व्यापता ही कब था? ख़ैर कारण जो कुछ भी रहा हो, लेकिन हुआ यही कि श्रीमती शीला देवी ने मय साजो-सामान के अगले दिन मायके में थी। पति के पैरों के नीचे से ज़मीन खिसक

गयी। उसने अपने स्तर पर भाग-दौड़ शुरू की। शीला देवी के पिता की मिन्नतें की, भाइयों की हाथा-जोड़ी की। रिश्तेदारों के तलवों में तेल लगाया, किन्तु हर जगह ढाक के तीन पत्ते थे सो थे। पिता की तो योजना ही थी, भाइयों का घर बसने वाला था, और रिश्तेदार? रिश्तेदार तो घर टूटता देख ही खुश होते हैं, बसे हुए घर उनको सुहाते ही कब हैं।

समाज की पंचायत को सूचना दे दी गयी कि छोड़-छुट्टी की नौबत आ गयी है। पंचायत बिठाई जाए। छोड़-छुट्टीवाले मामलों में पंचायत को बस यह देखना होता था कि जो रकम लड़केवालों ने दी थी, वह वापस की जा रही है अथवा नहीं। विवाद हमेशा ही इस बात पर होता था। यदि रकम पूरी है तो फिर पंचायत को कुछ अधिक करना नहीं होता था। रकम जमा करवाओ और दे दो छोड़-छुट्टी। आषाढ़ माह का बीतता हुआ समय था, जब श्रीमती शीला देवी को छोड़-छुट्टी प्राप्त हो गयी। बीतता आषाढ़, मतलब लगती बारिश और लगती बारिश का मतलब यह कि अब शादियों के लिए कम-से-कम पाँच महीने का इन्तज़ार तो करना ही था। शादी? मगर श्रीमती शीला देवी का तो अब नातरा होना था न? हाँ सही है कि श्रीमती शीला देवी का अब नातरा होना था, शादी नहीं, किन्तु दोनों भाइयों की तो शादी ही होनी थी न? तो शादी के लिए अब पाँच महीने का इन्तज़ार होना था। लेकिन इस बीच श्रीमती शीला देवी के भावी ससुर तथा वर्तमान पिता ने मिलकर सारी बातें पक्की कर दीं। छोटा-मोटा कार्यक्रम भी कर दिया रोकने का। रोकना? समाज में लड़के या लड़की को शादी के लिए रोका जाता था। मतलब जिसे सभ्य समाज में सगाई कहा जाता है, उसे यहाँ पर रोकना कहा जाता था। तो इधर श्रीमती शीला देवी का रोकना हुआ और साथ में उनके दो भाइयों का भी रोकना हो गया। तीन लड़कियाँ और तीन लड़के रोके जा चुके थे। बरसात बाद शादियाँ होनी थीं।

श्रीमती शीला देवी का समय फिर से पहले की ही तरह हो गया। पहले जो काम माँ करती थी, वह अब शीला देवी को करना पड़ रहा था। बरसात लग चुकी थी। खेत में दस तरह के काम खुल गए थे। ज़रा पानी खुले तो खेतों में जाकर निंदाई, गुड़ाई करना होता था। मेड़ पर लगी घास को काटना। खरपतवार उखाड़ना, कुल मिलाकर यह कि श्रीमती शीला देवी का एक पैर घर में रहता था और दूसरा खेत पर। इस बीच एक समस्या यह हो गयी थी कि श्रीमती शीला देवी सात-आठ महीने ससुराल में रह आयीं थीं। रह आयीं थीं पुरुष के साथ, पुरुष की देह के साथ। देह और अफीम का एक ही क़िस्सा होता है, जब तक न चखो, तब तक कोई दिक़्क़त नहीं, लेकिन चख ली, तो लत लगेगी ही यह तय है। श्रीमती शीला देवी को भी लत लग चुकी थी। उमर भी भादौ की बरसाती नदी की तरह थी। अठारह की उम्र और वह भी सात-आठ माह तक पुरुष का संसर्ग पा चुकी उम्र, क्या कहें इसको, नीम चढ़ा करेला या सोने पर सुहागा? हँसिये से घास काटते-काटते इच्छा होती कि हँसिए को कलेजे में उतार लें। उस पर सचमुच में बरसात का मौसम। जितना भीगो, उतना जलो। घर के काम निपटा कर सोने जाती तो छप्पर पर बरसती बरसात की बूँदें सीधे कलेजे से टकराती। छुन्न-छुन्न। बिजली कड़कड़ाती, बादल गड़गड़ाते, बूँदें छनछनाती और श्रीमती शीला देवी की रात आँखों में कट जाती।

जनाब सलीम लँगड़े बरसात की उस दोपहर को अपने खेत पर जा रहे थे, जब उन्होंने श्रीमती शीला देवी की चीख सुनी। असल में शीला देवी खेत पर अकेली निंदाई करने में जुटी थीं कि अचानक तेज़ बरसात शुरू हो गयी। बरसात से बचने के लिए वे खेत पर बने टप्पर में खटिया पर आकर बैठ गयी थीं। कुछ ही देर में देखती क्या हैं कि एक करिया नाग भी टप्पर के दरवाज़े से अन्दर आ रहा है। बरसात में इस प्रकार कीड़े-काँटे निकलना गाँव के लिए आम बात थी। खटिया पर बैठी श्रीमती शीला देवी ने नाग को देखा, तो उनकी चीख निकल पड़ी। वही चीख जो जनाब सलीम लँगड़े ने सुन ली, काश कि सलीम लँगड़े, सलीम लँगड़े न होकर सलीम बहरे होते और वह चीख न सुन पाते। मगर नहीं थे, इसलिए चीख सुन ली और जितनी तेज़ चल सकते थे, उतनी तेज़ चलकर टप्पर तक पहुँचे। दरवाज़े पर भुजंग सरसरा रहा था। इसी बीच श्रीमती शीला देवी कोशिश करके एक बोरे का सहारा लेकर टप्पर में रखी एक कोठी पर चढ़ चुकी थीं। भुजंग ने जनाब सलीम लँगड़े को देखा तो वह फनफनाया। फुफकारा। सलीम लँगड़े भी कड़क जीव थे। बस पैर में ही थोड़ी-सी लचक थी, बाकी तो अल्लाह का करम था, अभी तक गबरू थे। निशाना चाहे, गुलेल का हो, कंचों का हो या लाठी का, एकदम सधा लगता था। हाथ की लाठी को हवा में साधा। पहला ही वार सीधा निशाने पर लगा, फन पर। भुजंग का पूरा शरीर लहर खाने लगा। अलबेटियों पर अलबेटियाँ पड़ रही थीं। दो, तीन, चार, पाँच प्रहारों में तो ठंडा पड़ गया वह।

श्रीमती शीला देवी कोठी पर से नीचे उतरने की कोशिश कर रही थीं, लेकिन उतर नहीं पा रही थी। कोठी ऊँची थी। चढ़ते समय तो चढ़ गयी थीं क्योंकि जान का संकट था। जनाब सलीम लँगड़े ने श्रीमती शीला देवी को उतरने की कोशिश करते हुए देखा, काश न देखते। काश जनाब सलीम लँगड़े, सलीम लँगड़े न होकर सलीम अन्धे होते। मगर नहीं थे, तो देख लिया। कुछ देर तक देखते रहे, अपनी पुरानी सहपाठिन को उतरने की कोशिश करते हुए। मर्यादा ने झोंपड़ी के दरवाज़े पर लक्ष्मण रेखा खींच रखी थी। करिया नाग की लक्ष्मण रेखा। जो ठंडा पड़ा हुआ था दरवाज़े पर, इधर से उधर तक। बरसात तेज़ हो रही थी। भादौ के बादल थे, बरस भी रहे थे और गरज भी रहे थे। लक्ष्मण रेखाएँ लाँघने के लिए ही खींची जाती हैं। जनाब सलीम लँगड़े को भी

**जनाब सलीम लँगड़े की सोच यह थी कि अपने को कौन शादी करनी है श्रीमती शीला देवी से। ज़ात अलग, मज़हब अलग। उस पर अपन तो ख़ुद ही शादी शुदा हैं, बल्कि दो-दो बच्चों के बाप भी हैं। और श्रीमती शीला देवी को भी तो महीने-दो महीने बाद ब्याह कर अपनी ससुराल जाना ही है। जहाँ उनको अपने पति से ही वह सब कुछ मिल जाएगा, जिसके लिए जनाब सलीम लँगड़े को इतनी दूर तक चलकर आना पड़ रहा है। बेचारी औरत, कहाँ इससे-उससे उम्मीद रखे, फरियाद करे, चलो... हम ही सही। देर रात घर में यह कहकर कि खेत का चक्कर लगा कर आ रहे हैं, कम्बल ओढ़कर निकलते। खेत का चक्कर लगाते और लौट आते। कौन पूछनेवाला था घर में कि किस खेत का चक्कर लगा कर आ रहे हो। कहावत की भाषा में कम्बल ओढ़ कर घी पी रहे थे जनाब सलीम लँगड़े।**

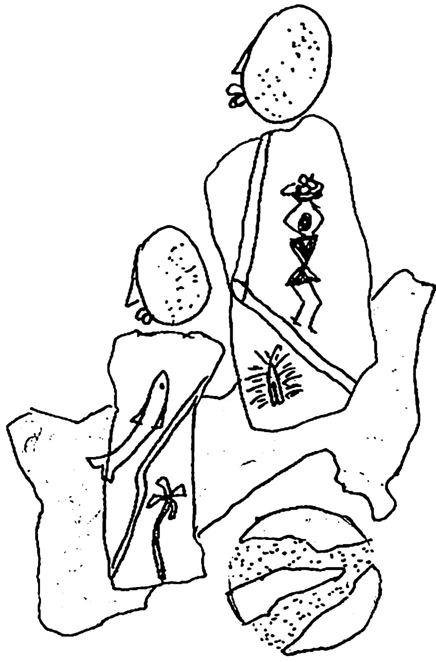
करिया नाग को लाँघना पड़ा। श्रीमती शीला देवी उतरने की हर कोशिश में नाकाम हो रही थीं। सलीम लँगड़े ने कोठी के पास पहुँच कर अपना हाथ बढ़ाया। सकुचाते हुए श्रीमती शीला देवी ने हाथ को पकड़ा। करिया नाग ने ठीक वहीं फन मारा जहाँ हाथ आपस में जुड़े। करिया नाग ने? मगर वह तो दरवाज़े पर मरा पड़ा था न? हिना का अत्तर श्रीमती शीला देवी की साँसों में घुलकर ज़हर की तरह नस-नस में फैल गया। बाहर बरसात मूसलाधार से भी कुछ अधिक तेज़ हो चुकी थी?

उतरने के क्रम में जैसे ही श्रीमती शीला देवी का पूरा वज़न जनाब सलीम लँगड़े पर आया, वैसे ही गड़बड़ हो गयी। गड़बड़ यह कि सलीम लँगड़े अपने अच्छे वाले पैर पर वज़न साधें, उससे पहले ही हड़बड़ाहट में सारा वज़न उस पैर पर आ गया, जो ख़राब था। वो डगमगा गए। साथ में श्रीमती शीला देवी भी डगमगा गईं। सँभलते-सँभलते भी दोनों नीचे गिर गए। दोनों। काश नहीं गिरते। काश सलीम लँगड़े, सलीम लँगड़े न होकर सलीम हिजड़े होते। नहीं थे। हिना का अत्तर घुमड़ कर महका। दरवाज़े पर मरे पड़े करिया नाग तक जब हिना के अत्तर की महक पहुँची, तो वह ज़िन्दा हो गया। श्रीमती शीला देवी के पोर-पोर में हिना का अत्तर समा गया। पूरा टप्पर हिना की खुश्बू से महक उठा। करिया नाग डसता रहा, इस जगह, उस जगह, सब जगह। बादल गरजते रहे, बिजली चमकती रही और बूँदें बरसती रहीं। उस दिन ख़ूब बरसात हुई। गाँव से होकर बहनेवाली बरसाती नदी किनारों को तोड़ कर खेतों में जा घुसी। लोग कहते हैं कि बरसों बाद वह नदी इतने भयंकर रूप में उमड़ी। चारों तरफ़ पानी ही पानी हो गया।

उसके बाद की बरसात श्रीमती शीला देवी के लिए वैसी नहीं रही, जैसी कष्टदायक उस दिन के पहले थी। अब बरसात में ठंडक आ गयी थी। ठंडक आ गयी थी, या ठंडक पड़ती रहती थी। अब हिना का अत्तर खेत के उस टप्पर में गाहे-बगाहे महकने लगा था। बल्कि यह कहें तो ज़्यादा ठीक होगा कि हिना के अत्तर की भीनी-भीनी महक अब टप्पर में हमेशा ही बनी रहती थी। एक-दो दिन कम होती, फिर किसी दिन तेज़ हो जाती। जिस दिन तेज़ बरसात होती उस दिन ही अक्सर टप्पर भी तेज़ महकता। श्रीमती शीला देवी अब ख़ुश रहने लगी थीं। बहुत ख़ुश। जनाब सलीम लँगड़े को लगता था कि वह सबाब का काम कर रहे हैं। किसी दीन दुखियारी की मदद कर रहे हैं। प्यासे को पानी पिला रहे हैं। सो वो करते रहे।

मौसमों का काम है बीतना, सो वो बीतते रहते हैं। एक मौसम आता है, चला जाता है और दूसरा आ जाता है। बरसात भी कब तक रहती? उसे भी तो बीतना था, बीत गयी। बरसात का बीतना मतलब टप्पर के महकने का मौसम बीतना। बरसात बहुत-सी घटनाओं पर आड़ कर देती है, पानी की आड़। अब वह आड़ नहीं थी। अब ठंड आने को थी। खेतों पर खड़ी फसल के कटने का समय आ चुका था। खेतों पर पुरुषों की व्यस्तता बढ़ चुकी थी। ज़ाहिर-सी बात है श्रीमती शीला देवी के खेत पर भी पुरुषों की व्यस्तता बढ़ गयी थी। पुरुषों की व्यस्तता ने किसी एक पुरुष का खेत पर आना-जाना रोक दिया था। रोक दिया था मतलब यह कि आना-जाना, दुआ-सलाम तो हो रहा था, लेकिन सबसे हो रहा था। टप्पर के महकने के लिए ज़रूरी था कि दुआ-सलाम किसी एक ख़ास के साथ ही हो। श्रीमती शीला देवी की कहानी भी अजीब मोड़ ले रही थी। पहले सात-आठ महीने पति का साथ मिला, वो छूट गया। उसके बाद बरसात में कुछ ठंडक पड़ी, तो ठंड का मौसम आते ही वह ठंडक भी जून में बदल गयी। श्रीमती शीला देवी देखती थीं जनाब सलीम लँगड़े को, देखती थीं अपने भाइयों से, पिता से बतियाते। और देखती थीं उसे देखने को भी जो भाइयों और पिता से बात करते समय जनाब सलीम लँगड़े की ओर से होता था। उन निगाहों को जो हसरत से टप्पर को निहारती थीं। फ़सल की कटाई तक अब टप्पर के महकने की कोई सम्भावना नहीं थी, और फ़सल कटाई के बाद तो श्रीमती शीला देवी का नातरा होना था। उसके बाद तो उनको चले जाना था अपने दूसरे पी के घर। तो क्या अब कोई भी विकल्प शेष नहीं रह गया था?

ऐसा कभी नहीं होता है कि सारे विकल्प समाप्त हो जाएँ। ज़िन्दगी हमेशा कुछ विकल्पों को शेष रखकर ही चीज़ों को समेटती है। पुरुषों की खेतों पर व्यस्तता बढ़ी, तो घर में वो कम



रहने लगे। लेकिन घर तो गाँव में था और गाँव में तो लोग थे और लोगों के मुँह में तो जुबान थी। तो घर भला टप्पर का विकल्प किस प्रकार हो सकता था? जिस दिन सारे पुरुष खेत पर ही रात रुके, उस दिन ही श्रीमती शीला देवी को विकल्प मिल गया। रात। आती हुई सर्दी के मौसम की रात। और विकल्प ने अमली जामा पहन लिया। गाँव में रात जल्दी भी होती है और गहरी भी होती है। बिजली रहती नहीं है गाँव में रात भर। उस पर न कोई पुलिस का गश्ती दल, न चौकादार, न कोई और रोक-टोक। तो हुआ यह कि देर रात, जब पूरा गाँव नीम-बेहोशी जैसी नींद में सोया होता, तब एक साया उभरता। साया जो कुछ लचककर चल रहा होता। यह साया श्रीमती शीला देवी के घर में समा जाता। क़रीब घंटे भर बाद ही यह साया जिस रास्ते से आया था, उसी से लौटता हुआ दिखायी देता। अपने पीछे हिना के अत्तर की तीखी गन्ध छोड़ता हुआ। गन्ध, जो श्रीमती शीला देवी के घर में भी ऊब-चूब हो रही होती। रास्ते पर गन्ध खिंची होती एक डोर की तरह, ऐसी कि कोई भी सिरा पकड़े तो ठीक श्रीमती शीला देवी के घर तक पहुँचे।

गन्ध का सबसे बड़ा दुर्गुण यही है कि उसे छिपाया नहीं जा सकता। खेत में, जंगल में तो यह होता है कि वहाँ दस तरह की दूसरी वनगन्ध भी बिखरी होती हैं, इसलिए वहाँ अलग से किसी गन्ध को नोटिस नहीं किया जा सकता। फिर हवाएँ खेत में, जंगल में किसी एक ख़ुश्बू को देर तक एक जगह रुकने भी नहीं देती हैं। यहीं पर मात खा गए जनाब सलीम लँगड़े भी और श्रीमती शीला देवी भी। गाँव में, शहर में, घर में ख़ुशबू सुगबुगाहट पैदा करती है। और एक दूसरा परिवर्तन जो उन दिनों आ गया था, उससे भी यह दोनों ग़ाफ़िल थे। यह दूसरा परिवर्तन ख़तरनाक था, श्रीमती शीला देवी के लिए तो नहीं किन्तु जनाब सलीम लँगड़े के लिए तो था ही। क्योंकि उनका नाम सलीम था। यह नाम और इस जैसे सारे नाम धीरे-धीरे नफ़रत का पर्याय बनते (बनाए जाते) जा रहे थे। शहरों में यह नफ़रत तेज़ और स्पष्ट थी, तो गाँव में भी यह उस एक चीज़ को तो ख़त्म कर ही चुकी थी, जिसे बुज़ुर्ग भाईचारा कहते थे। यह इस कहानी का सबसे ख़तरनाक पहलू था। जनाब सलीम लँगड़े जिस काम को सबाब का काम मानकर करने जा रहे हैं वह ख़तरनाक हो सकता है।

जनाब सलीम लँगड़े की सोच यह थी कि अपने को कौन शादी करनी है श्रीमती शीला देवी से। ज़ात अलग, मज़हब अलग। उस पर अपन तो ख़ुद ही शादी शुदा हैं, बल्कि दो-दो बच्चों के बाप भी हैं। और श्रीमती शीला देवी को भी तो महीने-दो महीने बाद ब्याह कर अपनी ससुराल जाना ही है। जहाँ उनको अपने पति से ही वह सब कुछ मिल जाएगा, जिसके लिए जनाब सलीम लँगड़े को इतनी दूर तक चलकर आना पड़ रहा है। बेचारी औरत, कहाँ इससे-उससे उम्मीद रखे, फरियाद करे, चलो... हम ही सही। देर रात घर में यह कहकर कि खेत का चक्कर लगा कर आ रहे हैं, कम्बल ओढ़कर निकलते। खेत का चक्कर लगाते और लौट आते। कौन पूछनेवाला था घर में कि किस खेत का चक्कर लगा कर आ रहे हो। कहावत की भाषा में कम्बल ओढ़ कर घी पी रहे थे जनाब सलीम लँगड़े।

खेत की, जंगल की आँखें नहीं होतीं, लेकिन गाँव की होती है। जनाब सलीम लँगड़े का आना-जाना गाँव ने पहले टोहा, फिर टटोला और अन्त में देखा। देखने के बाद पहचानने की कोशिश की। और उसमें तो अधिक देर लगनी भी नहीं थी। और कुछ न भी हो, तो हिना का अत्तर तो था ही। जब हिना का अत्तर पहचाना गया, तो भृकुटियाँ तन गयीं और मुट्ठियाँ भिंच गयीं। चन्दन का इत्र होता, तो चलो बात दबा भी जाती, लेकिन हिना का अत्तर? बात श्रीमती शीला देवी के भाइयों तक पहुँची, पहले फुसफुसाहट के रूप में, फिर सुगबुगाहट के रूप में और फिर सीधे ग़ैरत के प्रश्न के रूप में। भाइयों ने प्रश्न को टालने की कोशिश की। बस महीने-दो महीने तो बचे ही हैं श्रीमती शीला देवी के नातरे में। जैसा कि बताया गया कि इन कुछ जातियों में दैहिक सम्बन्धों को लेकर एक प्रकार की लापरवाही थी। इन सवालों को बहुत बड़ा सवाल नहीं माना जाता था। हो गया, तो हो गया। हो सकता है इस प्रकार से भाइयों का पूरे मामले को केजुअल तरीके से लेना गले से न उतरे, लेकिन सच यही था कि उनके लिए तो यह केजुअल ही बात थी। किन्तु पूरा गाँव तो इन्हीं जातियों का नहीं था न? और यदि था भी तो यह तो बात ही अलग हो चुकी थी, यह तो दूसरा ही मामला था। यहाँ तो जनाब सलीम लँगड़े आ चुके थे।

सलीम लँगड़े की आमद अब पूरे गाँव की आँख में किरकिरी की तरह खटक रही थी। किरकिरी बनने के पीछे अनन्त काल से पाँच ही शब्द होते हैं—वह क्यों? हम क्यों नहीं? गाँव के लोगों ने अब दूसरे तरीके से भाइयों को समझाया। समझाया कि भाई अगले के तो धर्म में चार शादियाँ जायज़ हैं। तुम यह सोचकर लापरवाही कर रहे हो कि शादीशुदा है और किसी दिन वह इसे भी ले उड़ेगा। शादी करके बाक़ायदा क़ानूनी रूप से अपने घर में रख लेगा, दूसरी पत्नी बना कर। तुम्हारी बहन अगर उससे शादी करके चली गयी तो फिर तुम्हारी शादियाँ किस प्रकार होंगी? तुम्हारे होनेवाले ससुर ने तो अट्टा-सट्टा में शादियाँ तय की हैं, वह तो तुरन्त मुकर जाएगा। यह बात भाइयों के सबसे नाजुक बिन्दु पर एकदम तीर की तरह लगी। कहाँ तो उठते-बैठते दोनो भाई सपने देख रहे हैं कि बस और दो महीने की बात है और कहाँ अचानक यह समस्या सामने आ गयी। इस तरह तो उन्होंने सोचा ही नहीं था। यह तो सजी-सजाई भोजन की थाली आते-आते रास्ते में ही गिर जाने की स्थिति बन रही थी।

उस दिन भी देर रात जनाब सलीम लँगड़े हिना के अत्तर की लकीर छोड़ते हुए गुज़रे थे। शरद पूर्णिमा की रात थी। आसमान पर पूरा चाँद खिला हुआ था। ज़र्द पीला चाँद। चाँदनी में एक साया मचकता हुआ, लचकता हुआ चला जा रहा था। खेत पर बहुत काम था, इसलिए श्रीमती शीला देवी के भाई तथा पिता खेत पर ही रात रुकते थे। रात का खाना एक भाई आकर घर से ले जाता था। उस रात भी श्रीमती शीला देवी घर पर अकेली ही थीं। सलीम लँगड़े कम्बल में लपटे-लपटाए लहराकर चलते हुए आए। आए और श्रीमती शीला देवी के घर का दरवाज़ा एक बार चर्रर हुआ और दूसरी बार चूँ..हुआ। और बाहर की रात फिर जस की तस हो गयी। सन्नाटे में डूबी हुई रात। लेकिन श्रीमती शीला देवी के घर के अन्दर का मौसम बदल गया। शरद ऋतु की रात में पूरा चाँद अन्दर खिल गया। शरद पूर्णिमा का चाँद। सलीम लँगड़े रिवाज के अनुसार शरद के चाँद की चाँदनी को पीने लगे। कहा जाता है कि शरद पूर्णिमा के चाँद से अमृत झरता है, जिसे पीने से आदमी अमर हो जाता है। तो क्या आज सलीम लँगड़े भी अमर होनेवाले थे। फिर चाँद निकला, फिर चाँदनी पी ली, फिर चाँद निकला फिर चाँदनी पी ली। सारी अमरता आज ही प्राप्त करने की उत्कंठा थी दोनों में। श्रीमती शीला देवी को पता था कि अब बस कुछ ही दिन का है यह साथ, उसके बाद तो जहाँ बेच दी गयी हैं, वहाँ जाना ही है। उनका तो वस्तु विनिमय हो चुका है। जहाँ जाना है, वहाँ पता नहीं कौन मिलना है, कैसा मिलना है। जनाब सलीम लँगड़े माहिर खिलाड़ी थे चाँद और चाँदनी के खेल के। केवल पैर से कमज़ोर थे और पैर की ज़रूरत इस खेल में होती भी नहीं है बहुत विशेष। तो श्रीमती शीला देवी अब इन जाते हुए पलों को जनाब सलीम लँगड़े के साथ अधिक से अधिक जीना चाहती थीं, जी रही थीं। शरद पूर्णिमा के पन्द्रह दिन बाद दीपावली और उसके बाद रवानगी होनी थी।

रात दो या तीन का समय हो रहा होगा जब जनाब सलीम लँगड़े कम्बल में लिपटे लिपटाए बाहर निकले। शरद पूर्णिमा का चाँद उसी प्रकार आसमान में टँगा हुआ था। बाहर कुत्तों के भौंकने की आवाज़ें थीं और दूर कछार में कहीं सियार भी रो रहे थे। सामने इमली के भूतहा पेड़ पर एक बड़ा-सा उल्लू बैठा बड़ी अजीब-सी आवाज़ें निकाल रहा था। तरह-तरह की आवाज़ें मिलकर उस रात में अजीब से प्रभाव उत्पन्न कर रही थीं। अमृत छके हुए जनाब सलीम लँगड़े ने चारों तरफ़ देखा, और मुतमईन होकर बाहर क़दम रखा। वे दो क़दम ही चले थे कि अचानक दूसरी आवाज़ों के साथ मिली हुई कुछ और आवाज़ें भी आयीं। चोर, चोर, चोर, चोर। जनाब को लगा कि कहीं कोई चोर निकला है गाँव में। वे घबरा गये। इस समय उनको जो काम करना सबसे आवश्यक था, वही काम वे कर नहीं सकते थे। भागना। सर पर पैर रख कर भागना। किंकर्त्तव्यविमूढ़, बहुत मुश्किल शब्द है बोलने में, और जीवन की सबसे मुश्किल परिस्थिति में ही सामने आता है। इसी मुश्किल शब्द ने जनाब सलीम लँगड़े को बुत बना दिया। वे आवाज़ों को पास आते हुए सुनते रहे। बुत बने हुए।

पास आते ही आवाज़ें बदल गयीं। अब यह दूसरे प्रकार की आवाज़ें हो गयी थीं। इन आवाज़ों के आते ही भूतहा इमली पर बैठा उल्लू फड़फड़ा कर उड़ गया। कुत्ते कुछ और ऊँचे स्वर में भौंकने लगे, बल्कि रोने लगे। यह आवाज़ें थीं, हड्डी के चटकने, टूटने की, सिर पर लाठी पड़ने, सिर फूटने की और भी बहुत-सी वह आवाज़ें जो किसी को लाठियों से पीटते समय आती हैं। अभी-अभी अमृत छककर बाहर निकले जनाब सलीम लँगड़े इन आवाज़ों को सुन रहे थे, जो दुर्भाग्य से उनके ही अपने बदन की आवाज़ें थीं। बोल कुछ नहीं पा रहे थे क्योंकि उनके ही कम्बल का एक सिरा उनके मुँह में ठूँसा जा चुका था। बहुत देर तक यह आवाज़ें आती रही। बहुत देर तक। फिर शान्त हो गयी सारी आवाज़ें। गाँव एक बार फिर से सन्नाटे में डूब गया। जनाब सलीम लँगड़े उसी स्थान पर पड़े हुए थे, जहाँ वे कुछ देर पहले किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुए थे। उल्लू वापस इमली के पेड़ पर आकर बैठ गया था। अब कुछ अलग प्रकार की आवाज़ें निकाल रहा था। कुत्ते रोने के स्थान पर फिर भौंकने लगे थे। श्रीमती शीला देवी के घर के दरवाज़े पर इतना सब कुछ हो जाने के बाद भी कोई हलचल नहीं थी। चाँद उसी प्रकार अमृत बरसा रहा था और अमृत वर्षा के बीच जनाब सलीम लँगड़े धीरे-धीरे मरहूम जनाब सलीम लँगड़े में बदल रहे थे।

मो.: 09977855399

*ई.वी.एम. सिर्फ़ एक मशीन है, उसे दिशा देता है तो सिर्फ़ तकनीशियन। तकनीशियन किसके हक में रखना चाहता है उस मशीन को? जाहिर है ख़रीदनेवाले के हक़ में। फिर तो कुछ भी कर लें आप, मशीन अपने स्वामी के हक में ही काम करेगी। मशीन और आदमी के बीच का द्वन्द्व रह ही कहाँ जाता है, जब रिमोट कंट्रोल की अँगुलियाँ ही तय कर देती हैं कि बम कहाँ गिराना है तो जनता की इच्छा के सम्मान का विध्वंस निश्चित है। कहानी वक़्त का दर्पण होती है। काल-परिवेश उसमें प्रतिबिम्बित होता है। यथार्थ का कटु आवर्तन समकालीन कहानी में देखना और उसका अनुभव करना अगर सम्भव है तो ई.वी.एम. कहानी एक सटीक उदाहरण है।*

## रूपनारायण सोनकर

# ई.वी.एम.

**ई.वी.एम. बिल्कुल एक** कठपुतली के समान होती है। जिस तरह कठपुतली की डोर, कठपुतली नचानेवाले के हाथों में होती है। ठीक उसी तरह ई.वी.एम. का डोर रूपी संचालन कम्प्यूटर चलानेवाले इंजीनियर के हाथों में होता है। कलाकार, कठपुतली को अपने हाथों की जादूगरी से नचाता है, ठुमके लगवाता है, उड़ाता है, दौड़ाता है। कठपुतली उसके हाथों के संचालन का पालन करती है। ई.वी.एम. भी इंजीनियर के हाथों के संचालन का पालन करती है।

वर्तमान समय में विज्ञान ने बहुत अधिक तरक्की की है। कोई भी क्षेत्र विज्ञान के चमत्कारों से अछूता नहीं है। मेडिकल के क्षेत्र में रोबोट आदमियों के असाध्य रोगों की मूल्य चिकित्सा करता है, लेकिन रोबोट का संचालन एक एक्सपर्ट डॉक्टर के ही हाथों में होता है।

वर्तमान समय में नैतिकता का कोई महत्त्व नहीं है। आदमी अपने अनुसार जीना चाहता है। देश-दुनिया को अपने अनुसार नाचाना चाहता है। वह केवल अपने लिए अच्छे परिणाम चाहता है। वह केवल अपने अनुसार, अपने सिद्धान्तों के अनुसार, अपने देश व संसार को बचाना चाहता है। इसके लिए उसकी विचारधारा के लोग सैकड़ों वर्षों से गली-गली में घूमकर प्रचार करते हैं। लोगों की विचारधारा को बदलते हैं। शासन, प्रशासन, पुलिस, सेना, रेल व हवाई, संचार सेवाओं में अपने लोगों को प्रोजेक्ट कर देते हैं। कॉरपोरेट जगत में उनके सिद्धान्तों को मानने वाले लोग ज़्यादा होते हैं। पहले सरकार के अधीन कॉरपोरेट जगत होते थे। अब ऐसा लगता है कि सरकार कॉरपोरेट जगत के अधीन कार्य करती है। उन्हीं के पास कलकारखाने व पूरी संचार व्यवस्था आ गयी है। यदि सरकार व कॉरपोरेट जगत का गठबन्धन हो जाये तो विज्ञान को अपने हित में प्रयोग किया जा सकता है।

**रूपनारायण सोनकर** : जन्म 4 अप्रैल 1962। नाटककार तथा कथाकार। 27 नाटक, एक कहानी संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित। नागफनी (आत्मकथा), सूअरदान (उपन्यास) चर्चित। टीवी सीरियल्स में अभिनय। साहब की भैंस (नाटक) आकाशवाणी से प्रसारित। कफन कहानी पर टेलीफ़िल्म। गौरव भारती, हिन्दी गौरव, डॉ. अम्बेडकर विशिष्ट सम्मान से विभूषित। सम्प्रति : देहरादून (उत्तराखंड) में निबन्धन अधिकारी।

मि. जैकब एक खरबपति आदमी है। वह अपने देश 'असिरेमा' में होनेवाले राष्ट्रपति का चुनाव लड़ना चाहता है। उसके पास अनेक कारखाने हैं। जिनसे सरकार को सप्लाई होनेवाली समस्त चीज़ों का उत्पादन होता है। वह कॉरपोरेट जगत के यूनियन का अध्यक्ष है। वह राष्ट्रपति का चुनाव हर हाल में जीतना चाहता है। उसका मित्र जे. पीटर बहुत बड़ा कॉरपोरेट जगत का मालिक है। वह सरकार को चुनाव के दौरान ई.वी.एम. मशीनें सप्लाई करने का काम करता है। ई.वी.एम. मशीन उसीके कारखाने में बनायी जाती है।

मि. जैकब अपने एक्सपर्ट कम्प्यूटर व सॉफ्टवेयर इंजीनियर की एक बड़ी टीम ई.वी.एम. बनानेवाले कारखाने में प्रोजेक्ट करता है। ई.वी.एम. बनने के बाद चुनाव आयोग को उक्त ई.वी.एम. सप्लाई की जाती है। जिन-जिन स्तरों में ई.वी.एम. की जाँच होती है, जो एक्सपर्ट इंजीनियरों द्वारा की जाती है। अपने इंजीनियर वहाँ पर नौकरी में रखवा देता है। एक एक्सपर्ट सॉफ्टवेयर इंजीनियर है जिसका नाम सारजेंट है। मि. जैकब उससे बात करता है।

"मि. सारजेंट क्या ई.वी.एम. को एक गोपनीय कोड के जरिये— किसी भी एक केंडीडेट व उसके चुनाव चिह्न की ओर मोड़ा जा सकता है।"

"यस सर, यह सम्भव है।"

"कैसे" मिस्टर जैकब ने पूछा।

सारजेंट ने बताया, "यदि मान लीजिये ई.वी.एम. में तीन राष्ट्रीय पार्टियों के उम्मीदवारों के नाम व उनके चुनाव चिह्न उनके नामों के सामने फीड किये गये हैं। साफ्टवेयर कम्प्यू[illegible] व अन्य उपकरणों में इस तरह फीड या एंटर किया जाता है कि जिस उम्मीदवार व उसके चुनाव चिह्न के सामने का बटन दबाएँगे तो उसी केंडीडेट के नाम, वोटर का वोट चला जाएगा।"

मि. जैकब ने पुनः पूछा—

"क्या ऐसा कोई सॉफ्टवेयर का कोड डेवलप किया जा सकता है कि आप किसी पार्टी के उम्मीदवार के चिह्न के सामने लगे बटन को दबायें लेकिन वोट एक ही उम्मीदवार को कास्ट हो जाएँ।"

"सर, यह सम्भव है। जिस उम्मीदवार को हम इलेक्शन में जिताना चाहते हैं उसको उसी के नाम व पार्टी के चिह्न का सॉफ्टवेयर कोड कम्प्यूटर के जरिये डेवलप करके ई.वी.एम. मशीनों में एंटर किया जा सकता है। उस समय आप किसी भी पार्टी के उम्मीदवार के नाम व उसकी पार्टी के चिह्न पर बटन दबाइये। वोट कम्प्यूटर में फीड किये गये गुप्त कोड के जरिये उस केंडीडेट के नाम चला जाएगा, जिसको जिताना चाहते हैं। ऐसी अवस्था में अलग-अलग पार्टियों के चुनाव चिह्नों व पार्टियों के उम्मीदवारों के नाम सॉफ्टवेयर कोड कम्प्यूटर में फीड नहीं किये जाएँगे।"

मि.जैकब ने शंका जाहिर की—

"यदि एक ही पार्टी के उम्मीदवार को समस्त वोट कास्ट हो जाएँगे, तो विरोधी उम्मीदवार हल्ला मचाएँगे।"

"कुछ अन्तराल के बाद ई.वी.एम. और कम्प्यूटर में सामान्य प्रक्रिया लागू हो जाया करेगी। यह प्रक्रिया अपने आप बदलती रहेगी। प्रत्येक ई.वी.एम. में 63 प्रतिशत वोट मनचाहे उम्मीदवार को अपने आप कास्ट होते रहेंगे।"

मि. जैकब ने ठान लिया कि वह कड़ी मेहनत करेगा। रात-दिन रैलियाँ करेगा। गली-गली जाएगा, ताकि जनता को लगे कि चुनाव में उसकी जीत उसकी रात-दिन की मेहनत का नतीजा है।

मि. जैकब राष्ट्रपति के चुनाव में उतरता है। कड़ी मेहनत करता है। रात-दिन चुनाव की रैलियाँ करता है। ताकि लगे कि उसकी जीत उसकी मेहनत का नतीजा है। जैकब ई.वी.एम. को सैल्यूट मारता है, जिसकी वजह से वह राष्ट्रपति का चुनाव जीत जाता है।

मो.: 09410778718

*घटनाक्रम अचानक चौकानेवाला और अप्रत्याशित हो तो कहानी अपने मर्म में प्रभावी मानी जाती है— जैसे कि विवेक मिश्र की यह कहानी। मगर कहानी का भेद यह मर्म नहीं, वह तो उलझा हुआ स्वत्त्व है— अपने जीवन का। आधिक्या, पंडित ज्ञानेश्वर और रिद्धि के रिश्ते हैं, जो अतीत को वर्तमान से कसे रखना चाहते हैं। अगर रिद्धि इस समाज का टूटा पहिया न होती तो शायद वह दूर तक दौड़ लगा लेती। पर विवेक मिश्र कहानी को दौड़ाते नहीं आहिस्ता-आहिस्ता पहुँचाते हैं उसे उसकी मंज़िल तक। पढ़िये, संगीत और जीवन की सचाई को बयान करती युवा कथाकार की एक सशक्त कथा— स्वर लहरी।*

## विवेक मिश्र

# स्वर लहरी

**रिद्धि ने ऑटो** में बैठते ही सिगरेट जला ली फिर कुछ झुँझलाते हुए बोली, ''यार तू जहाँ ले जा रहा है मुझे नहीं लगता वहाँ हमें कोई स्टोरी मिलनेवाली है। तीन दिन का काम था और पूरा हफ़्ता निकल गया।''

रितेश हमेशा की तरह बड़े निश्चिन्त भाव से मुस्करा रहा था फिर शायद रिद्धि की बेचैनी कम करने के लिए बोला, ''स्टोरी तो बिना कहीं जाए ही कम्पलीट करके भेज दूँगा पर इस सब्जैक्ट में मुझे इनट्रेस्ट है। म्युज़िक में जैसे अब उस तरह के गानेवाले रहे ही नहीं, वो डेडीकेशन अब जैसे खत्म ही हो गया है। मैं उन लोगों के जीने, सोचने-समझने के तरीके भी जानना चहता हूँ। इसीलिए मैंने अपने इस कार्यक्रम 'स्वरलहरी' को अबकी बार डॉक्यूमेंटरी नहीं, फीचर की तरह बनाने का फैसला किया है।''

'और उस फीचर की स्टोरी, तुम यहाँ दिल्ली की इन गलियों में ढूँढ रहे हो! कुछ नहीं मिलेगा।' रिद्धि ने सिगरेट का धुआँ छोड़ते हुए कहा।

''यार तुम्हारा संगीत से रिश्ता रहा है, तुम्हें भी इसमें इतना इन्ट्रेस्ट है। इसलिए स्पेशियली इस सबजैक्ट के लिए तुम्हें साथ लिया था और अब तुम इसका नाम सुनके ही इतना रेस्ट्लेस हो रही हो।''

''मैं संगीत का नाम सुनके रेस्टलेस नहीं हो रही हूँ, मैं रेस्टलेस हो रही हूँ ख़ुद को उस बैकग्राउंड से जोड़ के देखे जाने से। इन म्युज़ीशियन्स और सिंगरस की लेड्बैक अप्रोच से। इनके सेंटीमेंट्स से। दे आर नॉट प्रेक्टीकल एट ऑल।'

तभी रितेश ने इशारा किया, ''आ गया, आ गया। बस यहीं रोक दीजिए।''

ऑटो से उतरकर दोनों लेन के आख़िरी मकान के सामने खड़े थे। एक तेरह-चौदह साल के लड़के ने दरवाज़ा खोला और उन्हें एक दस बाई बारह के छोटे से कमरे में केन की कुर्सियों पर बैठाकर उसी कमरे में से निकलती सँकरी सीढ़ियों से ऊपर चढ़ गया। ऊपर से तानपूरे की हल्की-हल्की आवाज़ पहले से ही आ रही थी, धीरे-धीरे उसमें एक महीन-सा स्वर मिलकर

**विवेक मिश्र :** जन्म 15 अगस्त 1970। दन्त स्वास्थ्य विज्ञान में विशेष शिक्षा। पत्रकारिता व जनसंचार में स्नातकोत्तर। तीन कहानी संग्रह और एक उपन्यास प्रकाशित। पटकथा लेखन। सुर्ननोस-कथादेश पुरस्कार, यशपाल पुरस्कार, शिखर साहित्य और रमाकान्त स्मृति कहानी पुरस्कार से सम्मानित। चर्चित कथाकार। दिल्ली में रहते हैं।

सीढ़ियों से नीचे आने लगा। रितेश ने देखा रिद्धि उस बंदिश को सुनकर कुछ बेचैन हो गयी थी। तभी वह लड़का सीढियों से फिर नीचे आया और उन्हें इशारे से ऊपर आने के लिए कहा। रिद्धि को रितेश ने लगभग धकलते हुए ऊपर चढ़ाया।

ऊपर के कमरे में फर्श पर बिछी दरी पर बैठी लगभग पचास के आसपास की उम्र की, खिचड़ी बालोंवाली एक महिला जिसने अपनी उम्र छुपाने के लिए कोई उपक्रम नहीं कर रखा था और फिर भी वह बहुत सुन्दर लग रही थी, बड़ी महीन, पर बेहद सुरीली आवाज़ में गा रही थी। उन्हें देखकर उन्होंने तानपूरा एक तरफ़ रख दिया और मुस्कराकर उनका स्वागत किया। पर उस आवाज़ ने जैसे रिद्धि को किसी और समय में धकेल दिया था, उसने उनकी मुस्कराहट को लक्ष्य नहीं किया। रितेश को रिद्धि का व्यवहार कुछ समझ नहीं आ रहा था, वह कमरे की सामने की दीवार पर लगे अलग-अलग साइज़ के ब्लैक एंड व्हाइट फोटोज़ जो पुराने ढंग के लकड़ी के फ्रेम में जड़े हुए थे, बड़े ध्यान से घूरे जा रही थी। उसकी आँखें कमरे में कुछ ऐसे घूम रही थीं मानो वे उस समय में बैठे हुए किसी और समय को देखना चाहती हों।

रितेश बहुत जल्दी अपनी बातचीत से लोगों को सहज कर देता था। इसलिए उसी ने बात शुरु की। महिला ने बहुत सधी हुई आवाज़ में उसके प्रश्नों का उत्तर देना शुरु किया। फिर थोड़ा और खुलते हुए दो एक चीज़ें गाकर भी सुनाई। पर रिद्धि अभी भी अन्यमनस्क ही लग रही थी। रितेश ने उसकी ओर देखते हुए कहा, ''ये भी मध्य प्रदेश से ताल्लुक रखती हैं। इन्होंने भी गायन बचपन से ही सीखा है।'' यह सुनते ही उन्होंने कहा, ''अच्छा मध्य प्रदेश में कहाँ से।'' रिद्धि ने दीवार पर लगी एक पुरानी तस्वीर को बहुत ध्यान से देखते हुए कहा, ''शिवपुरी के पास नरवर में संगीत का एक गुरुकुल था। वहीं सीखा था पर बहुत समय हुआ, अब तो सब छूट गया।'' उसके बाद बात जैसे दोनों के बीच हवा में स्थिर हो गयी। नरवर का नाम सुनकर उनकी आँखें जैसे अपने में ही डूबने लगीं, जिनमें पत्ते पर टिकी ओस-सा कुछ झिलमिलाने लगा।

रितेश ने कहा, ''हम संगीत के ऐसे पुराने घरानों पर एक स्टोरी कर रहे हैं जहाँ से निकले हुए लोग अब बहुत कम बचे हैं। शायद उन घरानों की गायकी आनेवाले समय में पूरी तरह खत्म हो जाएगी। हम उन घरानों के प्रमुख लोगों पर अलग-अलग एपिसोड में फीचर करेंगे।''

उन्होंने बहुत धीमी आवाज़ में कहा, ''जी मैं जानती हूँ। मैं जिनकी बात आपको बताने जा रही हूँ। वह मेरी बहुत करीबी दोस्त थी, आधिक्या। अब न वो हैं और न ही उनके गुरु। पर कहानी है जो मुझे अपने जीते जी कह ही देनी चाहिए। शायद यही उन दोनों के लिए मेरी श्रद्धांजलि हो।'' उन्होंने जैसे अतीत की ओर हाथ बढ़ाते हुए धीरे-से बगल में रखे तानपूरे को छू लिया। फिर धीरे-धीरे उसके तारों को छेड़ते हुए अपनी महीन और सुरीली आवाज़ में बोलने लगी। कमरा, उसमें लगी तस्वीरें उनकी आवाज़ में घुलने लगीं...।

किसी ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर घोड़ा दौड़ रहा था। अकेला घोड़ा नहीं, ताँगे को खींचता हुआ घोड़ा...।

वह जिस रफ़्तार से ताँगे को खींच रहा था उससे भी ज्यादा तेज़ी से आनेवाली रात का अँधियार शाम की लालिमा के पीछे भागा चला आ रहा था। लगता था घोड़ा जानता है कि रास्ते के अंधकार की गिरफ़्त में आने से पहले उसे कढ़ेसा पहुँच जाना है। इससे पहले की कोचवान बुद्धिबन उस पर चाबुक सूँतते, उसने अपनी पूरी झींक लगाकर ताँगे को और तेज़ कर दिया। बुद्धिबन फिर भी सन्तुष्ट नहीं थे सो उन्होंने ज़ोर की हुँकार लगायी पर घोड़ा ताँगे को उससे ज्यादा तेज़ी से नहीं खींच सका।

तभी ताँगे में अपनी लम्बी टाँगें सिकोड़कर बैठे ज्ञानेश्वर पांडेय ने बुद्धिबन को हल्के-से डाँटते हुए कहा, ''इस औंधक-नीचे रास्ते पर थोड़ा धीरे चलाओ, अँधियार होने से पहले अगर गाँव एक-आधा कोस दूर भी रह जाएगा तो हम पैदल चल लेंगे, तुम पीछे से ताँगा लेकर आते रहना।''

बुद्धिबन ने अपनी होशियारी दिखाते हुए कहा, ''आप तनिक भी चिन्ता न करो पंडित जी, यह घोड़ा समय के मिन्ट का फॉरिन्ट कर देता है''

पंडित जी अबकी बार असली गुस्से से बोले, ''तुम्हारी मति के साथ भाषा भी भ्रष्ट हो गयी है, ऐसे अनर्गल शब्द बोलते हो जिनका कोई अर्थ नहीं होता, अभी ताँगा पलट गया तो हाथ-पाँव तुड़वा बैठेंगे।''

पंडित जी के आग्रह पर बुद्धिबन ने घोड़े को पुचकारा और लगाम ढीली कर दी पर घोड़ा तो जैसे डूबते सूरज से होड़ कर रहा था। लगता था मानो कह रहा हो कि तेरे पश्चिम के तलाब में उतरने से पहले मैं ताँगे को कढ़ेसा के ठाकुर यशपाल सिंह की कोठी पर लगा के ही दम लूँगा।

ठा. यशपाल की हवेली पर उनके बड़े बेटे की सगाई का मौका था। पं. ज्ञानेश्वर का गायन सुनने के लिए आसपास के कई गाँवों से आए लोगों का जमावड़ा था। पूरे प्रदेश से तमाम नामी-गिरामी गायक, वादक और संगीत के विद्वान बुलाए गए थे पर ठा. यशपाल को पं. ज्ञानेश्वर की प्रतिभा पर जितना भरोसा था उतना और किसी पर न था। पंडित जी और ठाकुर का हीरे और ज़ौहरी का रिश्ता था और यह कई पीढ़ियों से चला आ रहा था। यशपाल कहते थे ''पंडित जी साक्षात सरस्वती पुत्र हैं। उनका चरित्र सूरज की तरह निष्कलंक है, उन्होंने कई जन्मों के पुण्य संचित कर रखे हैं और आज भी अपने यम-नियम की पालना से नित्य नए पुण्य अर्जित करने से उनका प्रताप बढ़ता ही जा रहा है। उनके जैसा संगीत का साधक पूरे क्षेत्र में दूसरा नहीं है।'' वैसे यह मात्र ठाकुर यशपाल का ही विश्वास नहीं था, बल्कि कमोवेश क्षेत्र के सभी

सब मन्त्र मुग्ध सुन रहे थे। तभी पंडित जी की संध्या वन्दन का समय हो गया, सो उन्होंने वहीं बैठे-बैठे आँखें मूँद लीं। तभी आधिक्या देवी के स्वर से ऐसा लगा मानो उन्होंने मन ही मन ठान लिया हो कि तोड़ी खत्म होते-होते पंडित जी को अपनी आँखें तो खोलनी ही पड़ेंगीं। वह अतिरिक्त उत्साह से, अपने पूरे कौशल के साथ ऐसी तन्मयता के साथ गाने लगीं जैसे किसी भँवरे को पकड़कर अपनी आवाज़ में क़ैद कर लेना चाहती हों। श्रोताओं ने उनके स्वर की लय पकड़ी तो झूम उठे, वहीं साथ देते साजिन्दों के पसीने छूट गए, पर पंडित जी ने आँखें नहीं खोलीं।

लोग ज्ञानेश्वर पांडेय के बारे में ऐसा ही सोचते थे।

जैसे ही ज्ञानेश्वर का ताँगा यशपाल सिंह की कोठी पर पहुँचा, लोगों ने आगे बढ़कर उनका स्वागत किया। हवेली के अहाते में लगी गाने की महफिल जैसे कुछ समय के लिए स्थगित हो गयी। ठा. यशपाल ने पंडित जी को अपने बगल में, बराबर के आसन पर बैठाया। बंदिश फिर शुरु हुई। सामने थीं इलाक़े की सबसे उम्दा गाने वाली आधिक्या देवी जिनके बारे में लोग कहते थे कि तेरह साल की उम्र में ही गाने में उन्होंने वो ख्याति प्राप्त कर ली थी जो लोग पूरे जीवन भर संगीत साधना करने पर भी प्राप्त नहीं कर पाते। वह अभी तीस की पूरी भी नहीं हुई थी और माना जाने लगा था कि पूरे प्रदेश में उनसा गला, रूप और अदायगी किसी के पास नहीं। लोग देखते तो निर्निमेष देखते ही रह जाते, सुनते तो रास्ता भूल जाते, लेकिन पं ज्ञानेश्वर के महफिल में पहुँचने से जैसे उनका तेज़ कुछ फीका पड़ गया था। उसके बाद जो भी वहाँ आता, वो सबसे पहले पंडित जी के चरण छूता, ठा. यशपाल को बधाई देता और फिर आधिक्या देवी की ओर मुख़ातिब होता। आधिक्या देवी भी जैसे पंडित जी की उपस्थिति से असहज हो उठी थीं, पर उन्होंने ख़ुद को सँभालते हुए फिर से गाना शुरू किया। सब मन्त्र मुग्ध सुन रहे थे। तभी पंडित जी की संध्या वन्दन का समय हो गया, सो उन्होंने वहीं बैठे-बैठे आँखें मूँद लीं। तभी आधिक्या देवी के स्वर से ऐसा लगा मानो उन्होंने मन ही मन ठान लिया हो कि तोड़ी खत्म होते-होते पंडित जी को अपनी आँखें तो खोलनी ही पड़ेंगीं। वह अतिरिक्त उत्साह से, अपने पूरे कौशल के साथ ऐसी तन्मयता के साथ गाने लगीं जैसे किसी भँवरे को पकड़कर अपनी आवाज़ में क़ैद कर लेना चाहती हों। श्रोताओं ने उनके स्वर की लय पकड़ी तो झूम उठे, वहीं साथ देते साजिन्दों के पसीने छूट गए, पर पंडित जी ने आँखें नहीं खोलीं।

तोड़ी ख़त्म हो गयी।

लोगों ने आधिक्या देवी को बढ़चढ़ कर बधाइयाँ दीं पर उनकी नज़र पड़ित जी पर थी, जैसे ही पंडित जी ने आँखें खोलीं, उन्होंने ख़ुद अपने आसन से उठकर पंड़ित जी के पैर छुए। पंडित जी ने आशीर्वाद दिया पर आधिक्या देवी ने आशीर्वाद लेने से पहले जो कहा वह सुनकर सब थोड़े हैरान हो गए।

वह बोलीं, ''आप ज्ञानी हैं, जानते है कि एक कलाकार के लिए सुधी जनों की प्रसंशा ही उसका असली पारितोषक है और जब सामने आप जैसा संगीत का प्रकांड विद्वान बैठा हो तो अपनी प्रस्तुति के बारे में उसकी राय जानना तो कलाकार के लिए और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। अत: आप बताएँ कि मेरी प्रस्तुति आप को कैसी लगी, वही मेरे लिए सबसे बड़ा आशीर्वाद होगा।''

पंडित जी ने एक पल सोचा फिर बोले, ''मेरे आँखें बन्द करने से आपको यह लगा होगा कि मैं आपका गायन नहीं सुन रहा हूँ परन्तु यह सही नहीं, मैं आपके संगीत के साथ ही अपनी संध्या भी कर रहा था, आपकी प्रस्तुति बहुत सुन्दर थी और उसने ध्यान लगाने में मेरी सहायता की, पर अन्तिम पंक्ति को दोहराते समय उसके आरम्भ में आपका सुर दोषपूर्ण था। आपका ध्यान कहीं भटक गया था।''

पंडित जी की बात सुनकर आधिक्या देवी ने हाथ जोड़ लिए। वह जानती थीं कि ज्ञानेश्वर सही कह रहे हैं। उसके बाद वह उनका आशीर्वाद लेकर श्रोताओं में बैठ गयीं और ज्ञानेश्वर की प्रस्तुति आरम्भ हुई। जब प्रस्तुति अपने चरम पर पहुँची तो लगा समय रुक गया है। यदि वातावरण में कुछ है तो आँखें मूँदे गाते हुए ज्ञानेश्वर के स्वर का नाद है, उसकी लय है, उसका जादू है। प्रस्तुति समाप्त होने पर आधिक्या उठीं और अपना माथा उनके पैरों पर रख दिया। ज्ञानेश्वर ने आँखें खोली तो उन्हें उठाते हुए आशीर्वाद दिया। लोग दो कलाकारों के इस व्यवहार को देखते रह गए।

जब कार्यक्रम समाप्त होने के बाद पं ज्ञानेश्वर अपने घर वापस लौटे तो इस घटना की चर्चा उनसे आगे-आगे उनके गाँव और घर तक भी पहुँची। कुछ ने कहा कि जहाँ महफिल में ज्ञानेशवर की गायकी सबके सिर चढ़के बोली, वही आधिक्या की ख़ूबसूरती के भी कई लोग क़ायल हो गए और उनके रूप का जादू ज्ञानेश्वर पर भी चल गया। कुछ ने इसकी काट करते हुए कहा कि ज्ञानेश्वर एक सच्चे गृहस्थ और संगीत के गुरुकुल के संचालक हैं और ऊपर से बहुत पुरातन विचारों के कर्मकांडी ब्राह्मण हैं। उन्हें किसी का रूप सौन्दर्य डिगा नहीं सकता और फिर आधिक्या जैसी मनचली गाने वाली की उनसे क्या बराबरी। इस तरह दोनों के नामों के बीच

चर्चा के तमाम तार खिंच गए जिन्हें लोग अपने-अपने ढंग से कभी उलझाने तो कभी उलझाने लगे।

उस घटना के बाद होने यह लगा कि जहाँ कहीं भी पंडित जी के संगीत का कार्यक्रम होता आधिक्या देवी भी उन्हें सुनने वहाँ पहुँच जाती। उनकी उपस्थिति में कई बार लोग उनसे भी कुछ गाने का आग्रह करते। कई बार वह मना कर देती। पर कई बार ज्ञानेश्वर के कहने पर गा भी देतीं। कुछ दिनों तक यह सिलसिला यूँ ही चलता रहा फिर एक दिन आधिक्या ने अपने घर सरस्वती पूजा का आयोजन कर पंडित जी को बुलाया। घर-परिवार और सहयोगियों ने पंडित जी पर पूरा दबाव बनाया कि वह आधिक्या के घर न जायें पर पंडित जी सरस्वती पूजा के लिए कभी न नहीं करते थे। ऊपर से उन्हें यह भी लगा कि यह उनके संयम की परीक्षा है और उन्हें इसे देना ही होगा। इसलिए उन्होंने आधिक्या का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

वह पहला दिन था जब पंडित ज्ञानेश्वर आधिक्या देवी के घर जा पहुँचे। उन्होंने सरस्वती पूजा के बाद पंडित जी से दीक्षा लेने की पूरी तैयारी कर रखी थी। हमेशा नौकर-चाकरों और साजिन्दों से घिरी रहनेवाली आधिक्या देवी के घर उस दिन उनके अलावा और कोई नहीं था। उन्होंने पंडित जी के स्वागत में विशेष शृंगार किया था। उनका रूप आँच तपे सोने-सा दमक रहा था। उनकी आवाज़ में सितार के तारों को बिलम्बित में छेड़ने जैसा नाद था जो वातावरण में एक सिहरन पैदा कर रहा था पर पंडित जी ने इस सबसे अपने को बिलग रखते हुए सरस्वती की पूजा सम्पन्न कराई, दीक्षा का गंडा उनकी कलाई पर बाँधा और आशीर्वाद देकर वापस जाने के लिए उठ खड़े हुए।

आधिक्या ने उन्हें रोकते हुए कहा, "आप में जो धैर्य और संयम है, उसका एक अंश भी यदि मुझमें होता तो मैं अपने को रोक लेती पर वह मुझमें नहीं है। इसलिए यह कहने की धृष्टता कर रही हूँ कि लोग भले ही मेरे गायन की कितनी ही प्रसंशा करें पर मैं जानती हूँ कि अभी उसमें त्रुटियाँ हैं। उन त्रुटियों को दूर करने के लिए आप जैसा पारखी सुननेवाला चाहिए। मेरी कला आपके मार्गदर्शन के बिना अधूरी है। ये आपकी कला का मोह है या व्यक्तित्व का मैं नहीं जानती पर अब मुझे आपके सिवा कोई रास्ता नहीं दिखाई देता। मैं आपसे सीखना चाहती हूँ। मैं जानती हूँ मैंने अभी तक संगीत को जिस तरह लिया है उसमें प्रदर्शन अधिक और साधना कम रही है। आपसे जुड़ना मेरे लिए केवल एक औपचारिकता ही नहीं है। मैं सचमुच संगीत को उस गहराई तक समझना चाहती हूँ। जहाँ से आप उसे देखते हैं।"

उस समय ज्ञानेश्वर ने यही कहा, "आप बहुत अच्छा गाती हैं। हम सभी अपने-अपने ढंग से संगीत की साधना करते हैं। परन्तु मैंने जो रास्ता चुना है उसके नियम बहुत कड़े हैं। वहाँ संगीत की शिक्षा एक कठिन अनुशासन में बँधी है।"

आधिक्या ने अधीर होते हुए कहा, "मैं हर नियम मानने को तैयार हूँ। हर तरह के अनुशासन में बँधने को तैयार हूँ। बस आप कहिए कि मुझे सिखाएँगे।"

आधिक्या के इतना कहने पर भी, उस समय पं ज्ञानेश्वर ने कोई उत्तर नहीं दिया पर बाद में धीरे-धीरे लोगों को पता चला कि वह गाहे-वगाहे आधिक्या के घर जाने लगे हैं। वह वहाँ बड़े ध्यान से उनका गाना सुनते, उसकी कमियाँ बताते, सही सुर लगाकर दिखाते। ऐसा करते हुए उनको भी लगने लगा कि उनका ज्ञान किसी ऐसे कलाकार के ही काम आ रहा है जो सच में कला के मर्म को समझता है और उसे आत्मसात करना चाहता है। यहाँ जैसे-जैसे आधिक्या के साथ अभ्यास का समय बढ़ता गया, वहाँ यह खबर फैलती गयी की अब पंडित ज्ञानेश्वर की संगीत साधना पहले जैसी नहीं रही, लोगों ने कहना शुरु कर दिया कि उनके पास अब वह चरित्र बल और वैसी चित्त की निर्मलता नहीं रही जिसके कारण उनके गले में सरस्वती बसा करती थी।

कुछ समय बाद हालात बदलने लगे। लोगों का प्रेम ज्ञानेश्वर की कला के प्रति घटने लगा। जिससे धीरे-धीरे पंडित जी की दुनिया भी बदलने लगी और एक दिन किसी मनचले ने पंडित जी को भरी सभा में उनकी प्रस्तुति के बीच में रोक कर ताने देने शुरु कर दिए। एक बार को लगा जैसे धरती काँप गयी हो और उसकी ध्वनि से पंडित जी के घर की दीवारें भी हिल गयी हों और सच में ऐसा हुआ भी।

उस घटना के बाद परिवार में भारी कलह हुई। घर की शान्ति कुछ इस तरह भंग हुई कि पंडित जी अपनी पत्नी से नाराज़ होकर, अपना सामान उठाकर, अपनी तेरह साल की बेटी और ग्यारह साल के बेटे को छोड़कर नहर के किनारे बने अपने उस कमरे में आकर रहने लगे, जिसमें बैठकर वह सुबह-सुबह रियाज़ किया करते थे, प: इतने भर से उनका चित्त शान्त न हुआ, मन बार-बार उचट जाता। शायद उन्हें भी घर से अलग रहकर ही आभास हुआ कि वह सचमुच आधिक्या से प्रेम करने लगे हैं। इस बीच आधिक्या ने उनके पास आकर उनसे कुछ दिन उनके घर आकर रहने का आग्रह किया। उन्होंने इसके लिए आधिक्या को साफ़ मना कर दिया। पर आधिक्या यही कहती रहीं कि यह सब उनके जीवन में उन्हीं की वजह से हुआ है और वह उसका प्रायश्चित करेंगीं। उनका अतीत कुछ भी रहा हो पर अब वह ज्ञानेश्वर की ही तरह पूरे नियम-संयम से संगीत की साधना करेंगी। ज्ञानेश्वर ने उस समय उनकी बात मान ली।

इस बीच ज्ञानेश्वर की पत्नी अपने बच्चों को साथ लेकर उनके गुरु के पास जा पहुँचीं और उन्हें सारी बात बता डाली। गुरु ने पत्नी को आश्वस्त किया कि वह ज्ञानेश्वर को समझा कर घर वापस ले आएँगे। उसके बाद सब ठीक हो जाएगा।

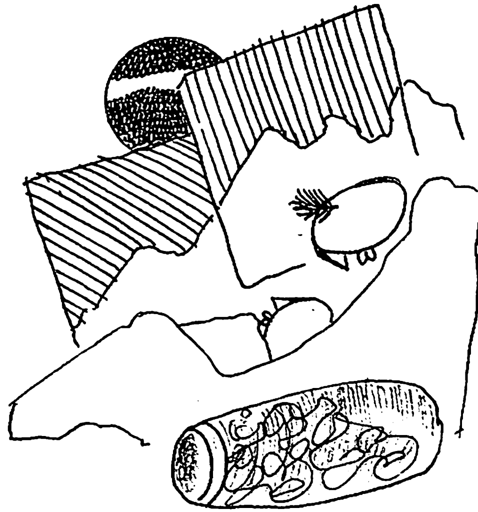
उधर ज्ञानेश्वर के घर से अलग रहने पर आधिक्या का वहाँ

आना-जाना और बढ़ गया। धीरे-धीरे दोनों के बीच बिना कुछ कहे-सुने ही प्रेम परवान चढ़ने लगा। ज्ञानेश्वर सब भूलकर रात-दिन संगीत में डूबे रहने लगे। अब आधिक्या जैसे उनके जीवन का, उनके संगीत का हिस्सा बन गयी। वह अपने और आधिक्या के रिश्ते को लेकर किसी निर्णय पर पहुँच पाते कि एक दिन उनके गुरू उनके पास पहुँच गये।

गुरु को देख जैसे मन की तमाम गाँठें खुल गयीं। दुख छलछलाके आँखों से बह निकला, बोले— ''न जाने साधना में कहाँ चूक हो गयी। लगने लगा था कि अब पहले जैसी बात नहीं रही पर मैंने फिर पूरे मन से साधना शुरू की है।'' उन्होंने बताया कि आधिक्या के साथ जिस बात को लेकर घर-परिवार में इतना हो-हल्ला मचा है उसके साथ उनका सम्बन्ध कला का है, ज्ञान का है, समर्पण का है, प्रेम का है। उसने सब कुछ त्यागकर नए सिरे से संगीत की साधना शुरु की है। वह हर तरह से इस शिक्षा के योग्य है। उन्होंने कहा कि, ''प्रेम एक पवित्र भावना है और इसे मैंने आधिक्या की आँखों में अपने लिए देखा है। मैं उसके प्रेम का तिरस्कार नहीं कर सका। मैंने उसकी कला, उसकी साधना, उसके प्रेम का सम्मान किया है।''

गुरु ने उन्हें आश्वस्त करते हुए कहा, ''मैं सब जानता हूँ। तुम चिन्ता मत करो, सब ठीक हो जाएगा पर इसके लिए एक पूजा करनी होगी। जिसके लिए लगनेवाली तमाम सामग्री के अलावा तुम जिसे प्रेम करते हो और वो भी तुम्हारी कला और ज्ञान की दीवानी है, उसके आँगन की थोड़ी-सी मिट्टी लानी होगी। वह भी उसे बिना बताए और तुम्हें ख़ुद अपने हाथ से ऐसा करना होगा।'' पहले ज्ञानेश्वर थोड़े सकुचाए फिर गुरु जी पर अटूट आस्था ने उन्हें इस काम के लिए मन ही मन राज़ी कर लिया।

कार्तिक का महीना था रात जड़ाने लगी थी। ज्ञानेश्वर शरीर पर चादर लपेटकर आधिक्या के घर की ओर बढ़ चले। घर अभी कुछ दूरी पर था पर उन्हें लगा कुछ टूटती-जुड़ती स्वर लहरियाँ उनके कानों से टकरा रहीं हैं। पास आए तो लगा कि घर के भीतरवाले कमरे से प्रकाश छन-छन कर बाहर आ रहा है। इस अबेर के संगीत का कारण समझ नहीं सके ज्ञानेश्वर। अपने मन के लिए आलम्ब गढ़ा नींद न आने कारण इस अबेर में भी अभ्यास कर रही होगी। फिर सोचा गुरू का मान रखने के लिए वह विरथा इस अन्धविश्वास में पड़े। यदि ऐसा करते आधिक्या की दृष्टि में आ गए तो क्या सोचेगी? वह क्या कहेंगे उससे? इस तरह चोर की भाँति क्या



करने आए हैं? कौन जाने क्या सोच बैठे? सोचेगी मुझे भरोसा नहीं है उस पर, उसके प्रेम पर, भरोसा नहीं है उसके चरित्र पर। सोचेगी उसे, उसकी सुचिता को परखने आए हैं, यदि ऐसा हुआ तो गिर जाएँगे अपनी ही दृष्टि में। एकबार को मन किया लौट जाएँ पर गुरु की अवज्ञा का साहस न हुआ। उनका आदर, उनका मान सामने आ खड़ा हुआ। सभी कुछ उन्हीं का दिया तो है। लगा शायद इससे और पुख्ता होगा प्रेम, उपासना, सम्बन्ध। कठिन समय रात-सा बीत जाएगा, जल्दी ही भोर होगी। शरीर को धकेलते, भारी मन को ढाँढस बँधाते, थके पाँव जा लगे आधिक्या के घर के पीछे की दीवार से। पास लगे पेड़ का सहारा लेकर दीवार पर चढ़े। आधिक्या अपनी आवाज़ की खनक के साथ ऐसे गा रही थीं मानो उसकी हँसी ही रोशनी बनकर कमरे में छिटक रही हो। आज विचित्र-सी खनक थी उनकी आवाज़ में। बिलकुल अपरिचित स्वर था। ऐसा पहले कभी नहीं सुना था इस गले से। मादकता में पगा, नशे में डूबा कंठ था। जिस आधिक्या को वह जानते हैं यह उसका स्वर नही हो सकता। किसी और के घर तो नहीं आ गये। नीचे उतरकर आँगन में लगी चमेली की बेल की ओट कर ली और साहस करके कमरे के भीतर देखा। आँखें विस्मय से फैल गईं, गला सूख गया। विश्वास नहीं हुआ। सुनहले प्रकाश में आधिक्या की नग्न देह कुन्दन-सी चमक रही थी। किसी उन्माद में हँसती, गाती, थिरकती आधिक्या देवी। वस्त्र-आभूषण सब धरती पर पड़े पैरों तले रौंदे जा रहे थे। मन के रुदन ने चीत्कार करनी चाही पर गले की आवाज़ किसी अंधकूप में डूब गयी। आधिक्या की हँसी में किसी पुरुष का स्वर मिलने लगा। जिसकी पहचान उनके कानों ने ठाकुर के बड़े बेटे की आवाज़ के रूप में की। उसी की शादी में आधिक्या को पहली बार देखा था।

तब से अब तक की तमाम स्वरलहरियाँ-हाहाकार में बदलने लगीं।

''हे प्रभु क्या दिखा दिया। गड़ जाऊँ धरती में।'' वापस लौटने को हाथ-पैरों ने अधीर मन का साथ नहीं दिया। खड़े-खड़े पत्ते-से काँपने लगे। लगा चमेली की बेल-से सैकड़ों चींटियाँ चढ़ आयीं देह पर। चूस लिया क्षणभर में प्रेम, ज्ञान, धैर्य, सब कुछ। पलभर में चुक गया जीवन। वापस दीवार पर चढ़े, पीछे अँधेरे में कूदे। कूदते हुए हाथ से वह कांसे का कटोरा जिसमें आधिक्या के घर की मिट्टी लेनी थी आँगन में जा गिरा। अचानक हुई इस आवाज़ से आधिक्या का हँसना, गाना थम गया। यह भूल कर कि वह किस

अवस्था में है, आँगन में निकल आयीं। वहाँ कोई नहीं था पर कुछ अनिष्ठ घटने को है, यह भान उन्हें भी हो गया था। वह सुध-बुध खोकर आँगन का एक-एक कोना ध्यान से देखने लगीं। उनके साथ एक पुरुष काया भी बाहर आकर उन्हें आश्वस्त करने की कोशिश करने लगी कि वहाँ कुछ नहीं है, वह आवाज़ उनका वहम है पर उन्हें उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ। उन्हें लगा जो गिरा है वह जा कहाँ सकता है उसे यहीं होना चहिए। तभी चमेली की बेल की जड़ों के पास उन्हें ज्ञानेश्वर के हाथ से छूटा काँसे का कटोरा मिल गया। वे झपट पड़ीं उस पे। पहचानती थीं उस कटोरे को। नग्न छतियों में कटोरा भींचकर बिलख पड़ीं। सुरीले कंठ में काँटे निकल आए। चीखते हुए बोलीं, 'पंडित ज्ञानेश्वर यहाँ आए थे' पुरुष स्वर ने उन्हें बहुत ढाँढस बँधाने की कोशिश की पर वह और अधीर होती गईं। देह का ताप उतरा तो वह बर्फ़-सी ठंडी होकर थरथर काँपने लगीं।

उधर अँधेरे में एक लम्बी काया को कुछ लोगों ने नहर की ओर बढ़ते देखा। उसके बाद वह अँधेरे में विलीन हो गयी।

ज्ञानेशवर को फिर किसी ने नहीं देखा।

सुबह गुरु जी खाली हाथ घर के बाहर आके बैठ गए। भास हो गया था अँधेरे में घटी घटना का। ख़ुद को दोषी मान अन्न-जल त्याग दिया। नहर, खेत, जंगल सब जगह ज्ञानेश्वर को ढूँढा गया पर तीसरे दिन शाम तक उनकी कोई ख़बर नहीं मिली। पर आधी रात बीतते-बीतते उस समय घर में हाहाकार मच गया, जब अँधेरे में कुछ परछाइयाँ ज्ञानेश्वर के शव को चारपाई पर रखकर घर पहुँचीं। उसी समय गुरु जी ने अपने प्राण त्याग दिए। अँधेरे में गूँजते रुदन से बच्चे सिर्फ़ इतना जान सके कि उनके बाबा को उनका प्रेम लील गया। उनका प्रेम, उनकी कला, उनकी इज्जत सब उनके साथ नहर में डूब गया। उसके बाद किसी ने आधिक्या देवी को गाना गाते नहीं सुना। बाद में पता चला कि उस घटना के कुछ दिनों बाद वह पहले बनारस और बाद में फिर अपने किसी दूर के रिश्तेदार के साथ दिल्ली चली आयी...

कहानी खत्म हुई तो उन्होंने तानपूरे को पास खींचकर अपनी गोद में रख लिया। फिर दीवार पर लगी पीली पड़ चुकी तस्वीरों को देखते हुए बोलीं, "अब वे दोनों ही नहीं हैं। बस समय की दी हुई एक सीख है... जीवन का सच वही नहीं होता जो हम सोचते हैं, जिसे हम जीना चाहते हैं, हम जिसके सपने देखते हैं। एक सच वह भी होता है जो हम दूसरों से कहते हैं, जिसका हम दूसरों को यक़ीन दिलाते हैं, जिसके कहने से हमारे और दूसरों के बीच एक रिश्ता क़ायम होता है, कलाओं के साथ जीवन में उस सच की भी हिफ़ाजत की जानी चाहिए, क्योंकि कई बार दूसरे आपके कहे पर यक़ीन करके, उसे ही अपने जीवन का सबसे बड़ा सच बनाकर जीने लगते हैं।"

रितेश आगे उनसे कुछ और पूछता कि रिद्धि अचानक उठकर सीढ़ियाँ उतर गयी। उसके यूँ चले जाने से वातवरण कुछ असहज हो उठा। पर रितेश ख़ुद को संयत करते हुए बोला, "कुछ बातें हैं जो मैं आपसे और विस्तार से जानना चाहूँगा। मुझे कुछ तस्वीरें भी चाहिए होगीं। मैं जल्दी ही किसी दिन फोन करके आ जाऊँगा।"

उसके बाद उन्होंने भी उसे नहीं रोका। तानपूरा एक ओर खिसकाते हुए वह खड़ी हो गयीं। रितेश उनसे विदा लेकर नीचे उतर आया। रिद्धि बाहर निकलकर गली में खड़ी सिगरेट जला रही थी।

रितेश लगभग खिसयाते हुए बोला, "हद करती हो यार। यूँ अचानक उठकर चली आई। वे क्या सोच रही होगीं?"

रिद्धि ने सिगरेट का कश खींचते हुए कहा, 'उठके चली आई क्योंकि इसके बाद की कहानी मुझे मालूम है। सुनना चाहते हो?'

रितेश स्तब्ध, रिद्धि को देख रहा था।

रिद्धि उसके बाद बड़बड़ाते हुए बड़े-बड़े डग भरते ऐसे गली से बाहर की ओर बढ़ने लगी मानो वहाँ एक पल भी रुकना न चाहती हो। रितेश बिना कुछ कहे उसके पीछे-पीछे चल रहा था। वह बोले जा रही थी, "उसके बाद पं ज्ञानेशवर की पत्नी आधी पागल हो गयीं। खाली बैठी हमेशा उनके इंस्ट्रूमेंट्स को छेड़ती रहतीं, कहतीं अपने पति के जाने के बाद सब कुछ वही सँभालेगीं। गाएँगी, बजाएँगी, गुरुकुल चलाएँगी। पर फिर उनके परिवार ने जितने क़दम बढ़ाए, सब जैसे किसी दल-दल में ही धँसते चले गये। सुनने-सुनानेवाले, मिलने-चाहनेवाले कोई नहीं रहे। खेत, घर, गुरुकुल, ताँगा, घोड़ा कुछ नहीं रहा। बेटे को बुरी संगत ने जुआरी बना दिया और बेटी किसी के साथ अचानक एक दिन घर छोड़कर दिल्ली भाग गयी। वो भी कुछ इस तरह की वापस लौटने का कोई रास्ता नहीं बचा। रह गए तो बूढ़े कोचवान बुद्धिबन और इतने बड़े घर में अकेली बैठी बेसुरे गीत गाती पं ज्ञानेश्वर की पत्नी।"

रितेश ने रिद्धि की बाँह पकड़कर उसे रोका और लगभग चीखते हुए पूछा, "तुम यह सब कैसे जानती हो?"

रिद्धि ने पैर से सिगरेट बुझाते हुए कहा, "यह वही कहानी है जो तुम्हें मैं कभी बताना नहीं चाहती थी। मैं पं ज्ञानेश्वर की बेटी हूँ।"

रितेश रिद्धि को ऐसे देख रहा था जैसे कहानी का कोई चरित्र यकायक किताब के पन्नों से निकलकर उसके सामने आ गया हो। वह धीरे-धीरे अविश्वास में सिर हिला रहा था।

तभी रिद्धि ने उसको घूरते हुए कहा, "और एक सच जानना चाहते हो तो सुनो... आधिक्या देवी मरी नहीं हैं। जिन्होंने हमें उनकी कहानी सुनाई है, वही आधिक्या देवी हैं। इतने सालों बाद मैं वह चेहरा भले ही न पहचान पाऊँ पर उस आवाज़ को मैं बहुत अच्छे से पहचानती हूँ।"

अबकी रितेश ने जेब से निकालकर सिगरेट सुलगाई और रिद्धि का हाथ पकड़कर सड़क पर आ गया।

मो.: 09810853128

# जीवन एक मूल्यानूभूति की प्रक्रिया है

## नन्दकिशोर आचार्य से लहरीराम मीणा की बातचीत

**आपकी रंगयात्रा के प्रति रूचि कब और कैसे हुई?**

बचपन से ही। मैंने शायद कहीं लिखा भी है। एक लेख 'संगना' के ही किसी अंक में प्रकाशित भी हुआ है। मैं जब शायद सातवीं-आठवीं कक्षा में पढ़ता था। अपने मोहल्ले में एक नाटक किया मित्रों ने मिलकर। हम सबने वो नाटक लिखा। रामलीलाएँ वगैरह देखते थे, तो हमारा मन होता था कि हम भी कुछ करें। ऐसा तो वो तो हम नहीं कर सकते थे, लेकिन एक नाटक हमने लिखा जिस पर कुछ फ़िल्मी प्रभाव भी था उसके डायलॉग्स पर, एक दो फ़िल्मों के गाने भी उसमें डाले थे, लेकिन उस समय दस-बारह साल की उम्र थी, तो अभिनय भी किया था मैंने उसमें। बाद में एक नाटक भी 'अभिमन्यु' हमने किया था उसके तत्काल बाद। तो उसमें भी मैंने अभिनय किया था, और तुम्हें यह जान कर हँसी आ सकती है, कि उसमें मैंने उत्तरा का भी अभिनय किया था और कृष्ण का अभिनय भी मैंने ही किया था। दृश्य ऐसे थे, जो टकराते थे, जो दृश्यों को काट-छाँटकर किसी तरह से किया गया था, तो एक तरह से नाटक के प्रति रुचि तो बचपन से ही थी, लेकिन समस्याएँ यहाँ पर यह थी कि यहाँ नाटक उस समय होते बहुत कम थे, स्कूलों वगैरह मैं भी साल में एक हाथ दफा होता था, कोई नियमित गतिविधि के रूप में नहीं। लेकिन नाटक पढ़ता था। संयोगवश मैं जब दिल्ली आया काम करने के लिए 'एवरिमेंस पत्रिका' में तो उस समय अज्ञेय सम्पादक थे उसमें। उन्होंने मुझे अन्य कामों के साथ यह काम भी सौंपा कि मैं नाटकों की समीक्षाएँ वगैरह लिखूँ— उनके अख़बार में। यह भी एक तरह से मेरी ड्यूटी का एक पार्ट था। और भानु भारती उस समय दिल्ली में रह रहे थे, और राजस्थान से थे। उनका घनिष्ठ सम्बन्ध मेरा उनसे था, वो मेरे पूर्व परिचित थे तो उनसे सम्पर्क घना होता चला गया। उसी दौरान क्योंकि मुझे नाटकों की समीक्षाएँ लिखनी होती थीं, मैं नाटक देखने जाता था, रिहर्सल भी देखने जाता था और 'एवरिमेंस' का जो दफ़्तर था वो गाँधी पीस फाउंडेशन में लगता था। और उसके पीछे ही अधिकांशत: रंगमंचीय गतिविधियाँ होती थीं, मंडी हाउस के आसपास। तो अक्सर नाटक होते थे नाटक को देखने का मौका, लिखने का मौक़ा। जब अकसर आप नाटक लिख रहे हैं तो उन पर समझने के लिए कुछ पढ़ेंगे, कुछ बातचीत करेंगे लोगों से। ये सब अवसर मुझे



मिलते रहे। बहुत से अभिनेताओं से, बहुत से निर्देशकों से मिलना-जुलना और बातचीत उन्हीं दिनों अंकुर जी से परिचय हुआ, उन्हीं दिनों राजेन्द्र गुप्ता से परिचय हुआ, उन्हीं दिनों ओमपुरी से परिचय हुआ। उन्हीं दिनों में मनोहर सिंह से परिचय हुआ, उत्तरा जी, रेखा जी, भानु भारती तो थे ही तो इन सबसे, ख़ासतौर से भानु का बहुत आग्रह था कि आप नाटक क्यों नहीं लिखते। मैंने कहा मैं कोशिश करूँगा। बचपन से ही एक ललक थी उस तरह की और अँग्रेज़ी साहित्य में ही एम.ए. करने की वजह से जो आधुनिक साहित्य था खासतौर से अमेरिका और यूरोप के नाटकों और कविताओं का। उस समय मैं खूब पढ़ता था, तो इन सब की वजह से मन में एक भाव, पैदा हुआ कि मैं भी एक नाटक लिखूँ। फिर संयोगवश बीकानेर जब लौटा तो यहाँ एक 'रंगन' नाम का नाट्य समूह था। उस समूह के लोगों से बातचीत होने लगी। आधुनिक नाटक किया करते थे, कई बार मेरे पास आते थे। मैं उसी दौर में एक नाटक लिखा 'किसी और का सपना' जो मेरा पहला नाटक था। ओम थानवी के निर्देशन में खेला गया जो बाद में जनसत्ता के सम्पादक हो गये। वो उस समय एक रंगकर्मी के रूप में भी काम कर रहे थे और उनकी अच्छी समझ थी, उन्होंने उस नाटक का निर्देशन किया था। और यही के कुछ कलाकारों ने अच्छा काम किया था। एकबार शुरू हो गया तो इस तरह से नाटक के प्रति रूचि बढ़ती गयी।

**हिन्दी रंगमंच और सिनेमा के अन्तर्सम्बन्धों को आप किस रूप में देखते हैं?**

दोनों में एक चीज कॉमन है— अभिनय। जहाँ अच्छा अभिनेता वहाँ अच्छा अभिनय है, लेकिन हैं दोनों भिन्न विधाएँ। अभिनय के कारण दोनों को हम आपस में जोड़ के देखने के आदी हो गए हैं। रंगमंच का अभिनय एकदम भिन्न होता है, सिनेमा का अभिनय बिल्कुल भिन्न। दोनों नहीं हो सकते। रंगमंच में चेहरे के भाव उस तरह से नहीं दिखा सकते जिस तरह से क्लोजप में दिखाते हैं। एकदम आपके चेहरे को ला के रख दिया एक फुट की दूरी पर। ऐसा आप उसको देख सकते हैं, लेकिन वहाँ ये सम्भव नहीं होता है। इसी तरह से यह भी सम्भव नहीं होता कि आप किसी एक दृश्य के साथ किसी दूसरे दृश्य को जोड़ दें। यह काम फ़िल्म कर सकती है। तो दोनों में अभिनय के प्रकार अलग है, दोनों की अभिनय की ज़रूरतें अलग हैं। इसी तरह से दोनों के आहार्य अलग हो जाते हैं। आप रंगमंच पर बड़ा जंगल नहीं दिखा सकते, आप केवल संकेत कर सकते हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं, कि दोनों में अन्तर केवल अन्तसम्बन्ध केवल अभिनय के स्तर पर है, क्योंकि दोनों दृश्य विधाएँ हैं? दोनों में भाषा का इस्तेमाल है। या दोनों में संगीत और ध्वनि का इस्तेमाल है। आप कह सकते हैं कि रिलेटेड है आपस में। दोनों की ज़रूरतें अलग-अलग है। दोनों को देख करके होनेवाला अनुभव अलग है। एक जगह आप छाया देखते हैं, एक जगह आप जीवित व्यक्ति देखते हैं। दोनों एक कैसे हो सकते हैं, यह अन्तर्सम्बन्ध एक सीमित अन्तर्सम्बन्ध है।

**आपके नाटकों में द्वन्द्व की स्थिति जो उभर कर आती है, चाहे पुरुष-पात्रों में हो या स्त्री-पात्रों में, सब का द्वन्द्व अलग-अलग रूपों में देखने को मिलता है, इसके बारे में आप क्या कहना चाहते हैं?**

नहीं, द्वन्द्व तो मनुष्य के मन की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। द्वन्द्व के बिना नाटक कैसे होगा? एकायामी अभिनय हो जाएगा मतलब एकायामी अभिनय तो सम्भव नहीं है। उसकी सम्भावनाएँ बहुत कम हो जाती है। अगर प्रत्येक चरित्र में कोई द्वन्द्व नहीं है तो उसके अभिनय की उत्कृष्ट सम्भावनाएँ सामने नहीं आतीं। द्वन्द्व ही एक ऐसी स्थिति है जिसमें एक साथ कई चीजें दिखा सकने की चुनौती सामने होती है। जैसे मैंने अम्बिका का उदाहरण दे कर बताया कि जो स्थिति की द्वन्द्वात्मकता है, उसके कारण वो चरित्र में आ जाती है यही 'देहान्तर' के सभी चरित्रों में द्वन्द्व की स्थिति देखने को मिलती है। गाँधी में है, वो द्वन्द्व ही तो है और क्या है? अगर एकायामी अभिनय है या कोई भी चीज अगर एकायामी है तो उसकी उपयोगिता या उसकी सार्थकता सीमित हो जाती है। वो तभी उस स्थिति के विविध आयाम होते हैं, वो द्वन्द्व में ही खुलते हैं। मैं जब नाट्य क्षण की बात करता हूँ तो वहीं द्वन्द्वात्मक क्षण होता है हमेशा, उसी से होकर दूसरे रास्ते खुलते हैं।

**अज्ञेय जी से आपका सम्बन्ध काफी लम्बे समय तक रहा है। आपने 'अज्ञेय की काव्य तितीर्षा' नामक पुस्तक की रचना भी की है। आपको प्रमुख कवि मानते हुए अज्ञेय जी ने चौथे सप्तकों में स्थान दिया। उनके साथ बिताये समय के बारे में आपका क्या कहना है?**

इस तरफ़ जाएँगे तो वो बहुत लम्बी कहानी हो जायेगी। सन् 1971 से लेकर और उनके देहावसान तक का लम्बा समय है। निरन्तर सम्पर्क रहा है। सालभर मैं उनके घर पर उनके साथ रहा और मेरी बहुत-सी छुट्टियाँ गर्मी की या सर्दी की और मेरा अधिकांश समय दिल्ली में उनके यहाँ और उनके साथ कई बार पहाड़ों की यात्राओं में बीता। एक सम्पादक और एक पत्रकार के बतौर नया पत्रकार सम्पादक से क्या सीख सकता है। इस रूप में भी मैंने उनके साथ काम किया। उनके साथ साहित्यिक पत्रकारिता भी की, साहित्यिक आयोजनों में भी हिस्सेदारी की और वैयक्तिक जीवन में भी कई रूपों में देखने को मिली, वो सब लिखूँगा जब आपको भिजवा दूँगा, बहुत लम्बा इतिहास है, और ये मैं मानता हूँ कि मेरे जीवन को जिन लोगों ने बहुत गहराई से प्रभावित किया उनमें से वे एक है। बहुत स्नेह मुझे मिला उनका स्नेह मिला कि कुछ कहानियाँ और जो कुछ उनके बारे में मैं सुनता था जिसके

कारण से मैं लम्बे समय तक उनसे मिला नहीं था। जब मैं पुस्तक लिख रहा था कहीं लोगों ने मुझसे कहा कि मिल लो, बात कर लो, इंटरव्यू कर लो, मैंने कहा कि उनके बारे में जो कुछ सुनते हैं वो अच्छा नहीं है, लेखक वो बहुत बड़े और अच्छे हैं, मुझे तो बहुत ही अच्छे लगते हैं। मैं दसवीं क्लास से ही उनको पढ़ते आ रहा था। 'शेखर एक जीवनी' मैंने पहली बार दसवीं में ही। मैंने कहा कि जो अफवाहें सुनी है, उनके बारे में, अगर वो सच निकल गयी, मन नहीं मानता है कि वो सच होगी, तो मैं जीवन भर इस व्यक्ति का सम्मान नहीं कर पाऊँगा। जिस लेखक को मैं इतना चाहता हूँ, पसन्द करता हूँ, मैं व्यक्ति रूप में इसका सम्मान ना करूँ तो बहुत दुखदायी होगा। तो मुझे मिल के क्या करना है वो एक लेखक है मैं पढ़ रहा हूँ। मेरे लिए इतना ही पर्याप्त है। संयोग था कि पुस्तक जब प्रकाशित हो गयी तो उसके बारे में मैंने कहा है कि वो क्यों लिखी गयी? मेरा आलोचक होने का कोई मन नहीं था, ना ही अभी भी मैं ऐसा आलोचक अपने को मानता हूँ। वैसे काफ़ी आलोचना लिखी है।

मेरे साथी भी कहते रहे कि यही तुम्हारा सबसे ज्यादा काम है, लेकिन ख़ैर फिर वो किताब भेजी गयी जब वो कैलीफोर्निया में थे बर्लिन में। मेरे प्रकाशक ने भेज दी और उसका आग्रह भी था कि मैं भेजूँगा। मैंने कहा अरे जब आएँगे तब भेज देना। इतना महँगा डाक का खर्चा क्यों करना है। उस जमाने में चालीस रुपये भी बहुत ज्यादा हुआ करते थे। वैसे वो कॉलेज के दिनों का मेरा बहुत अच्छा मित्र भी था। उन्होंने जिद्द कर ली कि मैं भेजूँगा। जब कई दिनों बाद एक चिट्ठी आयी तो मुझे उसे देखकर ऐसा लगा कि यह आदमी तो इतनी विनम्र भाषा लिख रहा है, कैसे मैं यह मान सकता हूँ कि यह इतना अहंकारी है? फिर उसके बाद में वे जोधपुर में आये और जोधपुर यूनिवर्सिटी में कई दिनों तक रहे और जोधपुर से मेरा घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। जोधपुर से मैंने एम.ए. इतिहास से किया और मैं वहाँ आता-जाता था। एक दफा मैं गया हुआ था तो मैंने फोन करके पूछा तो उन्होंने कहा कि आप आ जायें, हालाँकि उन्होंने चिट्ठी में ही लिखा था कि जब मैं राजस्थान आऊँगा फिर आपसे मिलना होगा। सहज भाव से वे मिले और इसके बाद उतने ही सहज भाव से पूरे जीवन भर हमारा आपसी मिलना रहा और इतने लम्बे समय में कभी कोई तनावपूर्ण सम्बन्ध मेरा उनके साथ कभी नहीं रहा। खासतौर से इसलिए भी कि मेरी जो राय होती थी उनकी राय से भिन्न होती थी। मैं उनके सामने स्पष्टता से रख देता था। कभी उसे ऐसा नहीं लगा कि मैं ना कहूँ किसी बात को और वो बड़े गौर से उनको सुना करते थे और मुझे पूछते थे कि क्यों ऐसा सोचते हो और फिर मैं अपने तर्क देता था। तो बात तर्क के स्तर पर भी होती थी। कभी मैंने ऐसा नहीं पाया कि वो इस कारण से मुझसे नाराज हैं, क्योंकि मैं उनसे भिन्न राय रखता हूँ। ख़ुद उनके लेखन के बारे में कई दफा मैंने जिन्हें कुछ लोग असुविधाजनक सवाल कह सकते हैं, वो इंटरव्यू में छपे। प्रशंसा भी है उसमें उनकी उसमें प्रशंसात्मक वाक्य भी है और आलोचनात्मक वाक्य भी। तो ऐसा नहीं है कि इस कारण से उन्होंने कभी बुरा माना हो। फिर एक दफा जम्मू में जब एक शिविर लग रहा था तो मैंने उसमें कुछ बात कही तो उसमें शीन काफ़ निज़ाम भी मेरे साथ थे। उसमें तो वो बाहर आकर मुझसे नाराज हो गये और बोले कि तुम इतने बड़े लेखक के बारे में इस तरह की बात करते हो और उनके सामने ही तो मैंने कहा कि ये तो मैंने उनसे ही सीखा है? कि जो बात हो वो कह देना चाहिए, मैंने कहा कि आप विनम्रतापूर्वक पूरी दृढ़ता के साथ अपनी बात कैसे कह सकते हैं? अपनी असहमति भी सम्मान के साथ कैसे दर्ज करा सकते हैं। ये मैंने उनसे सीखा है तो वहीं मैने किया है। जब कि उन्होंने भुरा नहीं माना उन्होंने कहा कि मैंने आपसे उस मुद्दे पर सहमति व्यक्त की थी, लेकिन उस समय सब को लगा और वहाँ उस समय रामस्वरूप चतुर्वेदी बैठे थे उन्होंने कहा कि क्या बात करते हैं, तो मैंने कहा कि यहाँ कविता में मुझे फाँक दिखाई देती है। रामस्वरूप चतुर्वेदी फाँक और भाई की कविता में मैंने कहाँ है फाँक? रामकुमार चतुर्वेदी उनको बड़ा शब्दशिल्पी मानते थे, सब लोग। शब्द के मामले में तो कोई समस्या हो ही नहीं सकती थी। मैंने सारा आरग्यूमेंट दिया और बताया तो फिर चतुर्वेदी कहते हैं कि चलो भाई से पूछते हैं। तो मैंने कहा कि भाई से क्यों पूछते हैं आप एक बड़े आलोचक हैं मैं एक छोटा-सा पाठक हूँ, मैंने अपनी बात कहीं आप अपना तर्क दीजिए, तो उन्होंने यह कहा कि बैठे हैं तो पूछ लेते हैं ऐसी कोई बात नहीं है? फ़िर जब पूछा गया उनसे तो उन्होंने कहा कि कोई भी कविता निर्दोष नहीं होती है। इस दृष्टि से नंदकिशोर जी की बात को समझा जा सकता है। तो एक तरह से वो सहमति थी— उसे। इस बात पर निज़ाम बहुत नाराज हो गये कि तुम उनके उपस्थिति में सम्मान नहीं करते हो, तो मैंने कहा कि सम्मान तो मैं उनका पिता की तरह करता हूँ। पिता जैसा सम्मान करता हूँ, लेकिन पिता से भी तो हम कह देते हैं कि इस बात से सहमत हूँ, इस बात से असहमत हूँ। अगर साहित्यिक प्रक्रियाओं में वैसा रिश्ता महसूस करता हूँ तो बात उनको मुझे कह देना चाहिए और कही मैंने नहीं तो उसके बाद भी वो कभी मुझसे नाराज नहीं हुए।

मैंने यह कभी नहीं पाया कि वो मुझसे नाराज हुए, जबकि मैं काफ़ी साफ बात कहनेवाला आदमी माना जाता हूँ और कहता भी हूँ। लेकिन ये सब घटनाएँ कभी लिखूँगा, मैं उनके साथ लम्बे समय तक रहा, इतनी घटनाएँ, इतने रूपों में और उनके साथ उनके घर में भी साथ रहा।

**अब मेरा सवाल आपकी रचना प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। आपकी रचना प्रक्रिया में आप एक नाटककार, चित्रकार, विश्लेषक, उपन्यासकार, इतिहासकार, कथाकार, अनुवादक कई रूप आपके दिखाई देते हैं। सब विधओं की रचना प्रक्रिया में आपको**

**क्या अन्तर दिखाई देता है। विशेष रूप से एक नाटककार की रचना प्रक्रिया में।**

ये तो बड़ा विस्तृत जवाबोंवाला सवाल आपने किया, अगर मैं इसको ठीक तरह से कह सकूँ तो पहली बात तो यह है कि ये जो सारी प्रक्रिया है ये भिन्न है, लेकिन एक दूसरे के विरोधी नहीं। हम अकसर यह मान लेते हैं कि जैसे कोई आपस में भेद है, विरोध है ये हो सकता है तो वो नहीं हो सकता। ऐसे बहुत से उदाहरण आपको साहित्य में या बहुत से जगह में मिलेंगे जहाँ आपको एक रचनाकर जो एक विश्लेषक भी है, वो कई जगह पर दार्शनिक भी है, वो एक राजनीतिकर्मी भी है, क्योंकि मैं यह मानता हूँ कि पूरा जीवन एक मूल्यानुभूति की प्रक्रिया है। और ये जो मूल्यानुभूति है वो कई रूपों में, कई तरीकों से, कई आयामों में होती है। तो उस मूल्यानुभूति की प्रक्रिया में जहाँ भी आप, अगर मैं कैरियर की दृष्टि से मैं करूँ तो शायद वो मुझसे नहीं होगा। उसके बारे में एक दूसरे तरीके से सोचना पड़ेगा। लेकिन अगर मेरे लिए यह सारी प्रक्रिया अपने कुछ समझने की, अपने और अपने समाज के परिवेश के साथ अपने सम्बन्धों को समझने की, मनुष्य के भविष्य को और मानुवत्त्व को समझने की प्रक्रियाएँ हैं, जो कि मैं मानता हूँ कि है, तो जाहिर है कि इन सब में विरोध नहीं आता है। विरोध तब आप कह सकते हैं, जब आप यह पायें कि मैं नाटक में जिन मूल्यों की तलाश कर रहा हूँ और जिन मूल्यों के प्रति अपना आकर्षण व्यक्त कर रहा हूँ, मैं राजनीतिक लेखों में कुछ और कर रहा हूँ या अर्थशास्त्रीय लेखों में कुछ और कर रहा हूँ या कविता में कुछ और दार्शनिक में कुछ और कर रहा हूँ। ऐसा अगर है, तब तो अन्तर्विरोध दिखाई देता है, जो भी हो सकता है कभी-कभी, लेकिन अगर मोटे तौर पर देखा जाए तो यह सारी प्रक्रियाएँ जीवन को समझने की प्रक्रियाएँ हैं, जीवन को और अधिक सृजनात्मक बनाने की प्रक्रियाएँ हैं और साहित्यिक भी एक प्रक्रिया है। करना सिर्फ आपको यह होता है कि जब आप किसी विधा को चुनते हैं या किसी विधा आपको किसी खास कारण से आपको अपनी ओर आकर्षित करती है, आपके मन में ऐसा कोई अनुभव भी हो सकता है जो कभी अस्मिता की तरफ़ आपको ले जाता है। कभी ऐसा हो सकता है कि परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बन गयी है कि आपको एक विधा की तरफ़ आपको जाना पड़ता है, जैसे मान लो कि कोई तात्कालिक राजनीतिक परिस्थितियाँ ऐसी हो कि आप कब नाटक लिखेंगे और कब होगा तो आप उसका विश्लेषण करते हैं, एक राजनीतिक विश्लेषक के रूप में जो कि मैं करता रहा हूँ तो ये मुझे लगता है कि ये सारी चीजें ऐसी है जो कि मेरी सृजनात्मकता को एक नया आयाम देती है। और वो अगर मेरी सृजनात्मकता को सन्तुष्ट करती है और मुझे उसमें कुछ और सम्पन्नता महसूस होती है, हाँ मैंने कुछ पाया ऐसा करके, फिर मैं पाने को स्पष्ट कर दूँ कि मैं पाने को मैंने नये सिरे से पाया। इसमें तो उसमें कोई विरोधाभास जैसी कोई ऐसी चीज नहीं रहती है, करना सिर्फ़ आपको यह होता है कि आप उस प्रक्रिया की जो अपनी अनुशासन है, उस प्रक्रिया की जो अपनी स्वायतत्ता है, उसके प्रति सचेत रहे। जैसे अगर आप पायेंगे शायद कि कविता या नाटक में आप मेरा उस तरह का विश्लेषण नहीं पायेंगे जो मेरे दार्शनिक लेखों में या मेरे राजनैतिक लेखों में मिलेगा, क्योंकि वो भिन्न प्रक्रिया है, लेकिन वो विरोधी प्रक्रिया नहीं है। ये ध्यान रखने की बात होती है केवल और कुछ भी नहीं है। और आप पायेंगे ऐसे बहुत से बड़े-बड़े क्रिएटिव राइटर भी है। अगर आप उनकी 'बी एड नथिंग्स एक्स' पढ़ेंगे तो आप ये नहीं समझ पाएँगे कि इसी आदमी ने उपन्यास भी लिखे होंगे, इसी आदमी ने कहानियाँ भी लिखी होगी, नाटक भी लिखे होंगें।

**आपकी प्रारम्भिक पुस्तक 'तथागत' जो गौतम बुद्ध के जीवन पर आधरित एक ऐतिहासिक उपन्यास है। जिसमें बौद्ध धर्म को आधुनिक वातावरण के रूप में देखने का प्रयास किया गया है, ऐसी कौन-सी वजह रही है, जिसे प्रभावित होकर आप भगवान बुद्ध पर लिखने के लिए प्रेरित हुए।**

दरअसल, ये मेरे विद्यार्थी जीवन की रचना है। जब मैं एम.ए. कर रहा था। एम.ए. मैंने इतिहास में पहले किया और अँग्रेज़ी में बाद में एम.ए. किया। इम्तिहान देकर के जब मैं आया तो छुट्टियों में यह उपन्यास लिखा गया था। उसकी वजह यह थी कि बुद्ध का जीवन शुरू से ही मुझे बहुत आकर्षित करता रहा। अपने बचपन से। गाँधी और बुद्ध दोनों। आधुनिक जीवन में देखा जाए तो गाँधी और पुराने लोगों में बुद्ध। ये मुझे बहुत ही आकर्षित करते रहे उनका करुणा का भाव एक तरह से हम यह कहें कि शान्त भाव का जो अनुभव होता है वो और किसी व्यक्तित्व में ऐसा नहीं, होता मुझे कम से कम। ऐसा नहीं कि व्यक्तियों में होता नहीं लेकिन जो बुद्ध के व्यक्तित्व में मुझे होता है। अट्ठारह-उन्नीस साल की कोई ज्यादा उम्र भी नहीं थी, बहुत ज्यादा प्रभावित था मैं उनसे। और मैं उनके जीवन के बारे में बहुत कुछ पढ़ा था। एम.ए. करते हुए। उस जमाने में जो उनकी मूल किताबें भी जो अनुवाद के रूप में जो उपलब्ध हुई है 'बुद्ध चरित' इत्यादि। ये सब मैंने पढ़ी और उसका प्रभाव मेरे पे इतना पड़ा कि मुझे लगा इसके बारे में मुझे कुछ लिखना चाहिए और यह भी लग रहा था कि बहुत-सी चीजें हैं जो उनको अपने समय में कैसे समझे, आज तो मुझे लगता है वो बहुत कच्ची रचनाएँ हैं वो लेकिन तब अपने समय में बुद्ध को कैसे समझे और अपने लिए कितना प्रेरणास्पद हो सकते हैं तो उसी दृष्टि से वो करीब डेढ़ दो महीने में वो लिख लिया गया। और संयोग ऐसा था कि प्रकाशन की भी सुविधा बन गयी तो प्रकाशित भी हो गया। अभी में दुबारा उसका पॉकेट बुक में भी छपा है जो उसको वाग्देवी ने ही छापा है। लेकिन मैं उसको औपन्यासिक जीवनी ही कहना पसन्द करता हूँ।

**'तथागत' के बाद आपने कोई दूसरा उपन्यास आज तक क्यों नहीं लिखा, इसकी कोई वजह?**

कोई वजह नहीं, लेकिन उपन्यास लिखने का कई बार मन ज़रूर बना। लेकिन पता नहीं शायद मेरी सामर्थ्य से बाहर है ये कहूँ या शायद मैं जिस तरह का उपन्यास लिखना चाहता हूँ वो ऐसा नहीं बन पा रहा है। क्योंकि दो तीन दफा मैंने कोशिश की, कुछ पृष्ठ लिखे भी, लेकिन मुझे लगा कि मैं जिस तरह से चाह रहा हूँ वैसा आगे नहीं बढ़ पा रहा है वो क्योंकि जो उपन्यास के ढाँचे बने हुए हैं मैं उसे थोड़ा मुक्त होकर लिखना चाहता था। और दूसरा यह भी था कि जो तलाश मेरी वहाँ है वो तलाश जो अभी उपन्यास का ढाँचा चल रहा है ऐसी भाषा का उसमें पूरी नहीं हो रही थी। और उसके जो विकल्प दिखाई दे रहे थे, उसमें भी पूरी नहीं हो रहे थे। जैसे विकल्प कृष्ण बलदेव वैद के उपन्यासों में हमको दिखाई देता है। लेकिन वो मेरे लिए शायद मेरा विकल्प नहीं हो सकता था। इस कारण से शायद नहीं लिखा गया, हँसते हुए पर मन है, पता नहीं शायद कब लिखा जाए। इसके बारे में मैं नहीं कह सकता। और हो सकता जब नाटक लिखने लगा, तो हो सकता है जो दूसरे तरह की तलाश है उसकी कुछ पूर्ति वहाँ पर हो जाती हो।

**आपने एक साक्षात्कार में कहा था कि कविता भी नाटक होता है, पर वह मूलतः अभिनय की ओर ले जानेवाला नहीं हाता है। ऐसा क्यों?**

हाँ, नाटक में एक तरह की कौंध की अनुभूति होती है जो कविता में भी होती है, एक तरह की सैडनेस भी कई दफा उसमें होती है। दूसरा यह है कि हर कविता में कुछ न कुछ घटित अवश्य होता है। लेकिन वो घटित मानसिक तौर पर नाट्यानुभूति जैसा हो सकता है। पर उसका रंगमंचन या रंगमंचीय सम्भावना उसमें नहीं होती है कि आप रंगमंच पर उसको दिखा सके। एक फूल का खिलना, एक कली का फूटना अपने आप में एक ड्रेमेटिक इवेंट है। तो मैं इस पर एक कविता तो लिख सकता हूँ, लेकिन इसको मैं मंच पर प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसलिए मैंने कहा कि मैं नाटक को अभिनय केन्द्रित मानता हूँ। तो वो बड़ा मुश्किल होता है और सामान्यतः बहुत-सी कविताओं का नाट्य पाठ तो हो सकता है, जैसे रघुवीर सहाय ने इस तरह के प्रयत्न किये। नाटकीय विधि से पढ़े उसको यह तो सम्भव हो सकता है, लेकिन स्वयं उसके साथ अभिनय करे यह नहीं सम्भव हो सकता है।

**अपनी इस लम्बी रंगयात्रा में सबसे ज्यादा सृजनात्मक सुख किस नाटक में मिला, कुछ बताना चाहेंगे।**

(हँसते हुए!) अब ये एक ऐसा सवाल है जिसका कोई उत्तर नहीं दे सकता। क्योंकि जिस समय लिखा जा रहा होता है उस समय तो हर रचना आपको सुख देती है और उसके बाद भी हर रचना में एक असन्तोष भी पैदा होता है। (हँसते हुए!) तो इसलिए यह नहीं कह सकता कि सुख किसे मिला या किससे सबसे अधिक असन्तोष किसे हुआ। हाँ जब मैं सोचता हूँ कि कुछ नाटकों की प्रक्रिया थोड़ी लम्बी रही कुछ नाटकों की थोड़ी कम रही तो ये तो हो सकता है कि कुछ से ज्यादा समय तक सन्तोष मिला और कुछ से कम समय तक सन्तोष मिला। कम या ज्यादा नहीं उसके गुणात्मकता की बात नहीं कर सकता मैं। क्योंकि हर नाटक ने मुझे एक तरह का सुख दिया, वो सुख सामान्य सुख से अलग है। वो एक बड़ा ही वेदना सिक्त सुख होता है। तो वो लगभग हर नाटक से मुझे मिला, लेकिन साथ ही मैं यह भी कहूँगा कि कुछ अर्से भी उसे असन्तोष भी मिलता है कि कुछ और हो सकता था या इसमें बेहतर हो सकता था। कुछ तलाश और गहरी जा सकती थी। तो वो हर नाटक के साथ ऐसा भी हुआ है। मेरे को तो कई दफा अपने वैचारिक लेखन से भी वैसा ही सुख मिला है, जब मैं गाँधी जी पर लिख रहा था अभी भी विनोबा जी पर मैंने लिखा है तो वैसा ही सुख उसको लिखते हुए मिलता है, वैसे ही एक तृप्ति का अनुभव होता है। मेरे ख्याल से ये सभी सृजनात्मक कमी ही है। जब आप किसी नयी चीज की तलाश करते हैं, तो वही तो सृजनात्मक है।

**आलोचना में नाटक की उपेक्षा होती है, वो कैसे?**

देखिए, आप तो यह पाएँगे सामान्यतः कि क्या आपको लगता है कि हममें वाकई कोई बहुत उत्कृष्ट नाट्यालोचना सम्भव हुई है? जितनी विस्तार से मैं लिखित नाटक आलोचना की बात नहीं कर रहा हूँ। उसमें तो आपको लिखित में सबकुछ मिल जाएँगे। लेकिन मैं आपको रंगमंचीय आलोचना की बात कर रहा हूँ। एक किस्सा सुनाता हूँ मैंने कुछ समीक्षकों से कहा कि आप विस्तार से चर्चा क्यों नहीं करते किसी प्रस्तुति की। छोटा-मोटा करने से, इसे तो कुछ पता नहीं चलता है। तो उन्होंने कहा कि स्पेस नहीं है। तो मैंने कहा चलिए मैं एक वादा करता हूँ कि आप दस उत्कृष्ट नाटकों की उत्कृष्ट प्रस्तुतियों की विस्तृत विवेचना कीजिए जितनी विस्तृत आप कर सकते हैं। उस पुस्तक को प्रकाशित करवाने की जिम्मेदारी मैं लेता हूँ। चाहे मुझे अपना खर्च करना पड़े। अगर कोई प्रकाशक नहीं तैयार होता है तो मैं उसके लिए तैयार हूँ, मैं कहीं से भी व्यवस्था करके उसको प्रकाशित करवा दूँगा। दो तीन-मित्रों से बात हुई नाम लेना उचित नहीं समझता हूँ किसी ने नहीं किया। क्योंकि तब आपको बहुत गहराई में जाना होता है? क्या कोई नाट्यालोचना हमको बताती है कि ये जो रंगसज्जा की गयी है, इसकी इस नाट्य प्रभाव में क्या भूमिका है, और क्यों है? क्या कोई रंगालोचना हमको यह बताती है कि ये जो प्रकाश व्यवस्था की क्या बारीकियाँ हैं इसमें, प्रकाश व्यवस्था बहुत अच्छी थी या खराब थी, प्रभाव नहीं डाल रही थी इत्यादि। ये वाक्य एक स्तर से जिनका कोई अर्थ नहीं है, जिसको आलोचना नहीं कह सकते हैं। अभिनय की बारीकियों को लेकर के जैसे हम कविता की व्याख्या करते हैं, एक कविता पर हम दस पेज की व्याख्या कर देते हैं, एक

दस पंक्तियों की कविता है, और दस पेज में व्याख्या कर रहे हैं, जो सम्भव होती है। जो उपन्यास की हो सकती है, कहानियों में भी की गयी होगी, कुछ नाटकों के भी बारे में लिखा गया होगा जो कि टैक्स के रूप में छपे हुए रूप में। लेकिन प्रस्तुतियों की जब मैं यह कह रहा हूँ कि नाट्यालोचना का अभाव है, तो मेरा संकेत उस तरफ़ है। प्रस्तुतियों की आलोचना की तरफ़, क्योंकि उसके न तो नाटककार को कोई मदद मिलती है। आगे वो किस तरह से सम्भावनाओं को न तो समझे क्या कमी रही गयी होगी। इन टैक्सट में की क्या कमियाँ रह गयी और न निर्देशक को कोई मदद मिलती है, ना अभिनेता को कोई मदद मिलती है, न दर्शकों की कोई समझ विकसित होती है। इसलिए मैं यह कहता हूँ, इससे कुछ मेरे मित्र मुझसे नाराज भी हो सकते हैं पर मैं उनके सामने भी यह बात कहता रहा हूँ। अगर आलोचना है तो मुझे बताइयेगा मैं पढ़ना चाहूँगा। उत्कृष्ट कृतियाँ भारतीय नाट्यालोचना की चुन लिजिए। इतने बड़े प्रदर्शन हुए, बहुत अच्छे से प्रदर्शन हुए हैं उन प्रदर्शनों की बहुत चर्चा आप करते हैं, लेकिन वो चर्चा अच्छे हुए, यहाँ तक ही सीमित हो जाती है। उसका एक तात्विक विश्लेषण नहीं मिलता। और हो सकता है, और वही वास्तविक नाट्यालोचना है। अगर आप मेरी कविता पुस्तक पर आलोचना लिखे और उसमें ऐसा लिखा कि इसने यह कहा है, इसमें बहुत अच्छे प्रतीक मिल जाते हैं। बहुत अच्छे बिम्ब मिल जाते हैं, बड़ी भावूपर्ण है ये कोई आलोचना नहीं है मतलब आलोचना वो होती है जो समझ विकसित करे, आपने देखा होगा और नहीं तो आप दिल्ली में रहते हैं। देख सकते हैं, एक किताब है, जॉनवेन ने एडिट की है उसको 'इंटरपेटेशंसस' नाम है उसका। उसमें दस-बारह कविताएँ उनमें और उन दस बारह कविताओं की व्याख्या। हॉकिन्स की एक कविता शायद बारह-चौदह पंक्तियों की कविता है लगभग पन्द्रह पेज में उसकी व्याख्या है एक-एक शब्द की। कैसे कहाँ, उसमें क्या रिद्म पैदा होता है, उससे क्या भाव पैदा होता है। टोटल पिफर मिलाकर के क्या होता है, एक कविता की। ऐसा प्रयत्न हिन्दी में कुछ विद्यानिवास मिश्र ने 'राम की शक्ति पूजा की' या 'असाध्य वीणा' की व्याख्या करते हुए किया है। या उपन्यासों में माल लो बीस पेंच का लिख दिया। मैंने नैमिजी से भी कहा था कि आप तो यह कर सकते हैं, आप क्यों नहीं यह काम कर रहे हैं? पर उस समय हमारी ये बातचीत हुई बहुत उम्र हो चुकी थी उनकी। मैंने कहा जैसे आपने 'अधूरे साक्षात्कार' लिखा है, वैसे आप नाटकों को लेकर कम ही लिखते हैं। हिन्दी के नाट्यालोचना के विकास में उनका बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। और पूरा वातावरण बनाया उन्होंने, लेकिन मैंने कहा कि आपने उतने विस्तार से आपने नहीं लिखा। न प्रस्तुतियों के बारे में और न ही कृतियों के बारे में जबकि आप सब समझ रहे और सब कुछ आपके सामने है। और उपन्यासों के बारे में लिखा है आपने। आप सहमति-असहमति रख सकते हैं, उनके बहुत से निष्कर्षों पर, लेकिन वो इतना विस्तार से लिखा है और पहचानने की कोशिश की है, और नाम ही 'अधूरे साक्षात्कार' रखा है, तो यह काम नाटकों के बारे में नहीं हुआ है, मैं सिर्फ़ यह कह रहा हूँ।

**आपने जब 'हस्तिनापुर' नाटक लिखना शुरू किया तो अम्बिका इस नाटक के केन्द्र में थी। अम्बिका के अन्तर्द्वन्द्व में अभिनय की जबरदस्त सम्भावना आपको दिखाई देती है या नजर आती है। जबकि आपके द्वारा दिये गये साक्षात्कार में कहते हैं कि मुझे 'शुभा' का चरित्र प्रिय लगता है, ऐसा क्यों?**

हाँ, यह एक रोचक चीज है, क्योंकि मैं हमेशा उसी क्षण की तलाश में रहता हूँ कि उत्कृष्ट नाट्य अभिनय कहाँ सम्भव है उसी की तलाश में रहता हूँ उसी को मैं नाट्यक्षण कहता हूँ। उसी में मैं नाटक की तलाश करता हूँ। वो मुझे अम्बिका के द्वन्द्व के रूप में दिखाई दिया, एक स्त्री जिनका पति नहीं है अब उसको नियोग के लिए तैयार किया गया है और उसको कहा गया है कि उसका देवर आएगा वो देवर के रूप में केवल भीष्म को जानती है। वो इस बात से अत्यन्त आह्लादित है, कि भीष्म जिन्होंने आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत ले रखा है वो नियोग के लिए उसके पास आएँगे। और ये भीष्म है जो उठा के लाये थे उसे, हरण करके लाया था अपने भाई के लिए और भीष्म उस समय के सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति थे। एक आकर्षण उसके मन में पैदा होता है और उन्हें इस बात की प्रसन्नता है कि भीष्म मेरे प्रति आकर्षित है। इसलिए वो अपने को तैयार करती है और बड़ी प्रसन्नतापूर्वक तैयार करती है और आते हैं— वेदव्यास। वेदव्यास का एक महान व्यक्तित्व है, इसमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन उसको तो कल्पना नही है उनकी (भीष्म) की वह तो भीष्म की कल्पना कर ही रही है, और वहाँ वेदव्यास आते हैं। जो काले कलूटे और कुरुप माने जाते हैं और वो भाव उनके प्रति नहीं है, उसके मन में है, जो भीष्म के प्रति उनके मन में हो चुका है। तो मुझे ये सारा इतना जटिल लगा और मुझे लगा कि जो अभिनेता या अभिनेत्री यानि ऐसा नाट्य क्षण है, और इसके आगे पीछे का क्षण भी नैचुरल है तो उसमें उत्कृष्ट सम्भावनाएँ मुझे दिखी तो उसको लिखने की मेरी तलाश हुई। मैं हर अपनी कृति को एक अन्वेषण मानता हूँ। चाहे संवेदनात्मक अन्वेषण कहता हूँ मैं उससे। तो वो अन्वेषण मेरा शुरू हुआ उसमें जब पैठना शुरू किया तो जाहिर है कि इतनी सी बात से तो नाटक बन नहीं सकता। उसके आगे पीछे कुछ करना पड़ेगा आपको चरित्रों की कल्पना करनी पड़ेगी। जिसके माध्यम से आप ये सारी चीजें ला सके तो मुझे लगा कि इसको अगर फ्लैश-बैक में ले जा करके ये सारी घटनाएँ वो सुना रही है, और फिर वो सारा मंच पे दिखाई दे तो इसके लिए मैंने एक चरित्र की कल्पना की और उस चरित्र की कल्पना की जो उस दासी की जो इस सब की ग्वाह है और जो स्वयं उसमें जिसको भी अन्त में उसे भी भेजा जाता है व्यास के पास जिससे की विदूर पैदा हाते हैं। उसका महाभारत में कहीं पे भी

नाम नहीं है, सिर्फ़ व्यास एक जगह 'शुभे' कहकर सम्बोधित करते हैं। शुभे किसी भी स्त्री को कहा जा सकता है। तो शुभे को अगर सम्बोधित करते तो शुभे उसका नाम 'शुभा' ही कर दिया और उसको केवल एक कथा कहनेवाले के रूप में लाया। और वो कुन्ती को सुना रही है। इसलिए मैं कई बार कहता हूँ कि पहले से तय करके आपने यह लाया तो मुझसे ऐसा कभी नहीं हुआ। वो अन्वेषण की प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ ही वो चरित्र केन्द्रित होता चला गया, अब वो सुना रही है तो अपनी पीड़ा भी ला रही है और उसके साथ में अपने साथ बीती घटनाएँ भी आ रही है। और उसका जो क्रोध है, जो सन्तोष है पूरा कौरव वंश के प्रति। वो सब भी उसमें आ रहा है। कौरव वंश के जो अन्तर्विरोध है वो भी सब उसने देखे और उनमें से होकर गुजरी वो उन सबमें तो उनका वो केन्द्रीय चरित्र हो गया। तो शुरू तो हुआ था अम्बिका के उससे और उसमें प्रिय केन्द्रीय चरित्र अपने आप ही होती गयी। नाट्य प्रक्रिया में या किसी रचना प्रक्रिया में जब आप प्रवेश करते या घुसते हैं और उसमें से अपना रास्ता तलाश करते हैं तो कहीं बार अपूर्व में यह चीजें आती हैं। बशर्ते कि आप अपने आप को उनके प्रति खुला रखें और उसको जबरदस्ती रास्ते से हटा ना दें। जैसे कोई आदमी तीर्थ-यात्रा करने जाता है तो उसे मालूम होता है कि मुझे वहाँ जाना है। अब कोई आदमी हवाई जहाज में बैठकर के आ सकता है उसकी यात्रा अन्वेषण नहीं होगी, लेकिन अगर वो जंगल में से गुजरते हुए पैदल जा रहा है तो कई चीजें उसको रोकती है। और उस यात्रा का नया अनुभव बीच-बीच में जोड़ती रहती है। जो उससे यह कभी सोचा नहीं था कि मैं यह सब प्राप्त करूँगा और वो प्राप्त करना अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। दर्शन करके के आने के बजाय मैं तो ठीक वैसी ही रचना प्रक्रिया है।

**आपकी शिक्षा अधिकतर अँग्रेज़ी में हुई और अपना शोध-प्रबन्ध 'कल्चरल पॉलिटी ऑफ हिन्दूज' भी अँग्रेज़ी में प्रकाशित हुआ, फिर भी आपने अपना लेखन कार्य हिन्दी को ही चुना। ऐसे कौन से कारण थे जिसकी वजह से आपने हिन्दी की ओर लिखने का निर्णय लिया।**

नहीं, हिन्दी तो मेरी अपनी स्वाभाविक भाषा थी, और यह कहना गलत होगा कि मेरी शिक्षा-दीक्षा अँग्रेज़ी में हुई। अँग्रेज़ी साहित्य में मैंने एम.ए. किया इस नाते हम कह सकते हैं कि अँग्रेज़ी में हुई। और उस जमाने में बहुत से लोग, माध्यम अँग्रेज़ी विश्वविद्यालय होता था, कुछ दिन अँग्रेज़ी में रहा, लेकिन बाद में बदल के मैंने सारे एग्जाम हिन्दी में दिए। तो मेरा माध्यम भी हिन्दी रहा, अँग्रेज़ी साहित्य के अलावा, तो अँग्रेज़ी भाषा को पढ़ना या अँग्रेज़ी साहित्य को पढ़ना, समझना एक अलग चीज है और अपनी अभिव्यक्ति और अपनी भाषा की तलाश करना एक अलग चीज है। मेरे लिए हिन्दी ही हमेशा अपनी मेरी तलाश की और मेरी अभिव्यक्ति की भाषा रही, बचपन से। यद्यपि मैं एक राजस्थानी परिवार में पैदा हुआ और घर में राजस्थानी बोलता हूँ। राजस्थानी परिवेश में रहा, लगभग पूरे जीवन भर कुछ वर्षों को छोड़कर और अब भी रहता ही हूँ, लेकिन पता नहीं और बहुत से मेरे राजस्थानी मित्रों का यह कहना है कि तुमने राजस्थानी में क्यों नहीं लिखा। तो मेरा उनसे यही कहना है कि वो मेरे लिए मेरी अभिव्यक्ति की भाषा नहीं हो पाई, क्योंकि शुरू से जो पढ़ा, साहित्य और खासतौर से साहित्य अभिव्यक्ति की दृष्टि से देखें तो सबकुछ उसी में होता रहा। तो इसलिए मुझे लगता है वो मेरी अपनी भाषा है। और हर आदमी अपनी भाषा में ही हर बात सोच, समझ और कह सकता है ठीक तरह से अपने को पा सकता है। ठीक तरह से अपने को अभिव्यक्त कर सकता है। दूसरी भाषा आपको दूसरे कामों में मदद करती है, जो मुझे भी करती है, अँग्रेज़ी। लेकिन जाहिर है, कि मेरा आकर्षण मेरी अपनी भाषा के प्रति था और इसमें आश्चर्य की कोई बात ही नहीं। जहाँ तक शोध-प्रबन्ध का सवाल है जैसा मैंने कहा कि कई बार ऐसी व्यवस्थाएँ होती है कि आपको 'कल्चर ऑफ हिन्दूज' मेरे डॉक्टरेट का ग्रन्थ नहीं था, वो ऐसे ही इन्डिपेन्डली मैंने लिखा था। डॉक्टरेट के लिए जो मैंने शोध की थी, वो थी 'पॉलिटी इन शुक्रनीतिसार' वो भी पुस्तक के रूप में प्रकाशित है। शुक्रनीति में काम था, तो वो पी-एच.डी. की और हमें जो सामग्री उपलब्ध होती थी व्यवस्था ऐसी थी कि वो मुझे अँग्रेज़ी में करना पड़ा, अदरवाइज मैं यह समझता हूँ कि अन्यथा तो सब काम मैंने हिन्दी में हीं किया। कह सकते हैं कि उसके पीछे कुछ और कह सकते हैं आप कि कुछ भावानात्मक कारण रहे होंगे हिन्दी के प्रति जो, अगर आपको याद हो तो 65 में जब हिन्दी को राजभाषा का दर्जा मिल जाना था एकमात्र राजभाषा का अँग्रेज़ी को तो उस समय एक बड़ा आन्दोलन हुआ तो उस समय मेरे मन में यह आया कि और वो मुझे बहुत बुरा लग रहा था तो मेरे मन में आया कि मुझे क्यों बुरा लग रहा है मैं ख़ुद अँग्रेज़ी माध्यम में परीक्षाएँ दे रहा हूँ? अँग्रेज़ी माध्यम में पढ़ लिख रहा हूँ, तो मैंने अपना माध्यम बदला, इम्तिहान से दो महिना पहले। और अपना माध्यम बदल के सारी तैयारी हिन्दी में की, सारे नोट्स वगैरह मेरे अँग्रेज़ी में थे, उनको मैंने हिन्दी में बनाया, शायद इम्तिहान मैं मुझे एक दो परसेंट का नुकसान भी हुआ होगा। ख़ैर उसका कोई ख़ास महत्त्व आज नहीं है, लेकिन उस समय लगा होगा कि यह होता तो ऐसा पर मुझे नहीं लगा। तब मैंने यह तय किया कि मैं जो कुछ भी करूँगा हिन्दी में करूँगा। जब मैंने 'अहिंसा विश्व कोष' बनाया उस समय मुझे यह कहा गया कि मैं यह काम अँग्रेज़ी में क्यों नहीं करता, क्योंकि उस समय अँग्रेज़ी पढ़ाता भी रहा हूँ, और जहाँ मुझे पढ़ाना होता ट्रिपल आई.आई.टी. में वहाँ अँग्रेज़ी में ही पढ़ाना होता है? अँग्रेज़ी की पत्रकारिता भी की पर मैंने कहा मैं अपना लेखन हिन्दी में ही करूँगा? आप यह चाहते हैं, कि मैं यह काम करूँ तो मैं यह काम हिन्दी में ही करूँगा। आप अगर यह चाहते हैं तो बाद में किसी भाषा में या अँग्रेज़ी में अनुवाद करवाये। लेकिन बाद में वो सहमत

हो गए, वो काम भी मैंने हिन्दी में किए, क्योंकि लोग कहते हैं कि ऐसे काम हिन्दी में होते नहीं मैंने कहा मैं करके दिखाता हूँ, क्यों नहीं होते हैं? कोई करना चाहे तो होते हैं, और मैंने वो काम करके दिखाया और वो आसानी से हुआ। उसमें मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। तो मुझे लगता है, कि हिन्दी मेरे लिए सहज स्वाभाविक भाषा है। उसी में अपने को पा सकता हूँ, उसी में अपने को खोज सकता हूँ, उसी में अपने और परिवेश के रिश्तों को समझ सकता हूँ, लेकिन जैसे राजस्थानी की बात करूँ तो मेरे मन में बड़ा आकर्षण है उसके लिए, लेकिन वो आकर्षण पढ़ने तक और उसको समझने तक है। वो आकर्षण लिखने में कभी व्यक्त नहीं हुआ या ऐसी अन्दर से इच्छा नहीं हुई कि मैं उसमें कुछ लिखूँ, ऐसी अन्दर से मैंने महसूस नहीं किया तो इसलिए हिन्दी में लिखता रहा हूँ, क्योंकि मैं इस बात का पक्षधर हूँ, कि उसको मान्यता मिलनी चाहिए।

**आप इन दिनों में क्या लिख रहे हैं?**

इन दिनों दरअसल लेखन में तो कविताएँ वगैरह तो लिखता रहता हूँ। कभी-कभी आलोचनात्मक लेख भी, टिप्पणियाँ भी आ जाती है। अभी इन दिनों में तत्काल अगर कहूँ तो यूँ समझो कि मैंने विनोबा जी के चिन्तन पर एक पुस्तक लिखी है हालाँकि विस्तृत नहीं है। आज ही प्रकाशक को दी गयी है। तो एक तरह से सबसे नया काम तो है— एक तरह से गाँधी चिन्तन पर 'सभ्यता का विकल्प' आयी थी, लगभग उतनी बड़ी और पृष्ठों की पुस्तक है। मुझे ऐसा लगता है कि विनोबा जी को ठीक तरह से समझा नहीं गया है। और खासतौर से इमरजेंसी के दौर में अनुशासन के बारे में जो कह दिया था लोगों के मन में एक दुराव भी पैदा हो गया था और मेरे मन में भी हुआ था। अब भी मैं उनके विश्लेषण से सहमत नहीं हूँ, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि एक चिन्तक के रूप में उनकी एक अवहेलना हुई है। एक सन्त, एक महात्मा और सामाजिक कार्यकर्ता भूदान आन्दोलन जैसे कार्य भी किये वो ठीक है, वो सब महत्त्वपूर्ण है, लेकिन उसमें उनका चिन्तक रूप जो है, वो कहीं दब गया है। जैसे महात्मा गाँधी का भी चिन्तक रूप दब जाता है, जब हम केवल आजादी का आन्दोलन की बात करते हैं या उनके इतिहास की बात करते हैं। इसलिए, अगर आपने 'सभ्यता का विकल्प' किताब पढ़ी हो तो पाया होगा कि मैंने उन सारी बातों का जिक्र उसमें नहीं किया। प्योर उनके विचारों पर आधरित किताब है। ठीक उसी तरह से विनोबा के आन्दोलनों का जिक्र नहीं है, बल्कि विनोबा के विचारों का विश्लेषण करने की कोशिश की गयी है। कैसे वो आज के समय में प्रासंगिक है उन सब पर विचार किया गया है।

**मो.: 8010776556**

---

# ज्ञानपीठ के नये प्रकाशन

## साँसों के प्राचीन ग्रामोफोन सरीखे इस बाजे पर (कविता-संग्रह) : शिरीष कुमार मौर्य




**मूल्य : 160 रुपये**

*ये प्रलाप वास्तव में प्रलाप नहीं बल्कि प्रतिरोध हैं। इसे समाज में समकालीन कविता के 'क्रिएटिव स्पेस' की पड़ताल भी कह सकते हैं। एक तरह से ये कवि का डिलीरियम है जो हैल्यूसिनेशन तक पहुँच चुका है और 'साहित्य समाज के आगे चलने वाली इकाई' की जानिब से देखें तो ये आमजन के प्रलापी होने की शुरुआत है। अगर व्यवस्थाएँ नहीं बदलीं तो आम आदमी भी यूँ ही नींद में चलेगा, शून्य में ताकेगा, खुद से बड़बड़ाएगा और धीरे-धीरे पागल होता जाएगा। ये प्रलाप इसलिए हैं। इसलिए कवि 'सुबह तक हर अँधेरा जागकर बिताता है।' 'राग मालकौंस', 'मुक्तिबोध' और 'गाँधी' को याद करते हुए वो ऐसी स्थिति में पहुँचता है, जहाँ सत्ता— 'जनता को मनुष्य से घोड़े में बदल देने की अपनी पुरानी ख़्वाहिश' पूरी करती साफ़ नज़र आती है। ऐसा नहीं है कि कवि का प्रलाप मात्र व्यवस्था के दंश से दुख के कारण है— 'दुखी होना मेरी आदत हो गयी है/मैं आदतन दुखी और क्रोधित हूँ/ ऐसा जानकारों का मानना है', बल्कि इस वजह से भी कि स्थिति इतनी भयावह है कि वह आज दुखी रहना एक परम्परा का निर्वाह मान लिया जाता है। 'मेरा दुनिया में इस तरह हो रहना एक मान्यता भर बन के रह गया है।' शुक्र, बस इतना-सा है कि 'पागल हो जाने पर भी मनुष्यता ज़रूर कहीं बची है/मैं उसी के सहारे हूँ/मेरा इलाज तो हो रहा है पर रोग को पूरी मान्यता मिलना बाक़ी है।' संग्रह की अधिकाँश कविताएँ जीवन की विफलता और विध्वंस के साथ-साथ उनमें शुक्राने की भी आवाज़ है। ये सच है कि मृत्यु, मृतात्मा, रात, अकेलेपन, खेद, दिन ढले, बीमार आँखों के प्रलाप, जैसी कविताएँ अँधियारे पक्ष को 'दिखाती' हैं। दीगर बात यह है कि गहन अन्धकार में भी छूटा हुआ कोई एक सूराख इतना न्यूनतम उजाला दे सकता है, जो जीवन की शुरुआत के लिए काफ़ी हो।*

**—अमित श्रीवास्तव**

# मेरी कविताओं में एक पेचीदा दिल है जो दिमाग़ से खुलता है

## प्रख्यात कवि लीलाधर जगूड़ी से कवि नरेश चन्द्रकर की बातचीत

**हिन्दी कविता में आपकी एक शानदार छवि है, अपनी उतनी बड़ी तस्वीर को आप कैसे सँभालते हैं?**

अपनी शानदारी के कोई व्याख्यात्मक, भावात्मक नमूने मैने देखे नहीं। आपसे सुनकर ऐसा लग रहा है जैसे मैं कोई बॉडी-बिल्डर या मॉडल हूँ। मेरा अगर कोई प्रभामंडल हो सकता है तो वह मेरी रचनाओं के द्वारा ही, सम्भवतः बनेगा। रचनाओं की शानदार छवि मैं उसी तरह महसूस करता हूँ, जिसके लिए तुलसी ने कहा है कि— 'निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होय अथवा अति फीका।' या अगर मेरे चौदह-पन्द्रह कविता संग्रहों की संख्यात्मक अधिकता के कारण आप मेरी कोई बड़ी तस्वीर देख रहे हैं तो उसकी भी कोई प्रभावपूर्ण तस्वीर, साक्ष्य में, आपको उपस्थित करनी चाहिए थी। 'मुझे पूरा शक़ है। कोई व्यक्ति मेरी जैसी बुरी स्थिति में है। मैं उस सन्देह को जानता हूँ जो उस व्यक्ति को है। मेरे बारे में।'... कालिदास और भर्तृहरि की तरह मैं कविता को कवियों का दूसरा शरीर मानता हूँ, जिसे उन्होंने रचनात्मकता का 'यश:काय' कहा है। कालिदास का दिलीप 'इक्ष्वाकुवंश' का यश:काय बचाने के लिए स्वयं को भूखे सिंह के सामने आहार की तरह समर्पित करने को तैयार है। भर्तृहरि भी उन सुकृति प्रदान करनेवाले रस सिद्ध कवियों की जय बोलने को आतुर दिखते हैं, जिनकी 'यश:काया' को बुढ़ापे और मृत्यु का भय नहीं है। मेरे काव्य-यश के प्रति मैं शुरू से ही शंकालु रहा हूँ। मैंने 'आरम्भ' पत्रिका के सम्पादक कवि विनोद भारद्वाज को 1966-67 में ही यह लिखा था कि यश प्राप्त करना भी कहीं शोषण की ही एक अदृश्य प्रक्रिया न हो। शायद उन्होंने यह पंक्ति, मेरी एक कविता के शुरू में, वक्तव्य की तरह छापी भी थी। निस्सन्देह 'आरम्भ' ने उन दिनों एक बहुत बड़ा काम किया था। कुछ ज्यादा यश कमाना भी कहीं दूसरों के हिस्सों में आनेवाले यशों का शोषण न हो जाय? इसीलिए कभी मुझे वह बात अच्छी लगती रही है जो वाल्मीकि के बारे में कही गयी है— तपः स्वाध्याय निरतः तपस्वी वाग्विदां वरम्— यानी कि कवि को एक स्वाध्याय तत्पर तपस्वी की तरह होना चाहिए, तभी सम्भवतः वह 'वाग्विद' (शब्दों के रहस्यों को समझनेवाला) हो सकता है। अपना अध्ययन और अपने द्वारा अध्ययन, यह एक कठिन प्रक्रिया तो है ही और इसीलिए वह तप के मानिन्द माना गया है। रचनाकार को भी तपस्वी कहा गया है। अगर मेरी ऐसी कोई छवि या तस्वीर बनी है तो मैं उसके अक़्स से भी अपरिचित हूँ। (कम से कम अपने बारे में तो मैं यह बात ताल ठोककर कह सकता हूँ।.... 'कवि न होउं मैं अकवि कहाऊँ.... !' (कुकवि भी शामिल किया जा सकता है) ! अपरिचय मैंने अपने लिए चुना



नहीं है, बल्कि आपके प्रश्न में मेरी जो विख्यात तस्वीर उभारी गयी है, वह मुझे आपके सौजन्यवश की गयी टिप्पणी लगती है। वरना मेरी हालत उस क्रौंच जैसी है जो मारे जा चुकने के बाद अगर भुलाया नहीं जा सका तो उस कवि के कारण जो कविता को सबसे पहले श्राप देने को विषय बनाता है। जो प्रकृति के सान्निध्य में हुए प्रेम की हत्या की प्रतिक्रिया में उपजनेवाले छन्द और शाप को शब्द दे सका। तब से इस दुख के परिपार्श्व में व्याध भी हमेशा की तरह उपस्थित है। राम जब स्त्री अपहरक व्याध (रावण) का वध करके लौट रहे हैं तब वही मनोरम प्रकृति लक्षमण को दिखाते हुए कहते हैं कि यह वनराजि, ये पर्वत श्रेणियाँ देखो। उस कोटि की भी मुझे अपनी कविता नहीं लगती। जो बुद्ध के बाद प्रकृति जैसा विश्राम दे सके। मुझे— "एक काली चट्टान दिन-रात हमारा पीछा कर रही है। देख रहा है समय चट्टान के पीछे से हमें!... डरावने सपने सोने नहीं देते। ... बरसों लम्बी इस चट्टान से सुनहरे काले झरने बाहर निकल आ रहे हैं। ताकि जरा भी इस बात की भनक न लगे कि व्यक्ति की प्रकृति में भी कुछ गड़बड़ है।"...

ऐसी स्थिति में 'पश्य देवस्य काव्योऽयं, 'न ममार न जीर्वते' का रोमांच केवल बूढ़ा होने की कला को ईजाद करने तक सीमित हो जाता है। बूढ़ा होने के बजाय मनुष्य को वृद्ध होना चाहिए। क्योंकि अनुभव वृद्धि भी समृद्धि का एक हिस्सा है।

बूढ़ा होना, रहस्यों के पीछे जाकर उस कला को जानना है
जिसे बाद में लोग जीवन की कला कहते हैं
एक अधूरापन पूर्णता का रह ही जाता है...
वैसे ही बिजली अचानक आ जाने से चमत्कृत
परिवार के सबसे नन्हें सदस्य के साथ
अपने बचपन को फिर से शुरू कर रहा होता है कोई बुढ़ापा...

**सातवें दशक के दौर में आक्रामक भोड़ देने वाले कवियों में धूमिल, कुमार विकल, देवेन्द्र कुमार, वेणुगोपाल और पूरे दमखम के साथ आप आये थे। आपके पास नस्सली जमीन थी पर उसके बरक्स हाल में आपने, अपने शोला बयानी के मिजाज को छोड़कर प्रेम कविताओं का संग्रह भी दिया है। कविता में इतनी बड़ी शिफ्टिंग करनेवाला हिन्दी में कोई दूसरा कवि नहीं है!... नब्बे डिग्री का टर्न आपने कैसे ले लिया?**

सातवाँ दशक तो एक बेसिक पाठशाला थी। निस्सन्देह धूमिल का असर था। धूमिल का स्वभाव संयत और उग्र (उद्दंड नहीं) था। उसमें उतावलापन था, बदतमीजी नहीं। वह शरीर से आक्रामक लगता था, लेकिन मित्रवत और स्नेहिल था। उसकी आवाज कुछ पतली थी इसलिए भी वह उसे कमजोर आवाज नहीं बनने देता था। उसने और मैंने भी राजकमल से बहुत कुछ सीखा, लेकिन उसका अनुकरण नहीं किया। शुरू में मैं धूमिल जैसा गीत और ग़ज़ल के स्कूल से आया था। छन्द का तो मैं अभी भी कायल हूँ, लेकिन तब मैं तुक को भी धूमिल की तरह छन्द समझकर इस्तेमाल करता था, लेकिन धीरे-धीरे तुक से तो काफी कुछ मुक्ति मिल गयी, पर छन्दों को लहजे का हिस्सा बनाने की हम दोनों में होड़ सी रही। इस तरह हम दोनों के लहजे, वाक्य विन्यास और व्यथा की प्रस्तुति का, अगर कहना चाहें तो, कह सकते हैं कि अन्दाजेबयाँ ही बदल गया। मैं इमरजेंसी के दिनों में, धूमिल की मृत्यु से दो चार दिन पहले, अस्पताल में उसकी सुनाई हुई आखिरी कविता पंक्तियों को छन्द और कथा का अद्‌भुत नमूना मानता हूँ— 'लोहे का स्वाद। लोहार से मत पूछो
उस घोड़े से पूछो जिसके मुँह में लगाम है।'

ये पंक्तियाँ एक पोस्ट कार्ड पर मैंने तुरन्त डॉ. नामवर सिंह को भेजीं। वे पंक्तियाँ मेरे हवाले से 'आलोचना' में छपी भी। उन्हीं दिनों मेरी लम्बी कविता 'बलदेव खटिक' प्रकाशित हुई थी और उसकी भाषा, उसके मुहावरे और उसके कथ्य सन्दर्भों को लेकर काफी बातचीत होती थी। कविता के नाट्यमंचों की शुरुआत में 'बलदेख खटिक' का बहुत उपयोग हुआ। इस कविता के अनुसरण में कई कविताएँ आयीं। मेरे प्रत्येक संग्रह में कोई न कोई लम्बी कविता अवश्य रही है। अज्ञेय जी को मेरी अठारह अनुच्छेदों वाली लम्बी कविता 'अनुस्मृति' बहुत पसन्द थी। जो बाद में 24 अनुच्छेदों की होकर छपी। उसे उन्होंने बीसवीं सदी के आधुनिक मनु की गाथा कहा था, लेकिन हिन्दी आलोचना में स्वयं को बदलने का जोखिम बहुत कम लोगों ने उठाया है। नामवर जी के बाद विजयदेव नारायण साही अलग तरह के आलोचक लगते हैं। नामवर जी की व्याख्या से मुक्तिबोध की पहचान बनी जिस तरह कि रामविलास शर्मा जी की भाष्य दृष्टि से निराला की आधुनिकता, लोगों की समझ में आयी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की इतिहास दृष्टि के कारण भक्तिकाल का पुनर्जागरण समझ में आता है। बीसवीं सदी की आधुनिक कविता के पड़ावों को समझने-समझाने में उक्त आलोचकों की काव्य विवेचना के अलावा कोई नयी समाजशास्त्रीय व्याख्या आयी नहीं है। इक्कीसवीं सदी के प्रारम्भिक दो दशक पूरे होने में केवल चार साल बचे हैं, कोई अच्छी नयी कविता का व्याख्यात्मक प्रवाह या नोटिस आपको सन्तुष्ट कर पाता है? ऐसा क्यों है कि अधिकांश जवाब 'ना' में मिलते हैं। सरसरी तौर से एक कारण तो यह लगता है, सोचने-समझने का, साहित्य और कलाओं के बारे में, सारा दायित्व साहित्य और कला अध्यापकों पर छोड़ दिया गया है। यह भरोसा करना बुरा नहीं था, लेकिन परिणाम अत्यन्त निराशाजनक हैं। कुछ कोशिशें विजय कुमार की, थोड़े में भी बहुत भरोसा बँधाती हैं लेकिन और भी नये कोण उभरने चाहिए। मुझे उमीद है कि इक्कीसवीं सदी के शुरूआती बीस-पचीस वर्षों में कुछ नया घटित होनेवाला है। कविता के एक नये गद्य की मैंने पुरजोर अपील की है और अपने स्तर पर कुछ

कोशिशें भी की है, लेकिन इस ओर ज्यादा रूझान दिखाई नहीं दे रहा है। अधिकतर अभी भी धूमिल, विनोदकुमार शुक्ल, रघुवीर सहाय का ही आकर्षण लोगों को अटकाता, भटकाता दिख रहा है। नये कुछ चिन्ह जो उभर रहे हैं, उनकी पहचान नहीं करायी जा रही है। अगर आपको मेरी कविताओं में नब्बे डिग्री के मोड़ (टर्न) लग रहा है तो आपके पास उसकी कोई वजह होगी और उसके कोई उदाहरण भी होंगे, लेकिन मैं इतना ज़रूर कहना चाहूँगा... वह भी फैसलाकुन नहीं बल्कि महज ध्यानाकर्षण के लिए— कि मैंने हिन्दी भाषा के आधुनिक रूप को और आधुनिक बनाने के लिए कुछ परिस्थितिगत मुहावरे ज़रूर बनाये। उदाहरण के लिए पहाड़ की चोटियों की उपमा समुद्र में पैदा होनेवाले शंख से सम्भवत: पहले नहीं दी गयी थी। मैंने यह ज़रूर किया कि पहाड़ों को केवल उत्तर दिशा में ही नहीं देखा जो कि अब लगभग निरुत्तर दिशा को प्राप्त हो गयी है; बल्कि मैंने पहाड़ों को पृथ्वी के गर्भ में भी देखने के बाद उनके 'भूधर' चरित्र को समुद्र के बरक्स रखते हुए, जैसे कि पहाड़ अपनी चोटियों की ऊँची-ऊँची लहरों के प्रवाह में उनके मुखों और गर्दनों को शंख के आकार में लाकर, अपनी एक आवाज़ पैदा करना चाहते हो। विशालकाय पहाड़ भी समुद्र जैसे लहरा रहे हैं।

**कविता के लिए नये गद्य से आपका आशय क्या है और क्या उसकी कोई झलक आप अपनी कविताओं के जरिये दिखा सकते हैं।**

शुरूआती कविताओं से और आज जो लिख रहा हूँ, उनमें से कुछ पंक्तियाँ कविता के लिए खोजे गये नये गद्य का नमूना कही जा सकती हैं या नहीं यह अलग से विचार का विषय भी हो सकता है, लेकिन फिलहाल दुनिया मेज भर ऊँची/पेट भर गहरी हो गयी। छोटा सिर्फ़ आदमी हुआ है— ऐसा करते हैं कि इस देश का एक नक्शा बनाते हैं... बिस्तरों और चूल्हों के बीच धुएँ के पुल बन गये। सारा देश ढक गया ऐसा करते हैं कि अपने कमरे का ही एक नक्शा बनाते हैं...

इस कमरे ने कितने नक्शे बदले होंगे हमारे जैसे
और तुमने सारा घर धुएँ से भर दिया।— (प्रेमालाप)

यह 1966-67 के बीच लिखी कविता है और उसी समय का एक और टुकड़ा याद आ रहा है—

आकाश और धरती। एक गर्भाशय
जिसमें पैदा होने के बाद रहा जाता है
पहाड़ों के पाख कितने दोगले हैं कि पेड़ कहीं गिरता है
और गूँज कहीं उठती है
गुलाबी उछलन के साथ उछाला हुआ सूरज
जूझ रहा है दिशाओं के नीले घुटनों के बीच...

(लगभग निजी संवाददाता द्वारा)

मैं गीत-ग़ज़ल के स्कूल से होकर आया हूँ। हर तरह की कविता के कौशल को मैंने आजमाया है। अनुष्टुप छन्द, स्वयं में एक बातचीत के लहजेवाला छन्द है। भामह ने एक उदाहरण देते हुए— (नदी बह रही है। एक युवा होता हुआ बछड़ा किनारे की हरी घास पर दौड़ रहा है— यह कविता है या वार्ता?) पूछा है, और फैसला दिया है कि यह वार्ता ही है कविता नहीं। उस समय का काव्य दोष आज काव्य गुण बन गया है। कविता हर युग में कभी ठहरकर कभी दौड़कर ऐसे ही बदल जाएगी। हमेशा इस काम को करने के लिए एक कवि की ज़रूरत बनी रहेगी। कविताएँ, कवि ही रचेंगे, कम्प्यूटर नहीं।

तुम कहते हो तो हम हाँ भर लेंगे
गाँवों के लिए
पर शहर अधिक सुविधा देता है
नंगे पाँवों के लिए।

मैंने शुरू से ही अपनी अभिव्यक्ति के लिए बोल-चाल का सड़कछाप गद्य ही अपना लिया था और आज भी उसी से कुछ कहना चाह रहा हूँ।

मेरी कविता पंक्तियों की कभी कोई व्याख्या पढ़ी-सुनी है आपने? पिछले पचास-साठ वर्षों में हिन्दी आलोचना अकाल से गुजर रही है। नये तेवरों की व्याख्या के क्षेत्र में पता नहीं कोई क्यों नहीं उत्तर पा रहा? शायद इसलिए तो नहीं कि आलोचना का दायित्व सिर्फ़ अध्यापकों पर छोड़ दिया गया है। अध्यापक हमेशा ही सरल और संस्कार में बैठी हुई चीज को ही पसन्द करते हैं। पर जिन अध्यापकों ने संस्कारों से लड़ाई की उन्हें तोड़ा, बदला, वे ही कुछ कर पाये। डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह की तरह या विजयदेव नारायण साही और मलयज की तरह। इनमें से मलयज अध्यापक नहीं थे, इसलिए कुछ अलग तरह का काम कर पाये हैं। आलोचना को आज बहुपठित दिशाओं की ज़रूरत है।

**एक सवाल कविता विधा के बारे में है। कविता में तफसील से बात नहीं की जाती है। इस वजह से कई लोग बार-बार यह गलत समझ लेते हैं कि कहानी की तुलना में कविता का काम, कम से कम मेहनत से निपट जाता है। कम से कम सृजन से इस विधा में काम चल जाता है, जबकि कविता में बहुत महीन हुनर की ज़रूरत होती है। यह आप भली भाँति जानते हैं।... इसलिए आपकी रायशुमारी मायने रखती है। ताकि अक्ल से गरीब लोग आपकी बात से कुछ सीख लेंगे...। आपके प्रत्युत्तर से दिशाओं का आकाश खुलेगा।...**

कविता केवल एक विधा ही नहीं, बल्कि वह भाषा का एसेन्स भी है। अभिव्यक्ति का अर्क और सोचने के अप्रयुक्त तर्क भी कविता की विशेषता रही है। कविता गद्य का श्रेष्ठतम रूप है। गद्य कवीनां निकषं वदन्ति। इस निकषं (कसौटी) पर कसा क्या जाता

है? इस पर कसी जाती है भाषा की तमीज। यह भी भ्रम है कि कविता सिर्फ़ 'कविता विधा' में होती है। कविता शब्दों और भाषा की नाटकीयता में भी होती है। सम्भवत: इसीलिए कहा गया होगा कि 'काव्येषु नाटकं रम्य:' —यानी काव्यों में नाटक की रम्यता होती है। नाटक की रम्यता क्या चीज है? नाटक की रम्यता, सारी विधाओं के समन्वय में है। उसमें कथा, नृत्य, रंग वैचित्र्य, मनुष्य की सशरीर उपस्थिति और सुखद-दुखद-संकटापन्न परिस्थिति...। जीवन के श्लील-अश्लील सभी पहलुओं से सम्बन्ध रखनेवाली कविता एक भाषिक तत्व के रूप में कथा, नाटक और निबन्ध (फीचर) आदि, अभिव्यक्ति के सभी रूपों के काम आती है। 'भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति' तुलसी ने बहुत सारगर्भित प्रयोग इसका किया है। कहानी की कथा, नाटक की कथा, उपन्यास की कथा और कविता की कथा शुरू से ही बहुत अन्तर रहा है। कविता में कथा, भाषिक सशक्तता के रूप में सर्वाधिक रोचक रही है।

हर अच्छे कवि की कविता ने अपनी गुणात्मकता (क्वालिटी) बनाये रखने का, सायास-अनायास एक निजी संघर्ष भी अपने लिए रचनात्मकता की विरल छवि के रूप में बनाये रखा है। कविता में मितकथन यानी कम शब्दों में अधिक कहने की ताकत को अपनी परम्परा बना लेना सचमुच में असाधारण बात है। यह मेहनत से बचने की बात नहीं है बल्कि कम-से-कम के लिए ज्यादा-से-ज़्यादा मेहनत में फँसने की बात मुझे अपने तईं ज्यादा लगती है। कविता को सृजनात्मकता के स्तर पर 'कम-से-कम सृजन' कहना उचित नहीं लगता बल्कि कम-से-कम में अधिक-से-अधिक कहने की भाषिक कुव्वत पैदा करना सम्भवत: हर लेखक के बस की बात नहीं है। कवि धूमिल की एक पंक्ति आपको याद दिलाना चाहता हूँ— 'लोहे का स्वाद लोहार से मत पूछो! उस घोड़े से पूछो। जिसके मुँह में लगाम है।' क्या आपको नहीं लगता है कि यह बात कहानी में या लेख में कहनी होती तो शायद एक पैराग्राफ से भी ज्यादा शब्दों की ज़रूरत होती। क्योंकि इसकी व्याख्या में दो पृष्ठ तो मैं अभी आपको लिखकर बता सकता हूँ। इस मितभाषित को भले ही आप कम मेहनत कह लें लेकिन इसे शब्दों में ढालने के लिए अद्वितीय प्रतिभा की ज़रूरत है। मेहनत और प्रतिभा दोनों का सम्मान होना चाहिए। कविता में दोनों का मिलन होता है।

**कई लोग आपकी तुलना धूमिल से करते हैं, क्या आपको लगता है कि कविता में आप दूसरे धूमिल हैं?**

दूसरा मुक्तिबोध, दूसरा राजकमल चौधरी, दूसरा धूमिल होना उसी तरह असम्भव है जिस तरह दूसरा वाल्मीकि, दूसरा कालिदास, दूसरा तुलसीदास होना। दूसरा कोई भी पहला नहीं होता। पहला कोई भी दूसरा नहीं होता। साहित्य में तो अच्छे कवि किसी दूसरे की तरह हो ही नहीं सकते। वाल्मीकि ने भी उसी राम की कथा कही है, जो तुलसी ने भी कही और उसी कथा को 'रघुवंश' में कालिदास ने और 'उत्तर राम चरित में भवभूति ने दूसरे ढंग से कही है। मगर अन्दाजेबयाँ अलग-अलग हैं। चरित्रों और स्थितियों के दृश्य ही नहीं निष्कर्ष भी अलग-अलग हैं। दूसरा धूमिल होना मेरी आकांक्षा कभी नहीं रही। धूमिल मुझ से आठ-दस साल बड़े थे और अगर पाँच साल बड़े भी थे तो भी वे अपनी तरह के बड़े कवि थे। वे राजकमल चौधरी से बहुत प्रभावित थे, पर वे राजकमल नहीं थे। मैं भी धूमिल कैसे हो सकता हूँ। शुरू में मुझ पर धूमिल का प्रभाव रहा है, लेकिन डॉ. बच्चन सिंह कहा करते थे कि धूमिल पर जगूड़ी का भी प्रभाव आता जा रहा है। धूमिल, तुम इस प्रभाव से बचो। धूमिल अच्छी उक्तियों की बेबाक सराहना करते थे। नापसन्दगी पर उतनी ही बेबाकी से लताड़ते भी थे। एक कारखाने में काम करनेवाले दो जीवन एक जैसे नहीं हो सकते। धूमिल अपने समय के ही नहीं आज के समय में भी अपनी कुछ कविताओं के लिए महान हैं। मेरे तीसरे संग्रह 'इस यात्रा में' की भूमिका में मैंने धूमिल का एक पत्र दिया है। जिस में उन्होंने स्वयं मेरे बदलावों के बारे में अपने विचार प्रकट किये हैं। अगर आप वह पत्र और संग्रह की कविताएँ पढ़ लेंगे तो ख़ुद अपना यह सवाल बदल डालेंगे। मैंने ख़ुद अपनी कविता में ऐसे बदलाव किये हैं जो मुझे ख़ुद की पहचान के लिए औरों से छिटका देता है। काश कि मैं दूसरा धूमिल हो पाता और 'मोचीराम' से बढ़िया कोई कविता लिख पाता। धूमिल की परवर्ती कविताएँ ही धूमिल से अलग हो चुकी थीं। शायद यही परिवर्तन अच्छे कवियों में आखिर तक होता रहता है। अच्छा कवि आगे चलकर अपनी भी नकल नहीं रहना चाहता। कवि ज्यों-ज्यों बूढ़ा और वृद्ध होता जाता है उसकी कविता जरा-मरण के प्रभाव से बाहर निकलकर जवान होती जाती है। कविता वृद्ध-वृक्ष का भी बसन्त है।

**कविता की दुनिया में आपने पूरा एक किताब घर ही रच दिया है। इतनी किताबें... पूछना प्रासंगिक होगा कि आपका लिखने का प्रतिदिन कोई शैड्यूल है क्या?**

मेरी कविताओं में विषयों का वैविध्य देखा जाना चाहिए। मेरी कविताओं का वाक्य विन्यास और फलत: काव्यभाषा में कथ्य के अनुसार अवतरित होनेवाली उक्तियों की अपनी शक्ल एक जैसी परिस्थिति के बावजूद एकदम बदली हुई क्यों होती है, इस पर कभी विचार ही नहीं किया गया। हो सकता है कि मैंने थोड़ा ज्यादा लिखा हो लेकिन देखा यह जाना चाहिए कि क्या मैंने कहीं कभी ख़ुद को दोहराया है? जीवन में एक जैसी स्थितियाँ कई बार आती हैं, लेकिन मैं उनकी एक जैसी अभिव्यक्ति से हमेशा बचा हूँ। मैंने कोशिश की है कि मैं अनुभूति के संवाद को हर बार बदल दूँ। मैं एक-एक कविता को काफी दिन रखे रहता हूँ। उसे दोहराता रहता हूँ और वह बदलती चली जाती है। प्राय: मेरी कविता के पाँच ड्राफ्ट तो बनते ही बनते हैं। हाँ, यह मैं स्वीकार करता हूँ कि

हर अनुभव को कविता बनाना कठिन काम है, इसलिए कुछ दूसरी विधाओं में भी रचनाकार को काम करते रहना चाहिए। दूसरी विधाओं में मेरा काम नगण्य-सा है। पर यह मैंने ज़रूर किया है कि भाषा को अनुभव के साथ नया होने से रोका नहीं है। मैंने रचना पर अपनी छाप नहीं लगायी इसीलिए शायद अपने को दोहराने से बचा रहा हूँ।

मैं रोज लिखता नहीं हूँ, रोज पढ़ता ज़रूर हूँ। जो अच्छा पढ़ता हूँ उसकी नकल से बचे रहने के लिए उसे फिर से पढ़ता हूँ। अनुकरण करने से बचे रहने के लिए नित्य अच्छा-बुरा साहित्य पढ़ना ज़रूरी है। नकल और कमजोर लेखन से बचने के लिए पढ़ना ज़रूरी है। अच्छे कवि और अच्छे लेखक व्यक्ति को और-अधिक मौलिक होने की प्रेरणा ही नहीं देते, बल्कि उसे तराशते भी हैं।

**क्या आपने कभी छन्द में रचनाएँ लिखी हैं?**

भरत मुनि ने कहा कि शब्द ही छन्द है। हिन्दी में लोग छन्द का अर्थ तुकबन्दी समझते हैं। एक अकेला शब्द भी छन्द है। ऋग्वेद स्वयं गद्य-छन्द का प्राथमिक नमूना है। मैंने गीत भी लिखे हैं और आज की कविता में लयात्मकता का ध्यान रखा है। सांस की लय और पहुँच ही बोलचाल के छन्द का निर्धारण करती है। छन्द से ही उच्चारण का व्यक्तित्व बनता है। उच्चारण के साथ ही छन्द का प्रबन्ध जुड़ा हुआ है। प्रत्येक वाक्य में आरोह-अवरोह में रचना करनी पड़ती है। छन्द से मुक्ति कहाँ है? छन्द की मातृभूमि साँस है। कभी तो चाल भी छन्द बन जाती है।

**आप कविता में पेचीदा अनुभवों को जीते हैं और आपके संग्रहों में— 'रात अब भी मौजूद है', बची हुई पृथ्वी, घबराये हुए शब्द, भय भी शक्ति देता है— की अनेक कविताएँ उस समय की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक हलचलों, अन्तर्ध्वनियों का काव्यात्मक विस्फोट हैं..., किन्तु इस प्रक्रिया में इन रचनाओं में आपकी संवेदना निखर गयी है... शब्दों के माध्यम से ही कविता पूरी होती नज़र आती है। बल्कि इसीलिए आपकी कविताओं में सूक्तिपरकता और उद्धरणीयता की अधिकता देखकर किसी ने कहा है कि आपकी कविताओं की सूक्तियों का भी एक अलग कोष तैयार किया जा सकता है— इस अवलोकन पर कुछ कहना चाहेंगे?**

मेरी कविताएँ सम-सामयिक राजनीति से कैसे बच पातीं जब मैं ख़ुद राजनीति को बिना (किसी पार्टी के भी होते हुए) परिवारों में देख रहा होता हूँ। राजनीति की जगह इस 'आपनीति' भी कह सकते हैं। प्रकृति की, प्रकृति-नीति मौसमों में देखने को मिलती है। ऋतुराज तभी सार्थक होता है जब सब हरे-भरे और फले-फूले हों। अन्यथा बस-अन्त का क्या मतलब, नाखुशी, उदासी और असम्पृक्ति का अत, बसन्त में ही होता है। अन्त में जो बच जाय और बस जाय अपने जन्म के कारण— वही बसन्त है। वही बसन्त है जो ख़ुद अपने पतझर को जन्म दे सके, और जो अपने पतझर से वापस आ सके। दूसरों के नहीं अपने पत्ते झाड़ सके। अपना सृजनात्मक कायाकल्प उघाड़ सकना ही बसन्त है। मैंने अनेक तरह के राजनीतिक बसन्त देखे हैं। ऐसे भी देखे है जिनके पतझर केवल युद्ध थे। मैं आर्मी में गया था अपनी बल-बुद्धि का चरमोत्कर्ष वाला बसन्त पैदा करने। जिस बसन्त में लाल रंग के अलावा सारे रंग रक्तरंजित हो जाते हैं। आर्थिक, सामाजिक हलचलों को शमित करने के लिए एक-एक व्यक्ति के प्राणों की आहुति दी जाती है। मैं यहाँ से अपनी आन्तरिक आवाजें लाया हूँ। हो सकता है कि आप सही कह रहे हों कि मेरी आन्तरिक संवेदना इन कविताओं में बिखर गयी हैं। शमशेर बहादुर सिंह के शब्द लेकर कहूँ तो 'हर कवि एक टूटी हुई—बिखरी हुई संवेदना को लेकर ही अपने को रचते हुए थोड़ा-बहुत बटोरता है।' शब्द ही कर्म और अनुभव हैं। भाषा ही एक जीवन है। इस जीवन्त संसार में अपनी टूटी-बिखरी उपस्थिति को भूमिका में बदलना, अपने सन्दर्भों के लिये ख़ुद एक पृष्ठभूमि बनाना, केवल शब्दों को ही नहीं उनकी अर्थ-ध्वनियों को अपने अनुरूप बनाना सरल काम नहीं है। रचनाकार के होते हुए भी शब्दों को ही तो अभिव्यंजना सम्बन्धी सारे काम करने हैं, लेकिन उन शब्दों को उस रास्ते पर लगाना केवल माध्यम निर्मित करना नहीं है, बल्कि स्वयं माध्यम को भी लक्ष्य का दर्जा दे देना बस यों ही नहीं घटित होता।

जहाँ तक पंक्ति दर पंक्ति सूक्ति परकता पैदा करने की बात है, मैं उसे कवि का प्राथमिक काम समझता हूँ। कविता की हर पंक्ति में कविता यानी कि आनन्दवर्धन के शब्दों में सरस्वती तत्व होना चाहिए।

आनन्दवर्धन ने सरस्वती को साड़ी पहने हुए एक स्त्री के रूप में नहीं देखा, बल्कि उसे व्यक्ति की प्रतिभा के रूप में 'सरस्वती तत्व' कहा है। सरस्वती एक रस की बावड़ी है। रस की तलैया। रस का सार और रस का सर (ताल) यह तालाब वाली बाई करूणाद्र भी है रस सान्द्र भी। यह वाणी, पानी का बाजा है जो रस के पत्थरों से टकराकर ही ध्वनि पैदा करती है। मुझे अगर सूक्तियों का कवि कहकर पुकारा जाता है तो मैं कतई शर्मिन्दगी महसूस नहीं करता। शायद यही मेरी पहचान हो। मेरी सूक्तियों का भी अगर एक कोष बन जाय तो निरर्थक पंक्तियाँ अपने-आप छँट जाएगीं।

**किसी कविता को लिखने में आपको हद से ज्यादा समय लगा हो और बेचैनी बढ़ गयी हो। उन रचनाओं को याद कीजिए जिनकी बेचैनियों ने आपको सोने न दिया हो।**

आवेश और बेचैनी छोटी-बड़ी सभी कविताओं को रचते हुए महसूस होती है, लेकिन जो बेचैनी अपने अलावा अन्य सबसे

**कविता का अर्थ केवल शब्दों में ही नहीं होता, बल्कि प्रत्येक भाषा में छिपी बोलियों के सांकेतिक गुणों तक वह जाती है। समय की कला शून्य, घास और जंग (रस्ट) है। मनुष्य, समय में अपने कर्म और परिश्रम से एक परिणति पैदा करता है जिसे उत्पादन भी कह सकते हैं और कला भी। प्रत्येक निर्माण और विनाश में कला और उपादेयता छिपकर सन्निहित रहती है। कुछ भी इस दुनिया में अकेला नहीं है। कोई भी तत्त्व और उसका सत्त्व अकेला नहीं है। अकेला गरम, ठंडा भी है और अकेला ठंडा, अपने अन्दर गरम होने का गुण रखे हुए है। काल्पनिक भी यथार्थ का और यथार्थ भी काल्पनिक का अनुकरण है। हर एक वस्तु में कोई-न-कोई दूसरी सम्भावना मौजूद है। भाषा में ढलते ही मूर्त भी अमूर्त और अमूर्त भी मूर्त रूप लेने लगता है।**

---

अलगाव पैदा कर दे, उन में 'अनुस्मृति' जो 18-20 अनुच्छेदों में व्यक्त हुई है जिसे अज्ञेय जी ने एक आधुनिक मनु की सृष्टि कहा था, उस कविता को 'महाकाव्य के बिना' में संग्रहित किया है। उस कविता पर किसी का ध्यान ही नहीं गया। मैं आज भी चाहता हूँ कि उसे पढ़ा जाना चाहिए ताकि यह समझा जा सके कि प्रेम कितना बड़ा उत्पादक तत्व है। इसके बाद 'बलदेव खटिक' कविता के समय यह समझ नहीं आ रहा था कि इस कविता का अन्त कैसे होगा। अचानक एक दिन जब मैं उसे, कह नहीं सकता कि कितनी ही बार दोहरा रहा था, तो अचानक अन्त की वे पंक्तियाँ कुछ इस तरह आ गयीं :

एक अच्छा खासा काम करता हुआ आदमी
पागल हो जाये
1974 की राजनीति में इसके लिए कोई शब्द नहीं
मैं आपको यकीन दिलाता हूँ
बलदेव खटिक के खानदान में काई पागल नहीं था
आप लोग अपनी परवाह करें। अपने बच्चों की जाँच
करवाएँ यह केवल अफवाह नहीं (बल्कि जिन्दा होने
की नयी शर्त है) कि देश में कुछ लोग पेट से ही पागल
हो कर आ रहे हैं लेकिन वे जब फायर करेंगे
तो यह तय है कि इस बार कौवे नहीं मरेंगे।

अन्य बेचैन करने वाली कविताएँ इसलिए बेचैन करती रहीं कि उनमें कोई अगला मोड़ नहीं मिल रहा था जैसे कि— उच्चैश्रवा, मन्दिरलेन, हाथी और पहाड़, काखड़ तथा व्यक्तिगत उड़ान आदि कविताएँ। व्यक्तिगत उड़ान के अन्त को कई तरह से सोचा था लेकिन आखिर में एकदम अप्रत्याशित अन्त हुआ। जो एक समाचार पत्र का कत्ल था। ऐसी एक कविता और याद आ रही है— 'पलटवार'। इसने भी मुझे कई नाटकीय यातनाओं से गुजारा। मगर वे यातनाएँ फलीभूत हो गयीं, जब कुछ मोड़ों का अप्रत्याशित अन्त हाथ आ गया।

**कुछ कवि अपनी कविता में वैज्ञानिक या तकनीकी या इंजीनियरिंग क्षेत्र या अपने प्रोफेशन की जानकारियों का इस्तेमाल ही करते हैं... आपको कभी अपनी कविता के लिए यह करना ज़रूरी लगा? क्यों कि काव्य सृजन की आपकी उम्र 56 वर्ष से अधिक की हो गयी है। इस वर्ष आप 76 वर्ष के हो जायेंगे। आपकी कविता के कई चरण और चेहरे हैं। अब क्या सोचते हैं?**

मैंने कई तरह का जीवन जिया है। एक पहाड़ी परिवार में पैदा होकर मौसमों और मिट्टी की मुझे अलग-अलग तरह की पहचान है। मैं जानता हूँ कि बारिश ही नहीं बर्फ भी कई प्रकार की होती है। फौज में सिपाही रहा। विद्यार्थी जीवन में बहुत भगोड़े क़िस्म का लड़का रहा हूँ। जयपुर के बापू बाजार के निर्माण और बसने वाले दिनों में रात की चौकीदारी भी की है एक सीनियर नेपाली चौकीदार के साथ। राजस्थान के संस्कृत विद्यालयों में और बनारस के महाविद्यालयों व विश्वविद्यालयों में पढ़ा हूँ। फेल बहुत हुआ हूँ। बीमार उससे भी ज्यादा रहा हूँ। दो बड़े ऑपरेशन हुए हैं। एक किडनी जाती रही। दूसरी 40 प्रतिशत काम कर रही है। मैंने कविताओं में निजी रोना बहुत कम रोया है। दो बार विस्थापित हुआ हूँ। एक 1970 में त्रासदी झेली। परिवार के लोगों को अपने पुत्र सहित मिनटों में इस दुनिया से जाते हुए देखा है। दूसरी त्रासदी 2013 में झेली। हर बार अपने बनाये हुए घर से हाथ धोया है। हरेक व्यक्ति को अपना दुख बड़ा दिखता है, लेकिन मुझे दुखों के बावजूद जीना बड़ा लगता है। कविता की भी शायद इच्छाएँ होती हैं। कोई कवि आये और उसको नया जन्म दे दे। कवि के जीवन में कष्ट और पीड़ाएँ, भर्त्सनाएँ और तिरस्कार बहुत होते हैं। वहीं है जो अपने कुकृत्यों और सुकृत्यों से सीखता रहता है। वह जीने और रचने के लिए बाध्य है।

आपने विज्ञान सम्बन्धी चेतनावाली कुछ कवियों की कविताओं की ओर से सवाल किया है। वैज्ञानिक चेतना हरेक में होनी चाहिए, वह चेतना सिर्फ़ वैज्ञानिक विषयों तक ही सीमित नहीं होनी चाहिए। कविता में अगर केवल वैज्ञानिक सत्य ही आते जाएँगे तो कवियों के कमाये हुए सत्य ढूँढने हम कहाँ जाएँगे?

विज्ञान का सत्य समाज शास्त्रीय कसौटियों पर शायद, खरा न उतरे उसके लिए मनुष्य के मनोविज्ञान की ज़रूरत आन पड़े। राजनीति विज्ञान का हो सकता है सिर्फ़ व्यापारिक रिश्ता ही सिद्ध हो। कविता का सत्य अगर विज्ञान का सत्य है तो कविता की अपेक्षा विज्ञान ही काम आएगा। विज्ञान, धर्म को तो बचा सकता है पर कविता को नहीं। कविता को कवि की विज्ञान सम्बन्धी मनो-समाज दशा और दिशा शायद कुछ खुराक दे सके। कविता की अपनी ज्ञान-विज्ञान प्रयोगशाला एकदम अलग किस्म की है। वैज्ञानिक सत्यों और तथ्यों से बनी कविताओं में कवि का सत्य अकसर नहीं मिलता है।

अपने, आर्मी और अध्यापकीय जीवन पर मैंने अभी तक कुछ नहीं लिखा है। इसका मतलब यह नहीं कि प्रोफेशन पर कविताएँ नहीं की जानी चाहिए। साहित्य में किसी भी चीज का निषेध नहीं है। मैंने अपने और दूसरों के दुखों को अलग-अलग नहीं देखा है। मैं परकाया प्रवेश को ज्यादा चुनौती मानता हूँ। मैं अपनी कविताओं में एक तरह के कथ्य या कि शिल्प की आवृति से भी ऊब जाता हूँ। हर कविता में कुछ नया तो होना ही चाहिए। न हो तो भी एक प्रायोगिक प्रयास तो हो। बातचीत की लय भी तो कई प्रकार की होती है। एक ही यहाँ अनेक और अनेक भी यहाँ एक हो जाते हैं।

**हमारे देश में सत्ता का साथ अनुकूल नहीं होता। पाब्लो नेरूदा ने सत्ता में रहकर कविता की। हमारे यहाँ श्रीकान्त वर्मा को सत्ता का साथ अनुकूल नहीं लगा, वे तड़पते रहे और जल्द ही लौट आये... आपको नहीं लगता कि सत्ता की नजदीकियाँ कवि के रचना-स्पेस को ख़त्म कर देती हैं। आपके अनुभव से जानना चाहता हूँ।**

सत्ता में रहकर या सत्ता जैसी नौकरियों में रहकर त्रास के अनुभव अलग-अलग हो सकते हैं। किसी बड़े अखबार का सम्पादक होना भी, बड़ा सत्ताधारक होना हो सकता है। कुशल वकील होना भी कम सत्ताधारी नहीं होता। कहते हैं कि लेखक या कवि भी शब्द की सत्ता का छोटा-मोटा मालिक तो होता ही है। लेखक अगर प्रकाशक भी है तो वह भी सत्ता जैसा दिखने लगता है। अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क, केदारनाथ अग्रवाल, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, श्रीकान्त वर्मा, अशोक वाजपेयी, विद्यानिवास मिश्र जैसे कुछ और नाम भी जोड़े जा सकते हैं, लेकिन पूरी तरह राजनीति में हिस्सेदार लेखकों को भी इस सूची में याद किया जा सकता है। जवाहरलाल नेहरू, राधाकृष्णन, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, बाबू सम्पूर्णानन्द, आचार्य नरेन्द्र देव, कृष्णायन के प्रणेता द्वारिका प्रसाद मिश्र इत्यादि नामों को भी इसमें शामिल करके विचार किया जा सकता है। जहाँ तक श्रीकान्त वर्मा का प्रश्न है उन्हें मैं प्रथम श्रेणी की रचनात्मक प्रतिभा मानता हूँ। पार्टियों की खेमेबन्दी के नाम पर चली विचारधारा के तहत उन्हें भी काफी गालियाँ सुननी पड़ीं। लेकिन आज मैं निर्भान्त रूप से कह सकता हूँ कि श्रीकान्त वर्मा कविता और कथा के क्षेत्र में नितान्त अपनी तरह के एक श्रेष्ठ कवि और कथाकार थे। यह मैं नहीं जानता कि सत्ता से बाहर आने और पार्टी विहीन आम आदमी जैसा लेखक बने रहने का उन्होंने कब प्रयास किया। मेरी समझ से किसी लेखक को किसी पार्टी का न होकर पूरी मानवता का होना चाहिए। लेखक सिद्धान्तवादी हो, पार्टीवादी न हो। पार्टीवादी होते ही वह घटिया और दलबदलू भ्रष्ट राजनीति का हिस्सा हो जाता है।

कवियों के सत्ता में रहने और अच्छे कवि होने के भी उदाहरण कई मौजूद हैं। आपने नेरूदा का उदाहरण दिया। मैं भर्तृहरि का उदाहरण देना चाहूँगा। कालिदास के बारे में भी राजा होने की किंवदन्ति है। राजा भोज के तो बहुत किस्से भरे पड़े हैं।

टॉलस्टाय अगर गरीब होते तो क्या वे टॉलस्टाय से बड़े लेखक होते? नरोत्तमदास ने सुदामा चरित लिखकर यह बता दिया कि गरीबी के बारे में महान कविता कोई मध्यवर्गीय भी लिख सकता है। नरोत्तमदास का गरीब ब्राह्मण तो अत्यन्त निम्न वर्ण का लगता है। ब्राह्मणों ने भी धनविहीन दलितों जैसा गरीब जीवन जिया है।

भर्तृहरि ने सिंहासनारूढ़ रहते हुए भी जो लिखा 'शृंगार शतक' इत्यादि वह काव्य जगत में आज भी सीखने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'नीतिशतक' उन्होंने वैरागी होने के बाद न लिखा होगा। हाँ, 'वैराग्य शतक' तो इसकी स्वयं गवाही देता है कि राज-पाठ छोड़ने के बाद ही वह लिखा गया होगा। नीतिशतक का प्रारम्भ मूर्खता की भर्त्सना से होता है। मूर्ख साक्षात पशु होते हैं और उनकी पशुओं पर कृपा कि वे उनके बदले घास नहीं खाते।

किसी ने कैसा जीवन जिया यह विचारणीय है, लेकिन वैसा जीवन जीते हुए भी उसने अपने से अलग किस तरह सोचा और रचा, यह भी विचारणीय होना महत्त्वपूर्ण है। व्यक्तित्व और कृतित्व में भी कहीं एक न एक सूक्ष्म फाँक होती है। सोच के रचाव से पता चलता है कि अपने से स्वयं अलग होकर दूसरों के आप कितने हैं? ख़ुद, दूसरा होकर कितना आपने सोचा है। लेखक बिना परकाया प्रवेश या बिना कायान्तरण के नहीं हो सकता। कुछ लेखक उस कायान्तरण से वापस आकर किसी खास सिद्धान्त और पार्टी के होकर रह जाते हैं। बड़ा मुश्किल होता है एक अपराधी के बारे में बिना अपराधी मन:स्थिति के लिख पाना। कभी दस्तोवयस्की को पढ़ो तो जान जाओगे कि लेखक को कितनी बड़ी यातना से गुजरना पड़ता है। हर कदम पर अपराधों और लेखक में आपसी सम्बन्ध दिखायी देने लगता है। लेखक उपदेशक हुए बिना अपराधी का जीवन लिख रहा है।

**यह सवाल तो पूछ रहा है कि अपनी कविता का अर्थ बताओ। सवाल न बुरा है न खराब बल्कि रचनाकार को अपने दायित्व की जवाबदेही की ओर ले जाता है। क्या विचारधारा भी सामान्य**

**लोगों के लिए दुर्लभ चीज नहीं है? क्या विचारधारा की श्रेष्ठता भी एक सम्भ्रान्त होने की अतिरिक्तत चेष्टा नहीं है? चोटियों की तरह विचारधाराएँ भी आपस में एक दूसरे को ऊँचा-नीचा समझने के प्रतिमान बनाने लगती हैं। बुराई विचारधारा के रहते हुए भी पनप सकती है और विचारधारा के बिना भी।**

इसमें पहला तंज़ तो ख़ुद पर है। अपने को ही दूसरा समझकर मैंने यह सवाल उस वक्त उठाने की सोची थी जब विचारधारायें भी आपको बन्धुआ बना लेती हों। जब मुक्ति भी मनुष्य को एक और बन्धन में डाल देती हो। विचारधारा भी बर्फ की तरह दिलो-दिमाग़ में जम जाती है। ठंड एक जड़ता है जो बर्फ की उम्र को बढ़ा देती है। ऊँची चोटियाँ, उस से शुभ्र दिखने लगती हैं। मैं तुमसे ज्यादा सफेद और निर्दाग हूँ। तुमसे ज्यादा ऊँचा। ठंडा हूँ मगर निष्प्राण नहीं। मुझे शोषक सूर्य का ताप चाहिए। डर यह है कि अगर मैं पिघलूँगा तो मेरा श्वेताभ स्वरूप गल जाएगा। अगर पिघलूँगा नहीं तो कहीं पहुँच नहीं पाऊँगा। शोषक सूर्य मुझे मुक्ति प्रदान कर सकता है, लेकिन अगर फिर से बर्फ न गिरी, एक नयी वैचारिक खेप की मुझ पर वर्षा न हुई, ऊपर उठा हुआ पानी नीचे न गिरा, तो फिर मेरी उच्चता और शुभ्रता दोनों खतरे में पड़ जाएँगे। यथास्थिति में भी परिवर्तन की एक साइकिलिंग है। अगर वैचारिक उच्चता और शुभ्रता नहीं होगी तो पिघलने के उदारीकरण से भी ठंड की तानाशाही को बलशाली होने का मौका मिलेगा। ठंड की या किसी भी तरह की तानाशाही फैलाना किसी भी विचारधारा का कथित उद्देश्य नहीं है। फासिष्टवाद और विचारधाराओं के भी... स्वरूप होते हैं। ठंड फैलाना मुख्य नहीं था। पर यह जो भी विचारधारा हो उसके विरुद्ध अपना प्रभाव तो छोड़ेगी ही। कोई भी कर्म परिणाम से कैसे बच सकता है। विचारधाराओं की जकड़बन्दी और उन्मुक्तताओं के परिणाम की जानकारी होना ज़रूरी है। विचारधारा ऊँची चोटियों से उतरकर नीची घाटियों तक भी फैलनी चाहिए वरना शिखर बने लोगों की चाँदी को हरियाली में नहीं बदला जा सकेगा। बर्फ पिघलेगी तो हरी घास उगेगी। हो सकता है उस हरी घास में कुछ औषधीय वनस्पतियाँ भी हों। औषधीय पादपों को पहचानने की भी योग्यता विचारधारा में शामिल होनी चाहिए। 'पादप' का मतलब ही है जो अपने होने को पैर समझे। अन्डर ग्राउंड होने का पैर / जो अपनी परम्परा के पैर पहचानता हो। पैर माने जड़ें। उसकी जड़ें ही पैर बनकर उस एक जगह खड़ा रखती हैं और वहीं से वह दूर-दूर तक के समय और मौसम को प्रभावित करता रहता है। पादप का पैदल चलना उसकी यथास्थिति को उसी जगह पर बदल-बदल देता है। इसलिए किसी भी वस्तु अथवा रचना के अर्थ को उसकी अधोगामिता और ऊर्ध्वगामिता दोनों स्थितियों में देखा जाना चाहिए। शब्दों से अर्थ का ध्वन्यात्मक उत्खनन करने की गुंजाइश पैदा करना भी कविता का काम है।

**एक प्रश्न मेरी किसी बेचैनी से जुड़ा है। आपकी कविता में शब्दों की इतनी भरभार क्यों है? बावजूद इसके कविताओं में कवितापन मुकम्मल है। कविता तो जीवन का महास्वप्न है (यूटोपिया) है, शब्द बोरी में आलू की तरह तो नहीं होने चाहिए? आपके शब्दों में कहूँ तो आपकी कविता का मुँह शब्दों से ढँका क्यों है? उदाहरण के लिए मैं याद करना चाहता हूँ— कर्ज के बाद नींद, सौ गलियों वाला बाजार, जुर्माना या खबर का जन्म आदि...**

कविता बिना शब्दों के हो ही नहीं सकती। जैसे सिनेमा बिना दृश्यों के नहीं हो सकता। पेंटिंग बिना रंग के नहीं हो सकती। पर शब्द, दृश्य और रंगों की बहुलता उन्हें खराब कर रही हो यानी कि प्रभावहीन बना रही हो तो यह वाकई चिन्ताजनक है। जिन कविताओं के आपने नाम लिये हैं उनके बारे में सिर्फ़ एक-दो वाक्यों में यह बताना चाहूँगा कि हिन्दी के किस कवि के यहाँ आपको (एक बैंककर्मी होते हुए) आधुनिक बैंकों की अर्थव्यवस्था पर कोई कविता मिली है क्या? और अगर मेरे जैसे तथाकथित कवि के यहाँ आपको मिली तो उसको आपने किस तरह समझा। एक लड़का कुछ करना चाहता है और उसके पास पूँजी नहीं है। पर बैंक उसका कर्ज देने के काम आ रहा है। पुराने जमाने में कर्ज नींद हराम कर देता था, लेकिन बेटे को बैंक से कर्ज मिलने के बाद अपने बेटे की योग्यता के भरोसे चैन की नींद आ जाती है। हो सकता है इस में कविता के संस्कार जैसी कविता न बनी हो, लेकिन एक चिन्ताजनक स्थिति का नया बिम्ब तो पैदा हुआ ही है।

आज हम बाजार को एकरेखीय समझने के आदी हो गये हैं, जबकि बाज़ार बहुरेखीय है। सहस्त्रबाहु, बाज़ार हमें अपने आलिंगन में लेना चाहता है। हम उत्पादन के इन स्वरूपों की झप्पी को नहीं समझ पा रहे हैं। हमने केवल बाज़ार विरोध की घुट्टी पी रखी है। सौ गलियों वाले बाजार की कविता के दस-बारह अनुच्छेदों को जब आप सकारण, उद्देश्य की दृष्टि से देखेंगे तो कई कथा, कई सत्य और रंगों के कई दृश्य नजर आयेंगे। 'जुर्माना' भी बहुआयामी, मेरी नजर में, इस तरह है कि भीख माँगने और भीख देने को पुण्य की श्रेणी में रखकर मुनाफा कमाने की प्रवृत्ति को आघात पहुँचाना था। 'खबर का जन्म'— खबरों को हम अकसर शब्दों में ही देखते हैं पदार्थों में नहीं। जब कि बहुत पदार्थ इन खबरों से पहले के जन्मे हुए हैं। नयी से नयी खबर भी कितनी पुरानी चीजों के बारे में हमें जानकारी देती है। वेद आदि पुराने ग्रन्थ कितनी पुरानी खबरों से हमें प्रभावित करते रहते हैं। हो सकता है कल आदमी गर्भाशय से नहीं एक फल में से बाहर आये? हो सकता है वह अपनी ताकत के रूप में खाने के लिए कोई प्रतिभा ढूँढ रहा हो। हो सकता है वह देश और धर्म से बाहर किसी और तरह की वैश्विक राष्ट्रीयता का अंश हो चुका हो। हो सकता है कि वह मनुष्य के रूप में नहीं, मशीन के रूप में पहचाना जा रहा हो, लेकिन हो सकता है कि

अन्त में उसे हिन्दू कहकर मुसलमान की तरह उसका शिकार किया जा रहा हो।

दरअसल एक बँधुआ संस्कार से कविता को समझने के लिए बाहर आना ज़रूरी है। ऐसे सांस्कृतिक बँधुआओं की मुक्ति की भी मेरी कविता कामना करती है। संस्कार का असली अर्थ है अपने को फिर से माँजना। इस माँजने में जो धोवन निकलती है उसमें मूल धातु भी अपना कुछ अंश त्याग देती है। कुछ उसका आंतरिक परिवर्तित धातुरूप झलक आता है। कुछ चीजें इतनी कम टिकाऊ धातुओं से या पदार्थों से बनी हुई होती हैं कि माँजते-माँजते ही खत्म हो जाती हैं। संस्कार को नये धातुपात्रों तक पहुँचाना और रचना का नये गूढ़ार्थों से संवलित करना आलोचक का पहला काम होना चाहिए। तभी काव्य की समझ एक संस्कारित (मँजे हुए) पात्र की तरह चमकेगी। मनुष्यों की खान से ही कवि भी निकलते हैं आलोचक भी। कुछ पत्थरों से सोना निकलता है और कुछ पत्थर कसौटी बन जाते हैं। कसौटी पर सोने की लकीर बन गयी तो सोना खरा है पर अगर सोने पर कसौटी का रंग चढ़ गया तो वह सोना खरा नहीं रह जाता। आलोचना काव्य के सौन्दर्य को बता सकती है, सुधार नहीं सकती। सुधार तो उस में रचनाकार ही करेगा। कितने रचनाकार हैं, जिन्हें आलोचकों ने न रचा हो? मैं अपने लिखे को कह सकता हूँ कि मैं वह सौभाग्यशाली नहीं हूँ जिसे कोई अर्थ विस्तारी आलोचक मिला हो। आज गुरू आलोचक की ही नहीं गुर्रानेवाले आलोचक की भी ज़रूरत है। आलोचक की कसौटी पर रचना को अपनी स्वर्ण रेख खींचनी ज़रूरी है। खरे सोने जैसी रचना वही है जो अपने स्वर्ण पर आलोचक के सोने का रंग अलग से न चढ़ने दे बल्कि अपना ही रंग कसौटी पर चढ़ाती रहे।

*(नरेश चन्द्रकर का लिया यह साक्षात्कार काफ़ी बड़ा था। उनसे बात कर पत्रिका की सीमा के अनुरूप इसे छोटा करना पड़ा। )*

**मो.: 08384856576 (लीलाधर जगूड़ी)**
**09586736618 (नरेश चन्द्रकर)**

# प्रतिरोध के बहुत-से रास्ते हैं। प्रतिरोध का पहला रास्ता तो लिखना ही है।

## वरिष्ठ कवि मंगलेश डबराल से रोहित कौशिक की बातचीत

**दिल्ली जैसे महानगर में रहते हुए आपके अन्दर कितना पहाड़ बचा है? क्या आप दिल्ली को अपने भीतर आत्मसात कर पाए हैं?**

मुझे बहुत समय हो गया है पहाड़ से आए हुए। मैं 37-38 वर्षों से दिल्ली में हूँ, लेकिन मैं आज भी महसूस करता हूँ कि मैं दिल्ली का नहीं हूँ और दिल्ली मेरी नहीं है। क्योंकि आपको हर शहर के भीतर अपना एक शहर खोजना पड़ता है या निर्मित करना पड़ता है। एक समय था जब दिल्ली छोटी थी, तब इतनी विशाल तथा फूली हुई और इतनी अधिक जनसंख्या के विस्फोट वाली नहीं थी। उस समय हम लोगों ने इस शहर के बीच में अपना एक शहर ढूँढ लिया था। वो शहर भी नष्ट हो गया है। इसलिए कि इस बीच तमाम तरह के निर्माण कार्य, तमाम तरह के फैलाव, विस्तार और दिल्ली की स्काईलाइन भी बदल गयी है। दिल्ली का भूगोल भी बदल गया है। उस दिल्ली का इतिहास कहीं बहुत नीचे दब गया है। तो इस तरह शहर के ऊपर शहर बसता गया। उस समय आने वाले हम कुछ मित्रों ने जो अपना शहर खोजा था वो शहर तो कहीं भूमिगत हो गया है। तो मैं अपने आपको उस भूमिगत शहर का हिस्सा मानता हूँ जो अब नहीं है, लेकिन अब जो दिल्ली है वो मेरे लिए उतनी ही अजनबी है जितनी अजनबी कोई नयी जगह होती है। पहाड़ इस मायने में मेरे भीतर बचा हुआ है कि वो मेरी स्मृति में सुरक्षित है और स्मृति कोई अतीत नहीं होता है। अतीत और स्मृति में बहुत अन्तर है। अतीत अगर हमारी स्मृति का हिस्सा बन जाता है तो वो फिर वर्तमान में उपस्थित रहता है। तो मुझे लगता है कि अभी भी मेरे भीतर पहाड़ बचा हुआ है और इसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ। यह वैसे ही है जैसे कि आपके भीतर अगर बचपन का एक टुकड़ा बचा हुआ हो तो आप हमेशा उस मासूमियम की, उस सरलता की रक्षा करते रहते हैं जो कि मनुष्य होने के लिए बहुत ज़रूरी है।



**तो दिल्ली जैसे महानगर में पहाड़ की स्मृतियों ने ही आपको जिन्दा रखा है?**

जी हाँ, स्मृति मेरी एक बड़ी पूँजी रही है। मेरी कविता में भी और मेरे जीवन में भी।

यह सही है कि मैं कई बार पहाड़ जाता हूँ, लेकिन जाना लौटना नहीं होता है। तो मैं कभी लौटा नहीं हूँ। जाने और लौटने में बहुत अन्तर होता है। शायद हम उन जगहों में लौट भी नहीं सकते जो हम छोड़ आए हैं। या जो जगह हमसे बीत गयी है, लेकिन मुझे लगता है कि स्मृति ही कल्पना को जन्म देती है। बिना स्मृति के कोई कल्पना काम नहीं कर सकती। अगर हम स्मृति को कल्पना बना सकते हैं तो मैं समझता हूँ कि यह रचना के लिए और हमारे जीवन को आगे बढ़ाने के लिए ज़रूरी है।

**उत्तराखंड राज्य बने हुए दस वर्ष से अधिक का समय बीत चुका है। क्या आपको लगता है कि पहाड़ के लोगों की मूलभूत समस्याएँ आज भी वही हैं जो आपके समय में थीं ?**

आज समस्याएँ बढ़ी हैं। इसलिए बढ़ी हैं कि हम लोग पहले उत्तर प्रदेश का हिस्सा थे। जब उत्तर प्रदेश से उत्तराखंड अलग हुआ तो वह एक बड़ी घटना थी। तब लगा कि अब अपना एक राज्य हो गया है, लेकिन उत्तराखंड आया और पहाड़ चला गया। तो उत्तराखंड बनने के साथ पहाड़ के समाप्त होने की प्रक्रिया भी चलती रही। इसलिए कि उत्तराखंड में जो नौकरशाही आयी, जो व्यवस्था आयी उसमें जो विकास का मॉडल अपनाया गया वो कहीं भी उस विकास के मॉडल से भिन्न नहीं था जो कि पूरे देश में लागू था। तो उत्तराखंड के लिए अलग से कोई विकास का मॉडल नहीं बनाया गया जैसे कि हिमाचल के लिए बनाया गया। हिमाचल इसलिए आज बेहतर राज्य है और उसकी हिमाचली पहचान है, क्योंकि वहाँ स्थानीय ज़रूरतों के हिसाब से, स्थानीयता के हिसाब से विकास का मॉडल अपनाया गया। जैसे वहाँ हॉरटीकल्चर को बहुत बढ़ावा दिया गया। सेब और आड़ू जैसे पहाड़ी फलों का बड़ा हिस्सा हिमाचल से आता है। तो हिमाचल मुख्यतः फल उगाने वाले राज्य के तौर पर भी विकसित हुआ। मैंने शिमला में कोई आदमी भीख माँगता हुआ नहीं देखा। इस तरह का प्रयास उत्तराखंड में नहीं हुआ, बल्कि यह हुआ कि पहाड़ से जो लोग बड़े शहरों में आते थे, उनका विस्थापन बढ़ा ही है और अब बड़ी मात्रा में लोग पहाड़ से आने लगे हैं। उत्तराखंड में नए रोजगार सृजित नहीं हुए हैं। हाँ, यह ज़रूर है कि राजधानी देहरादून में या नैनीताल में कुछ हल्के-फुल्के उद्योग लगे, लेकिन इससे पूरे उत्तराखंड को कोई रोज़गार नहीं मिला। अब यह हो रहा है कि सड़कें बन रही हैं, लोग दैनिक मज़दूरी कर रहे हैं या बाँधों के साथ जो रोज़गार जुड़ा हुआ है वहाँ मज़दूरी करने में लगे हैं। उनको तुरन्त पैसा मिल जाता है। यह सही है कि उन्हें एकदम धन मिल जाता है, लेकिन उसका कोई उपयोग नहीं होता जो उनके जीवन में काम आए। वो तुरन्त खर्च हो जाता है।

एक और विडम्बना यह रही कि टिहरी बाँध से विस्थापित होने वाले लोगों को देहरादून के आसपास के इलाकों में बसाया गया। उनसे उनका घर छूट गया, उनके पेड़ छूट गए, पानी छूट गया और उनकी भाषा भी छूट रही है। अभी तो नहीं लेकिन अगली दो-तीन पीढ़ियों के बाद गढ़वाली या अपनी जो और भाषाएँ हैं, उनको भी वो लोग भूल जाएँगे। उनके बच्चे याद नहीं रख पाएँगे। दरअसल, उनकी स्मृति उन्हीं गाँवों में छूट गयी है। उनके लोकगीत वहीं छूट गए हैं। यह सही है कि उन्हें थोड़ी-बहुत जमीन मिल गयी है, जो पहाड़ के मुकाबले ज्यादा उपजाऊ है, लेकिन जो कुछ उनसे छूटा है, वो बहुत बड़ी धरोहर, वो बहुत बड़ी थाती उनसे छूट गयी है। दूसरी प्रक्रिया यह चल रही है कि जो पहाड़ के लोग हैं, वो बड़े पैमाने पर खेती छोड़ रहे हैं, क्योंकि उनको मजदूरी करके तुरन्त पैसा मिल रहा है। न हमारे बीजों में सुधार हुआ, न हमारे खेती करने के तरीके विकसित हुए और न उनकी जगह फलदार वृक्ष लगाने की योजना बनी। तो वो खेती करना छोड़ रहे हैं। नयी पीढ़ी तो बिल्कुल खेती नहीं कर रही है। पहाड़ी खेतों में जंगल उग आए हैं। खेती करना और मुश्किल हो जाएगा, क्योंकि उनकी जड़ें नीचे तक चली गयी हैं। तीसरी प्रक्रिया यह चल रही है कि पहाड़ी लोग अपना पहाड़ीपन छोड़कर मैदानी होते जा रहे हैं। उनका लगातार मैदानीकरण हो रहा है। दूसरी तरफ़ मैदानी लोग पहाड़ों पर अपने घर और बँगले बना रहे हैं। उनका पहाड़ीकरण हो रहा है। इसकी रोकथाम का उपाय वहाँ की सरकारों के पास नहीं है। तो कुल मिलाकर उत्तराखंड एक पहाड़ी राज्य नहीं रह गया है। आबादी और जनसंख्या के हिसाब से जो नया भौगोलिक और राजनीतिक परिसीमन हुआ है, उसने तो पहाड़ का प्रतिनिधित्व और भी कम कर दिया है, क्योंकि उसमें मैदान के लोगों की संख्या बहुत ज्यादा हो गयी है। इसलिए वहाँ के जनप्रतिनिधियों की संख्या लगातार घट रही है।

**भारतीय वामपन्थ की विफलता का क्या कारण मानते हैं? क्या आपको लगता है कि वामपन्थ की इच्छाशक्ति के अभाव में दक्षिणपन्थी राजसत्ता को आगे बढ़ने का मौका मिल रहा है ?**

यह तो मेरे ख्याल से बड़ा जटिल सवाल है क्योंकि भारतीय वामपन्थ की विफलता के एक नहीं अनेक कारण हैं। यह मसला बहुत जटिल है। कुल मिलाकर हमारे वामपन्थ ने सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तन का और क्रान्ति का स्वप्न देखना बन्द कर दिया है। अब तो स्वप्न भी नहीं रह गया है। किसी चीज को करने से पहले उसका स्वप्न बहुत ज़रूरी है। उस स्वप्न का अवसान हो गया है। हमारा समाज काफ़ी जटिल है। हिन्दुस्तान जैसे जटिल समाज में मार्क्सवाद वैसे भी कठिनाई से लागू होनेवाला वैचारिक दर्शन है, लेकिन एक समय हमारे वामपन्थ में बहुत ताकत थी। उत्तर प्रदेश हो, चाहे बिहार हो या उत्तराखंड हो, वहाँ भी वामपन्थ मजबूत था, लेकिन धीरे-धीरे सिकुड़ता चला गया और अब वो केरल तथा पश्चिमी बंगाल जैसे राज्यों में सिमटा हुआ है। एक

जमाने में आन्ध्रप्रदेश में वामपन्थ आन्दोलन बहुत जबरदस्त था। जब ट्रेड यूनियन आन्दोलन कमजोर पड़ा तो उसका असर वामपन्थ पर भी पड़ा। दरअसल, सभी राजनीतिक पार्टियों का उद्देश्य किसी तरह से चुनाव जीतना है। चाहे जाति के बल पर हो, धर्म के बल पर हो, सम्प्रदाय के बल पर हो या बाहुबल के बल पर हो। उनका उद्देश्य कुल मिलाकर चुनाव जीतना है। कोई सामाजिक परिवर्तन लाना उनका उद्देश्य नहीं है। तो मुझे लगता है कि उसी का शिकार हमारी कम्युनिस्ट पार्टियाँ भी हो गयी हैं। जनता के बीच जो बुनियादी काम होना चाहिए था, वो बहुत कम रह गया है। वामपन्थी पार्टियों के नेता भी अब जमीन से उठकर नहीं आते हैं, बल्कि वो कुलीन वर्ग से आते हैं और उनको जमीनी सच्चाइयों की कोई समझ नहीं है। दूसरी ओर माओवाद के नाम पर जो संघर्ष चलाया जा रहा है, वो भी इस मायने में दिग्भ्रमित है। इस देश में हम हथियारबन्द लड़ाइयों का इतिहास देख चुके हैं। राज्यसत्ता बहुत ताकतवर है। उसके पास दमन का तन्त्र बहुत बड़ा है। छोटे देशों में यह शायद अभी भी सम्भव है। जैसे नेपाल में हुआ। नेपाल में भी अन्ततः उसे विफलता ही हासिल हुई। तो मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान में गुरिल्ला वारफेयर चलाना तो शायद बहुत मुश्किल है। वो क्यूबा जैसे छोटे देशों में शायद सम्भव था, वो भी उस दौर में। आज स्थिति यह है कि पूँजीवाद ने अपने हथियार इतने जुटा लिए हैं, उसने इतनी ताकत अर्जित कर ली है कि वो किसी भी लड़ाई का दमन कर सकता है। वामपन्थ के सामने पहली चुनौती तो यह है कि पूरी दुनिया में जिस तरह कम्युनिस्ट मूवमेन्ट को आघात पहुँचा है और दूसरा यह है कि आवारा पूँजी ने दुनिया में जो बदलाव किए हैं, इन दो चीजों के मद्देनजर भारतीय समाज का विश्लेषण होना चाहिए। उसके हिसाब से अपनी वैचारिक नीति, कार्यनीति और रणनीति तय की जानी चाहिए। मुझे लगता है कि पुराने विश्लेषण अब उतने काम के नहीं हैं।

**मंगलेश जी, समकालीन हिन्दी कविता को आलोचकों ने किस हद तक दर्ज किया है ?**

देखिए, हिन्दी में आलोचना तो लगभग खत्म हो चुकी है। इस समय हिन्दी की एक बड़ी त्रासदी तो यह है कि कोई आलोचना नहीं है। हालाँकि हिन्दी अध्यापक बहुत हैं। उनकी संख्या लाखों में होगी, लेकिन मुझे लगता है कि आलोचना प्रतिमानों के संकट से गुजर रही है। प्रतिमानों का इतना अधिक संकट आलोचना में पहले कभी नहीं था। पिछले कई वर्षों से हमारे आलोचक एक भी नयी शब्दावली, नया विश्लेषण और नये औजार पैदा नहीं कर पाए हैं, जिससे समकालीन कविता का विश्लेषण किया जा सके। इसीलिए आलोचना उपलब्ध नहीं है। मुझे लगता है कि कुँवर नारायण और रघुवीर सहाय की पीढ़ी के बाद यानी सन् 60 की कविता के बाद कोई आलोचना उपलब्ध नहीं हो पाई है। यह स्थिति आज तक चल रही है। इसीलिए जो अच्छा बुरा लिखा जा रहा है, उसमें अच्छे से बुरे को अलगाने की कोई कोशिश नहीं है। लिखा बहुत जा रहा है, लेकिन कोई नया प्रतिमान नहीं आया है। जैसा कि हिन्दी में मुक्तिबोध ने बड़ी शब्दावलियाँ दीं। यानी संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना। एक तो यह और दूसरा कविता की स्थानान्तरगामी प्रवृति। ये उनके दो योगदान बहुत बड़े हैं, लेकिन इसके बाद कोई ऐसा आलोचक नहीं हुआ जिसकी मान्यताएँ हमारे इतने उपयोग की रही हों। दरअसल, हमारे समाज में भी आलोचनात्मकता बहुत कम हुई है। यह एक सामाजिक प्रक्रिया है, जिसकी प्रतिछाया साहित्य में भी हमें दिखाई देती है। आज मध्यमवर्ग का आलोचनात्मक विवेक बहुत कम हुआ है। इसलिए आज हमने सवाल उठाना ही बन्द कर दिया है। हमें खाने के लिए अमेरिकी कम्पनियों के जो चिप्स मिलते हैं या फिर हम जो पेप्सी और कोला पीते हैं, हम उनके बारे में भी सवाल नहीं उठाते हैं कि इनके अन्दर क्या भरा हुआ है। इसी तरह अमेरिका जो कुछ कह रहा है, हम मान रहे हैं कि वह सही है। इस अमेरिकीकरण ने सब कुछ एकरूप कर दिया है।

**इस दौर की अधिकांश कविताओं में एकरूपता व्याप्त है। कविता के इस संकट को आप किस रूप में देखते हैं ?**

इससे मैं पूरी तरह सहमत नहीं हूँ। एकरूपता तो नहीं है। मसलन विष्णु खरे की कविता और विनोद कुमार शुक्ल की कविता में बहुत फर्क है। आप अलग से पहचान सकते हैं कि यह विष्णु खरे की कविता है और यह विनोद कुमार शुक्ल की कविता है। ऋतुराज और लीलाधर जगूड़ी की कविता बहुत अलग है। हमारी पीढ़ी में अगर जाएँ तो राजेश जोशी और ज्ञानेन्द्रपति की कविताओं में बहुत फर्क है। एकरूपता अगर लगती है तो इस वजह से कि हम एक ही समय में रह रहे हैं और एक ही समय की घटनाओं पर प्रतिक्रिया कर रहे हैं। तो उस समय को अगर हम दर्ज करते हैं तो मेरे ख्याल से एकरूपता कहीं न कहीं आएगी। कथ्य के स्तर पर आएगी, लेकिन असल चीज यह है कि उस विषय को, उस अनुभव को देखने का तरीका कवि का अपना है या नहीं। मुझे लगता है कि छायावाद में भी एकरूपता थी। निराला और पन्त की बहुत-सी कविताओं में लग सकता है कि एकरूपता है, क्योंकि उनमें अनुभव समान था।

**क्या आपको लगता है कि इस दौर में कविता का विपक्षधर्मी मूल्य कम हो गया है, जिससे उसकी नैतिक शक्ति कमजोर हुई है?**

देखिए, इसमें कई तरह की अन्तरधाराएँ हैं। हमारी पीढ़ी की कविता बहुत राजनीतिक है और वो विपक्ष की भूमिका निभाती आई है। इसका एक प्रमाण तो यह है कि बाबरी मस्जिद का जब विध्वंस हुआ तो उस पर हिन्दी में इतनी कविताएँ लिखी गयीं

जितनी शायद किसी और भाषा में नहीं लिखी गयीं। इसी तरह जो राजनीतिक घटनाएँ हैं उन पर बहुत लिखा गया। हमारे देश की जो जनविरोधी राजनीति है, उसके खिलाफ बहुत लिखा गया। आप रघुवीर सहाय को लीजिए। रघुवीर सहाय एक बड़े राजनैतिक कवि हैं। इसी तरह नागार्जुन लोकतन्त्र के संकटों के बड़े कवि हैं। वे ग्रामीण समाज की विडम्बनाओं के बड़े कवि हैं। अगर आप नयी पीढ़ी को लें तो यह कहा जा रहा है कि नई पीढ़ी की कविता थोड़ी कम राजनीतिक है, । लेकिन इसके बाद जो दलित और आदिवासी विमर्श से जुड़ी हुई कविताएँ आई हैं, उनमें राजनीतिक चेतना बहुत अधिक है, क्योंकि वे सीधे अनुभव से आई हैं। हो सकता है कि उनके पीछे कोई वैचारिक दर्शन न हो, लेकिन वो सीधे अनुभव से आयी हैं। वो त्रासदी, वो पीड़ा, 'वो यातना, वो सन्त्रास कवियों ने महसूस किया है। यानी सीधा वह समाज और उस समाज का संघर्ष कविताओं में दर्ज हो रहा है। तो इससे काफ़ी उम्मीद है।

**आप पत्रकारिता से भी जुड़े रहे हैं। पत्रकारिता का आपकी कविता पर क्या प्रभाव पड़ा?**

पत्रकारिता ने मेरी राजनीतिक चेतना को विकसित करने में मदद की। मुझे अपने समय से जुड़ना सिखाया। मुझे एक अच्छी भाषा की समझ दी ताकि मैं अच्छी भाषा लिख सकूँ, जिसकी कमी आज की पत्रकारिता में बहुत पाई जाती है। अगर मैं पत्रकार न होता तो किसी और तरह की कविता लिखता, लेकिन तब मैं वैसी कविता नहीं लिख पाता जैसी पत्रकारिता में रहते हुए लिख पाया। रघुवीर सहाय तो पत्रकारिता और साहित्य को लगभग एक ही मानते थे। उनका कहना था कि दोनों का काम समाज में यह देखना है कि किसी एक घटना से क्या मानवीय सम्बन्ध बना।

**यह सही है कि हिन्दूवादी ताकतों द्वारा अभिव्यक्ति की आजादी पर हमले और ऐसी घटनाओं पर साहित्य अकादमी की चुप्पी के विरोध में आपने साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाया है, लेकिन क्या पुरस्कार लौटाना ही प्रतिरोध का एकमात्र रास्ता है?**

एकमात्र रास्ता तो बिल्कुल भी नहीं है। प्रतिरोध के बहुत-से रास्ते हैं। प्रतिरोध का पहला रास्ता तो लिखना ही है। लेखन से बड़ा प्रतिरोध कोई और नहीं है। मुझे लगता है कि आज लेखन में ही प्रतिरोध बचा हुआ है। आज जब दूसरी कलाएँ प्रतिरोध नहीं कर पा रही हैं या बाजार के सामने, अमेरिकीकरण के सामने, व्यवस्था के सामने, भूमंडलीकरण के सामने घुटने टेक रही हैं, ऐसे में कविता ही एक ऐसी विधा के रूप में बची हुई है, जिसमें प्रतिरोध जारी है। मैंने कई कारणों से साहित्य अकादमी पुरस्कार लौटाया है। आज साम्प्रदायिकता बढ़ रही है। असहिष्णुता बढ़ रही है। अल्पसंख्यकों के प्रति घृणा फैलाई जा रही है। उनको हिंसा और बाहुबल के आधार पर खामोश किया जा रहा है। अभिव्यक्ति की आजादी का काफ़ी दमन हो रहा है। कई किताबों को वापस लिया गया है। उन पर प्रतिबन्ध लगवाए गए हैं। जरा-सी आलोचना करने पर लेखकों को धमकाया गया है। इस तरह का माहौल हमारे देश में पहले कभी नहीं था। वैचारिक असहमति रखने वाले व्यक्तियों को या तो चुप करा दिया जाता है या उनको मार दिया जाता है। ऐसे माहौल में साहित्य अकादमी की चुप्पी से लेखक आहत हुए। उनमें से मैं भी था और मैंने भी उन्हीं की तरह अपना पुरस्कार वापस किया। यह अकेला तरीका नहीं है, लेकिन कभी-कभी ऐसे तरीके ज़रूरी हो जाते हैं। इसके अलावा शायद और भी प्रतिरोध करना ज़रूरी है। हमारे समय में राजनीति से निरपेक्ष रहना लेखक के लिए सम्भव नहीं है। राजनीति हमारे समय की बहुत बड़ी सच्चाई और ताकत है। हम अगर न भी चाहें तो भी वो साहित्य में प्रवेश करती है। सच बात तो यह है कि राजनीति को राजनीतिक दलों के भरोसे छोड़ देना बहुत ही खतरनाक है। इसके बहुत ही घातक परिणाम होते हैं।

**मंगलेश जी! हिन्दी समाज की सांस्कृतिक दरिद्रता का क्या कारण मानते हैं?**

देखिए, इस प्रश्न का भी कोई एक जवाब सम्भव नहीं है। मुझे लगता है कि एक बहुत बड़ा कारण हिन्दी समाज की निरक्षरता है। यह निरक्षरता निश्चित रूप से निर्धनता से पैदा हुई है। हिन्दी समाज मूल रूप से गरीब समाज है। निर्धनों का समाज है, लेकिन यह समस्या जानबूझकर भी पैदा की गयी है। यह हमारी व्यवस्था के द्वारा भी पैदा की गयी है, जो नहीं चाहती है कि लोग साक्षर बने, पढ़ें-लिखें और अपनी चेतना को विकसित करें। यह उसी तरह है जिस तरह टिहरी गढ़वाल में, जहाँ का मैं रहनेवाला हूँ, वहाँ का राजा किसी को भी आठवीं कक्षा से आगे नहीं पढ़ने देता था। उसे यह डर था कि अगर लोग ज्यादा पढ़ लेंगे तो मेरे खिलाफ बगावत हो सकती है। दूसरी भाषा में यह स्थिति नहीं है। बांग्ला में नहीं है, मलयालम में नहीं है, मराठी में भी उतनी नहीं है। मलयालम में तो मुझे लगता है कि सबसे अधिक साक्षरता है। कई जिलों में तो सौ फीसद लोग साक्षर है। हमारे यहाँ आधुनिक विचार बहुत कम आया है। सामन्ती जकड़न बहुत रही है। सामन्ती दमन बहुत रहा है। एक बड़ा कारण तो यह है। दूसरा कारण यह है कि हमारे सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के साधन बहुत भ्रष्ट हैं। उनमें अपने समय के साहित्य को, अपने समय की कला को, अपने समय के संगीत को, अपने समय के रंगमंच को समाज तक पहुँचाने की कोई इच्छा नहीं है। मसलन हमारे जितने टीवी चैनल हैं, उनमें साहित्य के नाम पर कुछ भी नहीं है। सिर्फ़ सरकारी टीवी पर कभी-कभी कुछ आ जाता है। इसका तर्क यह दिया जाता है कि पहले गरीबों को रोटी मिले, लेकिन उनको रोटी और अक्षर दोनों की ज़रूरत एक साथ है।

मो.: 09917901212

*साहित्य के क्षेत्र में कवि, अनुवादक रतन चौहान कोई नया नाम नहीं है। हाल ही में जयशंकर प्रसाद की कृति कामायनी का अँग्रेज़ी में अनुवाद कर वे चर्चा में हैं। कला की दृष्टि से कामायनी को छायावादी काव्यकला का सर्वोत्तम प्रतीक माना जा सकता है। 15 सर्गों के इस महाकाव्य में मानव-मन की वृत्तियों का कथानक के पात्र के रूप में अवतरण इसकी विशेषता है। इस अद्भुत महाकाव्य को अनूदित करते हुए रतन चौहान ने क्या महसूस किया और उन्हें किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा, उनके इन्हीं अनुभवों को इस साक्षात्कार के रूप में आपके साथ साझा किया है विक्रान्त भट्ट ने।*

# 'अनुवाद तभी सार्थक होगा जब मूलभाषा के समकक्ष आपका शब्द हो'

## अनुवादक रतन चौहान से जयशंकर प्रसाद की कामायनी के अँग्रेज़ी अनुवाद पर बातचीत

**जयशंकर प्रसाद ने कामायनी की पहली टीका कब लिखी, इसका प्रकाशन किस तरह हुआ इस पर प्रकाश डालें।**

महाकवि जयशंकर प्रसाद की मूल चिन्ता रही कि सबसे पहले कामायनी का प्रणयन पूर्ण हो जाए। इसका कारण यह था कि वे यक्ष्मा जैसे असाध्य रोग से पीड़ित थे और प्रतिदिन मृत्यु की दिशा में अग्रसर हो रहे थे। उन्होंने अपने चिकित्सक से कहा था कि कम से कम इतना जीवन आप अवश्य दें कि मैं अपनी आँखों के सामने कामायनी का प्रकाशन देख सकूँ। टीका उनके लिए महत्त्वपूर्ण नहीं थी। प्रसाद कामायनी के रचयिता थे, वे टीकाकार नहीं थे। कामायनी अपने आप में ही संपूर्ण जीवन का, जीवन के विभिन्न अंगों की महत्त्वपूर्ण टीका है। वह काव्यमयी टीका है। वह महाकाव्य के धरातल पर प्रारूपित जीवन की विसंगतियों पर, विद्रूपताओं पर, जीवन के सार्थक मूल्यों पर और जीवन की नयी दृष्टि पर प्रत्येक की टीका है।

**कामायनी में कितने सर्ग हैं और ये सर्ग किस विषय पर केन्द्रित हैं। विस्तार से बताएँ।**

जैसा मैंने आपको बताया कि महाकवि ने कामायनी को महाकाव्य स्तर के ऊपर प्रारूपित किया है। महाकाव्य की परम्परा में इसमें विभिन्न सर्ग हैं। कुल मिलाकर 15 सर्ग हैं। चिन्ता सर्ग प्रथम सर्ग है और कामायनी कि इति आनन्द सर्ग से होती है। चिन्ता, आशा, श्रद्धा, काम, वासना, लज्जा, ईर्ष्या, कर्म, स्वप्न, संघर्ष, रहस्य, दर्शन, आनन्द इस तरह से सर्गों की रचना हुई है।

**कामायनी की मूल आत्मा क्या है।**

कामायनी की मूल आत्मा ही मनुष्यता की चिन्ता है। मनुष्यता, मानवीय मूल्यों का जो पराभव होता है, प्रत्येक कवि की चिन्ता यह होती है कि पराभव और विघटन की

स्थितियों में वह उस दर्शन को लेकर आए जो मनुष्य को निराशा के गर्त से निकालकर जीवन की ओर उन्मुख करे, और न केवल उन्मुख करे, जीवन के उन्नयन की ओर उन्मुख करे। उन्नयन से कदापि यह तात्पर्य नहीं है कि केवल वह भौतिक प्रगति करे। कामायनी की पृष्ठभूमि में हम सबको विदित है कि जल प्लावन है। देव संस्कृति अपने वैभव के लिए अपनी विलासिता के लिए प्रख्यात थी। किन्तु इसी वैभव ने, विलासिता ने, मूल्यों के पराभव ने, स्त्री की अवमानना ने, क्योंकि उन्होंने स्त्री को केवल विलासिता की वस्तु समझा, उनकी मृत्यु को, उनके पराभव को आमन्त्रित किया। हम कह सकते हैं कि जो आधिभौतिक शक्तियाँ थीं उन आधिभौतिक शक्तियों ने देवों को दंडित करने के लिए देव संस्कृति को निर्मूल कर दिया था। देव संस्कृति के एक ही प्रतिनिधि बचे थे वे मनुष्यता के प्रथम पिता बने मनु, कामायनी भी थी। कामायनी का शाब्दिक अर्थ होता है काम का आवास। कामायनी का जो चित्रांकन हुआ है वो विलासिता की देवी के रूप में नहीं हुआ है वह अपार सौन्दर्यशालिनी है पर साथ में उसमें ममत्व है, करूणा है, कामायनी ही जिसे श्रद्धा भी कहा गया है। कामायनी ही मनु को करूणा, प्रेम, के मार्ग पर प्रशस्त करती है। कामायनी के दो रूप हैं— कामायनी और श्रद्धा। हम उस तरह से ले सकते हैं इसको कि मनु को मन का प्रतीक कहा गया है पर श्रद्धा है मन और बुद्धि। इसमें एक द्वन्द्व चलता है— ज्ञान का, कर्म का, इच्छा का। कवि ये रेखांकित करना चाहता है कि आधुनिक भौतिक संसार में ये तीनों इच्छाएँ अलग हैं। मनुष्य का कर्म अलग है। ज्ञान की दिशा अलग है। इनमें समन्वय का अभाव है। ये समन्वय स्थापित नहीं होगा जब तक कि पुरुष तत्त्व और नारी की करूणा में सामंजस्य नहीं होगा। केवल पुरुष तत्त्व प्रधान रहेगा तो समाज में हिंसक घटनाएँ घटित होंगी। मनुष्य पाश्विकता की ओर प्रवृत्त होगा। परन्तु जब कामायनी का संस्पर्श होता है, श्रद्धा का संस्पर्श होता है, करूणा का संस्पर्श होता है तो मनुष्य का वंशकार बनता है। और एक सम्पूर्ण मनुष्य बन जाता है। केवल पुरुष सम्पूर्ण मनुष्य नहीं होता है। पुरुष और स्त्री दोनों से मिलकर मनुष्यता का चक्र पूर्ण होता है। तभी सृष्टि का चक्र पूर्ण होता है।

**तो क्या प्रसाद जी ने कामायनी के माध्यम से उस दौर में स्त्री विमर्श की बात की थी।**

न केवल कामायनी के माध्यम से कही थी, हम सभी जानते हैं कि महाकवि जयशंकर प्रसाद केवल कवि ही नहीं बल्कि प्रख्यात नाटककार भी थे। उन्होंने ध्रुवस्वामिनी जैसी रचना लिखी और ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने स्त्री की अस्मिता का प्रश्न उठाया है। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त का इसलिए बहिष्कार करती है कि रामगुप्त क्लीव था। वह उसका परित्याग कर देती है। हम यदि महाकवि प्रसाद के विकास को देखते हैं, नाट्यशिल्पी के विकास को देखते हैं, कवि के विकास को देखते हैं, तो हमें सदैव नव जागरण की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए। भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए। क्योंकि प्रसाद का काल जो है वो 20 और 30 के दशक का है 20वीं शताब्दी का। जब भारत जागरण की स्थिति में था। स्वाधीनता का स्वर भारत में उठ रहा था। स्त्री की स्वाधीनता का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण हो गया था। एक कवि अपने समय के सत्य को उद्घाटित करता है। वह कभी भी उससे अलग नहीं हो सकता। प्रसाद अपना वह दायित्व बहुत सुन्दरता से काव्य के धरातल पर, कहानीकार के धरातल पर और औपन्यासिक कृतियों के रचयिता के धरातल पर निर्वाह कर रहे थे।

**पूर्व में कामायनी का कितनी भाषाओं में अनुवाद हुआ है।**

कामायनी का अँग्रेज़ी भाषा में रूपान्तर हुआ है और भारत की अन्य भाषाओं में भी हुआ है। पर मुख्य रूप से अँग्रेजी भाषा में ही इसका रूपान्तर हुआ है। इसका कारण सम्भवत: यह था कि कामायनी हिन्दी के छायावाद का शिखर है। वह अप्रतिम रचना है। जब हम छायावाद की बात करते हैं तो हम प्रसाद की बात करते हैं, हम निराला की बात करते हैं, महादेवी की बात करते हैं जो छायावादी काव्य के शिखर थे। छायावाद को ऐसे परिभाषित किया गया है कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह, सरल सा अर्थ ये है कि जो छायावादी पूर्व के रचनाकार थे मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध और पूर्व में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र। इन सबने और मुख्य रूप से मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध जैसे रचनाकारों ने काव्य रचना या काव्य भाषा का निर्माण तो किया, पर उसका जो अप्रतिम सौन्दर्य था उसका जो भाव सौन्दर्य, था उसका जो अर्थ सौन्दर्य था उस अर्थ सौन्दर्य को उद्घाटित करने का श्रेय यदि किसी को जाता है तो वह प्रसाद को जाता है, वह निराला को जाता है, वह महादेवी वर्मा को जाता है। तो छायावाद अपने आप में अर्थ के गाम्भीर्य को लेकर, भाव के सौन्दर्य को लेकर, कल्पना के वैभव को लेकर निरन्तर अग्रसर हो रहा है। ऐसी दिशा में सामान्य पाठक के लिए यहाँ तक कि स्नातकोत्तर विद्यार्थियों के लिए कामायनी का अध्ययन निश्चित रूप से प्रश्न खड़े करता है। और इन्हीं प्रश्नों का समाधान करने के लिए डॉ. रामविलास शर्मा, मुक्तिबोध, शंभूनाथ, चंचल चौहान जैसे रचनाकारों ने कामायनी को लेकर विभिन्न व्याख्याएँ लिखी हैं। तो जब तक कि कोई भाष्यकार नहीं होता है कामायनी के अर्थ सौन्दर्य तक पहुँचना सम्भव नहीं होता है। इसलिए कम ही लेखकों ने रूपान्तर की चुनौती को स्वीकार किया है।

**आप तो अँग्रेज़ी साहित्य के अध्येता रहे हैं, आपको कामायनी के अँग्रेजी अनुवाद की ज़रूरत क्यों महसूस हुई।**

निश्चित रूप से मैं अँग्रेजी साहित्य का छात्र रहा हूँ पर साथ ही मैं हिन्दी भाषा का भी छात्र रहा हूँ और हिन्दी साहित्य का अध्येता हूँ।

हिन्दी के सृजनात्मक कर्म से सम्बद्ध भी हूँ। अँग्रेजी के सृजनात्मक कर्म से सम्बद्ध हूँ। मुझे इसलिए कामायनी के रूपान्तर की प्रेरणा प्राप्त हुई या इस तरह प्रेरित हुआ कि इसका अनुपम सौन्दर्य, भाषिक सौन्दर्य, भाव सौन्दर्य, कल्पना का वैभव मन को आन्दोलित करता है। साहित्य के छात्र के लिए भाषा का कोई बन्धन नहीं होता है, जहाँ भी उसे साहित्य के अनन्त स्रोत प्राप्त होते हैं या निर्झर जहाँ फूटते हैं वह अपनी तृषा को तृप्त करने के लिए चला जाता है। पर इसके रूपान्तर के पीछे मेरा एक उद्देश्य यह भी है कि कामायनी का अध्ययन, पुन: अध्ययन, उसके सौन्दर्य में स्वयं को स्नात करना, मन का उगाहन, समृद्ध होना और साथ में भारतीय संस्कृति और मनुष्यता के मूल्यों से सम्बद्ध होना; तो उसके पीछे भाव यह था कि जब यह अँग्रेजी में रूपान्तरित होगी तो जो अँग्रेज़ी भाषी होंगे, हिन्दी भाषी भी जो अँग्रेज़ी भाषी है और जैसा निवेदन किया है कि हिन्दी भाषियों के लिए भी दुष्कर रचना है और अँग्रेज़ी भाषा के प्रति वे जिज्ञासु हैं तो वे अँग्रेज़ी भाषा के आस्वाद के लिए अँग्रेज़ी भाषा में पढ़ेंगे, और अँग्रेज़ी से पुन: कामायनी की और लौटेंगे। मेरी इच्छा और मेरे केन्द्र में कामायनी में जैसा जयशंकर प्रसाद ने उसका प्रणयन किया है; पाठक, लेखक रचयिता, नियोजन कामायनी का बार-बार पाठ करें। जैसा मैंने अपनी पृष्ठभूमि में लिखा है कि अनुवाद या कोई भी रूपान्तर एक तरह की पुर्न: खोज होता है। पुन: अन्वेषण होता है। वह सौन्दर्य का अन्वेषण होता है। तो वह उस भाषा के माध्यम से पुन: उसका पाठ करें। पुन: हिन्दी पढ़ें। पुन: अँग्रेज़ी में आएँ और इस प्रक्रिया से वे समृद्ध होंगे। और जैसा कि कोई भी अनुवादक समृद्ध होता है, मैं इस लोभ का संवरण नहीं कर सका कि क्यों नहीं भारत के इस अदभुत महाकाव्य के सौन्दर्य में स्वयं को स्नात करूँ।

**कामायनी भावनाओं के घटाटोप का महाकाव्य है। आपको इसके अनुवाद में उन्हीं भावनाओं को बरकरार रखने के लिए किन चुनौतियों का सामना करना पड़ा।**

निश्चित रूप से मैंने कामायनी के रूपान्तर की सर्वप्रथम कोशिश लगभग 50 वर्ष पूर्व की थी। मैं एम.ए. उतरार्द्ध का छात्र था और जब अपने अध्यापकीय जीवन में प्रवेश कर रहा था तब मैंने कामायनी के रूपान्तर का प्रयास किया। मैं छायावादी काव्य-सौन्दर्य से प्रभावित था। अँग्रेज़ी भाषा का छात्र था और अँग्रेज़ी के स्वच्छन्दतावाद से भी मैं गहरा सम्बद्ध था— तो इनसे प्रेरित होकर मैंने आज से लगभग 50 वर्ष पूर्व कामायनी का रूपान्तर प्रारम्भ किया। और मैंने उसको पूर्ण भी कर लिया। किन्तु वह केवल एक युवा का उत्साह था। तब मेरे पास वो दृष्टि नहीं थी कि उसके अर्थ सौन्दर्य और उसकी विराट कल्पना को मैं समझ सकूँ। मुझमें इतना विवेक नहीं था। वर्षों बाद मैंने डॉ. रामविलास शर्मा, शंभूनाथ, चंचल चौहान को पढ़ा। इन लेखकों को पढ़ने के बाद मैंने कामायनी का पुन: अनुवाद करने का मन बनाया। इसको प्रत्येक दिशा से समझने के लिए डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना का भाष्य पढ़ा। मैं कामायनी को पढ़ता कामायनी का छन्द पढ़ता, उसके बाद डॉ. सक्सेना का भाष्य पढ़ता, प्रत्येक अर्थ को समझता, शब्द को समझता, अर्थ के स्तर को समझता अर्थ के प्रतीकों को समझता, जो मिथकीय सौन्दर्य है उसको समझता, प्रतीकों को समझता और इन सबके बाद मैं कोशिश करता कि मैं मूल रचना के साथ न्याय कर सकूँ। इसके लिए मैं प्रयास करता। यहाँ निवेदन करना चाहता हूँ कि मैंने अपने रूपान्तर में यह प्रयास किया है। क्योंकि मैं अँग्रेज़ी का छात्र हूँ और हिन्दी भाषा का भी छात्र हूँ, मैंने यह कोशिश की है। क्योंकि यह भारत की रचना है। भारतीय संस्कृति को उद्घाटित करती है। इसमें वैदिक कालीन पृष्ठभूमि है। मनु है, कामायनी है, इडा है असुर है जो पुरोहित के रूप में आते हैं और भारतीय संस्कृति के मूल्य है। तो मैंने यह कोशिश की है कि कहीं भी रूपान्तर में यूनानी, पुरानी कथाओं या शेक्सपीयर, मिल्टन, या अँग्रेज़ी काव्य के छायावादी कवियों की छाप न दिखाई दें। मैं अपने धरातल पर भाषा में रूपान्तर तो नहीं कर सकता था। जब अँग्रेज़ी भाषा की बात करेंगे तो शेक्सपीयर है और आगे जाएँगे तो कही न कहीं उस पर यूनानी साहित्य का प्रभाव है पर कोशिश मेरी यह रही है कि हमको भारत का सदैव स्मरण रहे, उसकी संस्कृति का सदैव स्मरण रहे। अँग्रेज़ी का पाठक भी कभी यह अनुभव नहीं करे कि यह जो शब्द आया है रूपान्तर का, किट्स ने इसे अपनी कविता में उपयोग किया है या शेक्सपीयर ने अपने इस नाटक में उपयोग किया है या ग्रीक माइथोलॉजी की बात की गयी है। द्य कोशिश में, मैं कितना सफल हुआ ये अलग बात है।

**कामायनी एक ऐसा छन्द है जिसमें लय है, तुक है, रिद्म है तो अँग्रेज़ी में अनुवाद करते समय आप इसे बरकरार रख पाने में कितना सफल मानते हैं।**

कामायनी में जैसा निवेदन किया 15 सर्ग हैं, पर प्रसाद ने इतने विराट स्तर पर उसका संयोजन किया है, प्रारूपित किया है कि विभिन्न सर्गों में उनका छन्द-विधान भी बदला है। उदाहरण के रूप में इडा सर्ग का छन्द-विधान अलग है कर्म का अलग है और दर्शन का अलग है। प्रसाद छन्द-विधान बदलते रहे हैं। निश्चित रूप से प्रसाद ने कामायनी में लय के साथ-साथ तुक का भी निर्वाह किया है। मेरी प्राथमिकता भी लय की प्राथमिकता रही है कि लय कभी आहत न हो। कहीं ऐसा न हो की तुक के अन्वेषण में तुक की खोज में मैं उसकी लय को, अर्थ की लय को, काव्य की लय को बाधित करूँ। मेरी कोशिश रही कि जैसा कि कामायनी में तुक का निर्वाह किया गया है लगभग 99 प्रतिशत छन्दों में मैंने तुक का निर्वाह किया है, पर मैंने निवेदन किया है कि तुक मेरी प्राथमिकता नहीं रही है। अर्थ की लय, काव्य की लय मेरी प्राथमिकता रही है। कृत्रिम या आप कहेंगे कहीं से उठाकर लाकर तुक रचित करना ये मेरा लक्ष्य कदापि नहीं रहा है। किसी भी

रचनाकार का ये लक्ष्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि हमारे जो लेखकीय मित्र हैं और जो श्रेष्ठ रचनाकार हैं सदैव इस बात को उद्घाटित करते रहे है कि काव्य में लय प्रमुख होती है। मैंने भी उसे निरन्तर रखने का प्रयास किया है।

**अनुवाद की भाषा तो संचित है तो क्या आपको अनुवाद के दौरान शब्दकोश का सहारा भी लेना पड़ा।**

अँग्रेज़ी मेरी भाषा नहीं है, यदि हम उसको जन भाषा में कहें तो वो सात समन्दर पार की भाषा है। यहाँ तक कि हम अँग्रेज़ी के इंटोनेशन को भी उस तरह से नहीं समझते हैं। जो भी हम अँग्रेज़ी पढ़ते हैं, वह अँग्रेज़ी हमने अपनी पुस्तकों से, अपने अध्ययन से ग्रहण की है। हम यदि उसको बोलचाल की भाषा में कहें हमने उसको एक्वायर किया है। मैंने एक नहीं मेरे पास जितने महत्त्वपूर्ण उपलब्धतः शब्दकोश थे, प्रत्येक पद में, प्रत्येक शब्द के धरातल पर उनका सहयोग लिया, बिना शब्दकोश के मैं आगे नहीं बढ़ सकता था। मैंने हिन्दी के शब्दों को नालन्दा हिन्दी कोष और अँग्रेज़ी के लिए हार्न बी, आक्सफोर्ड डिक्शनरी, फादर कामिल बुल्के की डिक्शनरी को देखता रहा। मैं पाठक जी के हिन्दी और अँग्रेज़ी शब्दकोश को देखता रहा, क्योंकि शब्द की तलाश होती है। रचना के धरातल पर भी एक असम्भव-सी तलाश होती है। सार्थक शब्द का मिलना ही कविता का या रचना का सार्थक होना है। रूपान्तर तभी सार्थक होगा जब मूल भाषा के समकक्ष आपका शब्द होगा। और वह उतना ही अर्थ प्रधान हो, सौन्दर्य प्रधान हो, जितना कि मूलभाषा का शब्द है। क्योंकि हिन्दी की प्रकृति अलग है और अँग्रेज़ी की प्रकृति अलग है। तो यह आवश्यक नहीं कि जो हिन्दी का शब्द है अँग्रेज़ी में वह उस सौन्दर्य के साथ उपलब्ध हो। उदाहरण के रूप में ऋतुपति के घर उत्सव था... प्रसाद लिखते हैं तो अब ऋतुपति के लिए वसन्त के लिए अँग्रेज़ी में शब्द स्प्रिंग है, ब्लूम है। आर्नल्ड अपनी एक कविता में कहते हैं द ब्लूम इज गोन....। वसन्त चला, वसन्त के साथ मैं भी चला, कोकिल कह रहा है, तो वसन्त के लिए ब्लूम है, स्प्रिंग है। इज विंटर कम इज स्प्रिंग बिहांइड, लिखते हैं अपनी रचना में। पर कहीं भी ऋतुपति नहीं है। तो आपको उसी धरातल पर रहने के लिए यदि आपके रूपान्तर में लार्ड ऑफ द सीजन्स आता है तो हम उसका उपयोग करेंगे। क्योंकि वह उद्घटित करेगा, तो ये एक अपने आप में बड़ा सुखद अनुभव था। निश्चित रूप से ये निरन्तर हो सकता है कि आपको एक शब्द के लिए एक प्रतीक्षा करना पड़े। आप प्रतीक्षा करें शब्द और उसकी मूल आत्मा से कभी विलग न हों, शब्द आ जाएगा। एक और निवेदन करूँगा। ये तो भाषाविद् जानते हैं किन्तु हिन्दी और अँग्रेज़ी लैटिन, फ्रेंच, जर्मन ये सब भाषाएँ भारोपीय परिवार की भाषा हैं तो जो मूल शब्दों का एक सामीप्य और एक साम्य होता है, वह आपका सहायक हो जाता है। उदाहरण के लिए अग्नि है तो ग्निस है, पितृ है तो अँग्रेज़ी में पैटर है। मातृ है तो मदर है मैटरनल है; कंचुकी है तो कारसेट है। ये जो साम्य है, ये सामीप्य है, तो कई बार ये सामीप्य आपको सहायता करता है, और इस तरह से आपको शब्द प्राप्त हो जाता है।

**अनुवाद साहित्य की पुनर्रचना कहा जाता है। आपको क्या लगता है कि आप कामायनी के अनुवाद में कितने सफल रहे।**

रूपान्तर को लेकर अलग-अलग प्रश्न हैं, अलग-अलग दृष्टिकोण है। पुनर्रचना का जब प्रश्न उठता है तो एक रूपान्तर के रूप में मेरी स्वयं से यह अपेक्षा रही है कि मैं कभी भी मूल रचना के कथ्य, उसके भाव सौन्दर्य से, अर्थ सौन्दर्य से, विलग ना हो जाऊँ। जिसको हम अँग्रेज़ी में अथेंटिसिटी कहते हैं। मेरा सदैव इस बात के लिए आग्रह रहा, वह रहा है अंथेटिसिटी। मूल की आत्मा आहत नहीं होना चाहिए, हम कहीं पुनर्रचना में मूल से ही विलग न हो जाए। नहीं तो लगेगा कि यह कामायनी नहीं है। निश्चित रूप अनुवाद उसके भाषिक कलेवर में रूपान्तर होना है, क्योंकि वह हिन्दी भाषा में है, और अँग्रेज़ी भाषा में हो तो वह रूपान्तर तो है। रूपान्तरकार भी एक सृजनात्मक लेखक होता है वह सृजन है, वह पुनर्रचना होती है। मैं ये बार-बार निवेदन कर रहा हूँ कि पुनर्रचना का अर्थ कदापि यह नहीं हो कि आप मूल से विलग हो जाए। आपकी रचना नहीं है वह। मूल रचना जयशंकर प्रसाद की है। जयशंकर प्रसाद के काव्य की आत्मा आहत न हो, यह आपकी प्राथमिकता होना चाहिए, और मैंने इस बात को केन्द्र में रखा है।

**चूँकि कामायनी एक महाकाव्य है और इसमें 15 सर्ग हैं। इसके अनुवाद में आपको कितना समय लगा।**

जैसा मैंने आपसे निवेदन किया है कि लगभग 50 वर्ष पूर्व मैंने इसके अनुवाद को पूर्ण किया था, पर जब 50 वर्ष पश्चात मैंने उस पर दृष्टिपात किया तो वह केवल एक उत्साह था, पर उसने मुझे एक सहायता की कि वह कम से कम एक पगडंडी थी। यदि वह पगडंडी नहीं होती तो शायद मैं कामायनी महाकाव्य के राजमार्ग पर प्रवृत्त न होता। मैंने 50 वर्ष पश्चात अर्थात् अभी सन 2014-15 में कामायनी के रूपान्तर की योजना निर्मित की और इसमें मुझे 18 मास का समय लगा और ये आप सब की शुभकामनाओं से पूर्ण हो गयी।

**आपके द्वारा रूपान्तरित कामायनी का अँग्रेज़ी अनुवाद कहाँ से प्रकाशित हो रहा है।**

कामायनी का प्रकाशन जैसा कि मैं चाहता हूँ द्विभाषी हो। वह हिन्दी के साथ और अँग्रेज़ी में भी हो। जिसको हम बाईलिंगुअल कहते हैं। उसके पीछे उद्देश्य ये है कि उसका पाठक वर्ग बढ़े। वह केवल अँग्रेज़ी में प्रकाशित होती, तो हम सब जानते हैं कि

हमारे यहाँ अँग्रेज़ी भाषी, पाठकों की संख्या सीमित है। औपन्यासिक कृतियों की अधिक हो सकती है, कथा साहित्य का प्रश्न है और जहाँ तक कामायनी जैसे महाकाव्य का प्रश्न है वह अत्यल्प है। इस दृष्टि से मैंने उसका अँग्रेज़ी में रूपान्तर किया है और वह शीघ्र ही प्रकाशित होकर आपके समक्ष होगी।

**क्या आपको लगता है कि इसकी लोगों तक पहुँच होगी और स्वागत होगा।**

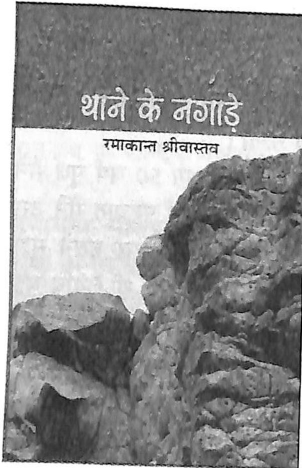
आपका प्रश्न रोचक है, पर मैंने यह निवेदन किया है कि यह केवल अँग्रेज़ी में नहीं है उसके साथ तो मूल कामायनी चल रही है। मेरी प्राथमिकता तो है कि मूल रचना का पाठक अधिकाधिक आस्वाद ले। मेरी चिन्ता यह नहीं है कि उसका अँग्रेज़ी में स्वागत हो। मेरी मूल चिन्ता ये है कि महाकाव्य का पाठक आस्वाद ले। ये आवश्यक नहीं कि जब मूल पुस्तक या अनुवाद उनके हाथ में जाए वे बाध्य नहीं कि वे रूपान्तर पढ़ने के लिए बाध्य हों पर वो अँग्रेज़ी देखेंगे और कामायनी के कुछ जिज्ञासु पाठक होंगे वे जिज्ञासावश देखेंगे कि देखें रूपान्तर कैसा हुआ है। तो वे रूपान्तर को पढ़ेंगे फिर मूल को लौटेंगे। इस तरह यह केवल एक मैथड डिवाइस है। अनुवाद केवल एक तरह मैथड या डिवाइस है, एक उपाय है या एक तरह की टेक्नीक है कि किसी तरह से वह मूल की ओर लौटे, तो अँग्रेज़ी के स्वागत की मुझे चिन्ता नहीं है।

**कामायनी के बाद आपकी क्या योजना है।**

हाँ, निश्चित रूप से जैसा आप मित्र जानते हैं, मैंने हिन्दी के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण कवियों के रूपान्तर किए हैं। नागार्जुन से लेकर राजेश जोशी तक के अनुवाद मैंने किए हैं। और इसके ठीक बाद मेरा यह कार्य चल रहा है। मैंने जयशंकर प्रसाद से उनकी रचना, 'बीती विभावरी जाग री' से लेकर जो समकालीन कवि हैं हमारे यहाँ के मित्र आशीष दशोत्तर तक की रचना का भी समावेश हो तो ये मेरी योजना है इसके साथ ही दूसरी योजना ये है। जिस पर मैं कार्य कर रहा हूँ कि न केवल अँग्रेज़ी, न केवल अमेरिकी, अफ्रीकी, और भी विश्व के अन्य देशों के रचनाकारों का हिन्दी अनुवाद पाठक मित्रों तक पहुँचे। इस दिशा में भी मैं कार्य कर रहा हूँ। मेरा एक अनुवाद का संग्रह पूर्व में प्रकाशित हो चुका है काव्याकाश के नाम से है। इसमें पश्चिम के रचनाकार थे। अमेरिकी रचनाकार थे। अफ्रीकी रचनाकार थे।

**E-mail : bhatt.vikrant16@gmail.com**

## ज्ञानपीठ— नये प्रकाशन




**मूल्य : 170 रुपये**

### थाने के नगाड़े (कहानी-संग्रह) : रमाकान्त श्रीवास्तव

रमाकान्त श्रीवास्तव की कहानियों को पढ़ना एक सुलझे हुए जानकार आत्मीय के साथ आसपास की घटनाओं, स्थितियों और व्यक्तियों को समझना है। रमाकान्त श्रीवास्तव को जीवन आचरण के सौन्दर्य की गहरी पहचान है। उनके पास संगीत एवं कलाओं के सौन्दर्य बोध के संस्कार ही नहीं, वे घटनाओं और व्यक्तियों को देखने की अन्तर्भेदी दृष्टि भी रखते हैं। वे घटना खंडों, चेष्टाओं को परस्पर मिलाकर प्रवृत्तियों, चरित्रों का संधान करते हैं और उसे नाटकीयता में साक्षात कर सकते हैं। वे उन प्रगतिशील रचनाकारों में से नहीं हैं जो सैद्धान्तिक समीकरणों को लेखन में उतारने को इतने आतुर होते हैं कि रचनाएँ इकहरी हो जाती हैं। रमाकान्त एक घटना-स्थिति को अगली घटना स्थिति से स्वाभाविक ढंग से सटाते हैं। इससे कहानी की गति स्वतन्त्र होकर आगे बढ़ती है। रचना छोटे-छोटे विवरण, चित्रण खंडों (डिटेल्स) का पुंज होती है। इन विवरण चित्रण-खंडों में दरार नहीं होती। वे एक अखंड, समूची वस्तु लगते हैं। इसके लिए लाज़िम है कि हर आगामी विवरण-चित्र या वक्तव्य पूर्ववर्ती का परिणाम लगे। रचना में गति स्थितियों के द्वन्द्व से हो। रमाकान्त श्रीवास्तव का जीवन पर्यवेक्षण स्पृहणीय है। वे इस विषय में अमरकान्त और हृदयेश के सहचर हैं जो प्रभावशाली क्लोज अप दे सकते हैं। रमाकान्त श्रीवास्तव के शिल्प में व्यंग्य-विनोद प्रायः सर्वत्र विद्यमान है। ऐसा व्यंग्य समझ का ही एक तेवर है। पाखंड, असामाजिकता, स्वार्थ, ओछापन बहुत प्रच्छन्न हैं। उदारता, सामाजिकता, देशभक्ति मानवता के छद्म ने उसे ढँक रखा है, लेकिन समझदार आदमी सब समझ लेता है। वह प्रायः कुछ कर नहीं सकता। पाखंड के प्रति उसका सारा तिरस्कार उसके विवरण-चित्रण के ढंग से आता है। यह लेखन का प्रतिष्ठान विरोध है। यह ढंग, व्यंग्य की यह रीति, रमाकान्त श्रीवास्तव को हरिशंकर परसाई से जोड़ती है, लेकिन मैं निसंकोच कह सकता हूँ कि रमाकान्त ने व्यंग्य और कथा-लेखन की अपनी शैली अर्जित की है।

**—विश्वनाथ त्रिपाठी**

*सविता सिंह ने स्वयं को घोषित तौर पर स्त्रीवादी कवयित्री कहते हुए समाज के स्थापित ढाँचों को कुछ इस तरह चुनौती दी कि साहित्य की लब्ध-प्रतिष्ठ अविरल धारा में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। उनकी कविताएँ लिंगाधारित असमानता के ख़िलाफ़ जिरह खड़ी कर एक नयी दुनिया की तस्वीर पेश करती हैं जो अधिक मानवीय, समानधर्मा और स्वतन्त्र होगी— सविता ने जिस सजग ढंग से सामाजिक सम्बन्धों की पड़ताल करते हुए पितृसत्तात्मक व्यवस्थाओं को प्रश्नांकित किया, उससे 'स्त्री होने के संकट' का बोध कवि और पाठक दोनों को समान रूप से होने लगा— उनकी कविताएँ उसी संकट और उससे उन्मुक्तता के अहसास को एक साथ पैदा करती हैं— असमानता, यातना और संघर्ष के असंख्य बिम्ब यदि सविता सिंह की कविताओं का प्रस्थान बिन्दु हैं तो मुक्ति का अहसास (केवल स्वप्न या आकांक्षा के स्तर पर नहीं) उसकी अनिवार्य परिणति। स्त्री, प्रकृति और दमित समाज के अनेक चेहरे एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं।*

*एक ओर इन कविताओं में स्त्री जीवन के इतिहास को रचती, उसकी मुक्ति के सपने को पा लेना चाहती हैं तो दूसरी ओर पूरी तरह ख़ुद को कविता के हवाले कर सहज भाव से पूछती हैं— 'कहाँ लिए जा रही हो मुझे मेरी कविता'। सविता की कविताओं की संवेदना गहरी वैचारिक उर्जा से गढ़ी गयी है। इन कविताओं में जेंडर के ये सवाल जिस तरह उठे थे उससे यह आशंका भी बनी थी की यह कविता कहीं स्त्री के इतिहास, संघर्ष या उस के अधिकारों की पक्षधरता का ऊपरी शोर बनकर न रह जाए, लेकिन सविता सिंह ने उस सीमा का अतिक्रमण किया। उन्होंने कल्पना, संवेदना और विचार के समुच्चय को साधकर उसे मानवता का ऐसा सवाल बना दिया है जो दर्शन और रहस्य की पराकाष्ठा तक पहुँचता है। प्रस्तुत है रेखा सेठी से उनकी लम्बी बातचीत...*



**सविता सिंह :** जन्म 25 फरवरी 1962, आरा। कविता संग्रह 'अपने जैसा जीवन', 'नींद थी और रात थी' और 'कठिन समय' प्रकाशित। अँग्रेज़ी में लीफ वन ऑटम, रोविंग टुगेदर भी। ओड़िया में 'जेउर मोर रास्ता'। कई लघु कहानियाँ प्रकाशित। रचनाओं का देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद। नारीवादी चेतना की मुखर वक्ता। आजकल चिन्तनशील गद्य की तीन पांडुलिपियों पर एकाग्र। हिन्दी अकादमी कृति सम्मान, रज़ा फाउंडेशन, मुकुट बिहारी सम्मान तथा (म.प्र.) 'स्पन्दन' सम्मान से सम्मानित। सम्प्रति इन्दिरा गाँधी मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली में अध्यापन।

# हमें राष्ट्रवाद के अँधेरों को भी देखना चाहिए...

## सविता सिंह से रेखा सेठी की बातचीत

**आपके निकट स्त्री-कविता का आशय क्या है?**

मैं एक स्त्री हूँ और मेरी कविता में मेरी यह पहचान सम्मिलित है। मैं यह कभी भुला नहीं पाती कि 'मैं एक स्त्री हूँ'। बहुत सारी स्त्रियाँ अक्सर यह कहती हैं कि वे साहित्यकार हैं और उनके लिए इस बात के कोई मायने नहीं हैं कि वे स्त्री हैं। मेरा प्रस्थान बिन्दु यह नहीं है। मैं मानती हूँ और बहुत शिद्दत से महसूस करती हूँ कि मेरे साथ जो कुछ भी इस जीवन में घटित हुआ है और हो रहा है वह इस वजह से ही है। अच्छा-बुरा जो कुछ भी है। ज़रूरी नहीं है कि आप स्त्री हैं तो हर दम आप पर प्रहार ही होता रहता है या आप हिंसा की शिकार होती हैं। एक ख़ास किस्म की असमानता अवश्य है, जिस पर हमारी पूरी व्यवस्था, आर्थिक-सामाजिक, आधारित है उससे आप प्रभावित होती रहती हैं। परन्तु स्त्रियों की अपनी शक्ति भी है कविता लिखना उसमें से एक ऐसी ही क्षमता है जिसे वह अपनी शक्ति के रूप में समझ सकती है। कविता में अपनी बात अभिव्यक्त करना उस

अन्दरूनी शक्ति का इज़हार है। यह मेरे लिए अपने निकट होने जैसा है। स्त्री कविता में अपने निकट होने का एक मतलब है। कहीं न कहीं यह उसके 'स्व' का मामला है और जो स्व है उसका आविर्भाव उसके साथ जन्म से ही होता है। हाँ उसके साथ उसका विकास हो तो उसमे और बहुत-सी बातें आ जाती हैं। यह एक ख़ास यात्रा है। मेरे अपने स्व का विकास। मेरे जीने के लिए यह बहुत है। मुझे अपने बारे में एक ख़ास तरह की समझ चाहिए जो मुझे सम्पन्न करे। यह सम्पन्नता कोई बाहर से महसूस न भी करे आप अपने भीतर उसे महसूस कर सकती हैं, वह एक रोशनी की तरह होती है, आपको आगे जो कदम रखने हैं उनकी दिशा दिखाती हुई। यह दिशा बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि कोई आपके भीतर से ही यह सुझा रहा होता है कि आप किधर जाएँ। यह आपका अपना फैसला होता है। जीवन का गम्भीर फैसला। दरअसल मुक्त होने का अहसास की प्रतीति यहाँ होती है।

मेरे लिए स्त्री कविता कोई अनौपचारिक उपस्थिति नहीं है। अगर मुझे कोई बात नहीं जँचती या मैं नहीं लिख सकती तो मैं नहीं लिखती। मैं जब भी लिखती हूँ, वह मेरे विकसित होने का एक तरीका होता है जो अपने आप में यूनीक या विशिष्ट है।

**कुछ लोगों को स्त्री कविता जैसे अभिधान से कठिनाई है। उनका मानना है कि कविता का कोई जेंडर नहीं होता। कई लोग कहते हैं कि 'स्त्री' कविता का विशेषण नहीं हो सकता अर्थात् स्त्री कविता कहकर कविता को किसी परिभाषा में बाँधना ग़लत होगा। आपका क्या विचार है?**

मेरा अपना मानना है कि उन लोगों की चेतना में यह बात इस तरह आई ही नहीं है। मैं किसी की आलोचना नहीं करना चाहती परन्तु, यह अवश्य कहना चाहती हूँ कि स्त्री में अगर स्त्री की चेतना नहीं है तो उसके अन्दर पुरुष की चेतना है क्योंकि ये दो ही तरह की चेतनाएँ हैं जो पूरी सृष्टि को चला रही है। आपके द्वारा पूछा गया यह सवाल पुरुष चेतना द्वारा विप्रेषित है और जो लोग इस तरह सोचते हैं उसका खामियाज़ा वे भुगतते भी हैं, यही कह सकती हूँ।

**आपने अपनी काव्य यात्रा का आरम्भ इतिहास के एक विशेष दौर में किया जब हाशिये की आवाज़ों को केन्द्र में लाने की कोशिश की जा रही थी स्त्री की आवाज़ को भी हाशिये की आवाज़ की तरह ही पढ़ा गया। समय के उस बिन्दु पर आपने घोषित तौर पर 'स्त्रीवादी' कवयित्री के रूप में अपनी पहचान बनायी। साहित्य में इस तरह का 'पोज़ीशन' लेना कहाँ तक सम्भव है?**

यह बात तो सही है कि जिस समय का आप ज़िक्र कर रही हैं, जब मैंने कविता लिखना शुरू किया, वह बहुत ज़्यादा असमंजस का समय था। स्त्री-कविता को स्त्री कविता कहा जाए या न कहा जाए, उसकी स्वीकृति होगी या नहीं, उसकी जगह बनेगी या नहीं या वह अस्वीकृत हो जाएगी, ये सारी सम्भावनाएँ थीं और संदिग्धता भी थी, लेकिन एक कवि को साहसी भी होना चाहिए। उसमें अतिक्रमण करने की आत्मशक्ति होनी चाहिए, तभी कविता नई जगह बना पाती है। और उस समय मुझे ऐसा कभी नहीं लगा कि जो स्त्रियाँ लिख रही थीं वो हाशिए की थीं। मैं सभी कवयित्रियों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण कवि के रूप में पढ़ती थी। जब मैं अपनी कविताओं को लेकर गम्भीर हुई और मुझे लगा कि जिस समय में हम जी रहे हैं उस समय में स्त्रियों का हस्तक्षेप होना ही चाहिए। मुझे लगा कि इस असन्दिग्धता के दौर को मुझे पार करना होगा। यह हिम्मत मुझमें होनी चाहिए कि जो मैं सचमुच महसूस कर रही हूँ उसे लिख सकूँ। मुझे ज़रा भी भय नहीं था कि इसे ख़ास ढंग से लेबल कर दिया जाएगा या उसकी वजह से इस कविता को और हाशिये पर धकेल दिया जाएगा।

मुझे ऐसा लगा कि ये कविताएँ अपने समय को सम्बोधित कर रही हैं ।

कोई भी अभिव्यक्ति तभी सटीक, तभी कारगर हो पाती है जब उसके पीछे यह भावना हो कि हम अपनी स्वतन्त्रता को इस तरह से ज़ाहिर कर सकते हैं। इससे पहले मैं नहीं जानती कि किसी ने कहा हो कि मैं स्त्रीवादी कविताएँ लिखती हूँ। सबने कहा कि यह स्त्रियों की कविताएँ हैं, वगैरह-वगैरह, लेकिन स्त्रीवादी रूप में अपने को पेश करना कठिन बात थी। इसके लिए विवेकपूर्ण साहस चाहिए था। इसी से मेरा पथ तैयार हुआ। मेरी कविताओं ने किया हो या न किया हो यह मैं नहीं जानती, लेकिन इस हिम्मत ने दूसरों को हिम्मत दी कि वे अपनी इच्छाओं को सही ढंग से पहचान कर उसके बारे में कुछ कह सकें। मैं यह समझती हूँ कि मेरी कविताएँ हाशिये को केन्द्र के करीब लेकर आने की ज़द्दोजहद में लगी रही हैं और कुछ नहीं तो हाशिये को ही केन्द्र बना लेंगी।

**आपके गद्य और कविता में 'फेमिनिस्ट पोज़ीशन और टोन' में अन्तर है, ऐसा मुझे लगता है... गद्य में स्वर काफ़ी उग्र है, परिवर्तन की बेचैनी भी अधिक है... आपने पितृसत्तात्मक संरचनाओं को प्रश्नांकित किया है... वहाँ रेडिकल फेमिनिज्म प्रमुख है, जबकि कविता इससे थोड़ा हटकर है, वहाँ एक नयी स्त्री की तलाश है जिसे विचारधारा के बद्ध मुहावरों में नहीं पढ़ा जा सकता, आप इस पर क्या कहेंगी?**

कविताओं और आलोचनात्मक लेखन में जो फ़र्क है वह इन विधाओं की अपनी पुकार है, और अर्थवत्ता है। उनमें थोड़ा फ़र्क हो सकता है, लेकिन मेरे दोनों किस्म के लेखन में बात एक ही है। गद्य में आप बहुत सारी चीज़ें कह सकते हैं कविता नफ़ीस चीज़ है, कविता आप जिस चीज़ को जैसा जानते हैं वह उसके पार ले

कविता की जो चुनौतियाँ हैं उनको आरम्भ में ही मैंने स्वीकार कर लिया था और इसलिए आप पाएँगी कि मेरे तीनों संग्रहों में कविता अपना रूप, अपना कथ्य, अपनी संरचना और अपना उद्देश्य काफ़ी हद तक बदलती चली गयी है। 'अपने जैसा जीवन' में जो स्त्री कहती है कि 'मैं किसी की औरत नहीं हूँ' या जो विलाप कर रही है, 'रोती है सुप्रिया', 'विमला की यात्रा' ये सारी कविताएँ स्त्रियों के नाम लेकर लिखी गयी हैं, क्योंकि ये स्त्रियाँ हमारे आस-पास हैं जीवन में गुँथी हुई।

जाकर आपको छूती है, इसलिए कविताओं की संरचना या उसका टोन अलग है। चेतना के बहुत सारे स्तर ऐसे हैं जो हमारे भीतर होते हैं, लेकिन हम उन तक खुद आसानी से नहीं पहुँच पाते। मेरा अपना मानना है कि कविताएँ वहाँ बहुत हद तक दुबकी रहती हैं, इसलिए प्रयास कर हमें वहाँ जाना चाहिए। मैं समझती हूँ कि कविताओं में, अभिव्यक्ति में एक ख़ास तरह का परिवर्तन, संयम और एक वयस्कता होनी चाहिए लेकिन कविता हो या गद्य दोनों जगह उद्देश्य एक ही है कि हम जिस समाज में रहते हैं उसको बदलें, उसको ज़्यादा सच्चा और सह्य बनाएँ जिसमें सभी लोग न्यायपूर्ण ढंग से रह सकें। यह सुन्दर समाज बनाने की शुरूआती शर्त है।

**स्त्री होना आपकी कविता को कैसे प्रभावित करता है ?**

जैसा मैंने अभी कहा कि मेरे भीतर का स्त्री-आलोक मुझे दिशा देता है। इसका एक दूसरा पक्ष भी है, कविता और आपका द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध। आप और कविता एक दूसरे को बनाते चलते हो। इस प्रक्रिया को मैं पहचानती हूँ। कविता के इस सच को मैंने अपनी कविताओं में परखा है और उसे ज़ाहिर भी किया है। 'कविता का जीवन', 'कहाँ लिए जा रही हो मुझे मेरी कविता', 'कृतज्ञ हूँ मेरी कविता' आदि अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें यह प्रक्रिया देखी जा सकती है। यह प्रक्रिया बहुत जीवन्त है— मनुष्य के दूसरे 'स्व' की तरह ही, उससे बहुत मिलती-जुलती। मेरी उसके प्रति कृतज्ञता भी है, सवाल भी हैं और झगड़े भी। कविता के साथ मेरा बहुत ही घनिष्ट एवं आत्मीय सम्बन्ध है।

**आप कहना चाहती हैं कि स्त्री होना ही कविता को प्रभावित नहीं करता, कविता भी स्त्रीत्व को प्रभावित करती है ?**

निश्चित तौर पर यह एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है और दोनों एक-दूसरे को प्रफुल्लित-विकसित करते हैं। कविता स्त्री को मुक्त करेगी यह एक सशक्त धारणा है जो लगातार स्त्री को ख़ुद में चिन्तनशील रखती है।

**अभी तक आपके तीन काव्य संग्रह प्रकाशित हुए हैं, तीनों का केन्द्र स्त्री है पर दृष्टिबोध बदला हुआ है। आप इसे कैसे देखती हैं?**

तीनों संग्रह में कवयित्री तो एक ही है आपने सही कहा, और वह एक स्त्री है जो धीरे-धीरे समाज में रहने, उसमें अपनी रिहाईश की शर्तों को पहचानने, उन्हें बदलने तथा उन्हें पूरी तरह से पितृसत्ता से मुक्त करने की कोशिश में जुटी हुई हैं। यह एक प्रक्रिया है- लगातार आगे बढ़ती हुई और पैनी होती हुई। ऐसे में कविता अपने साथ रूप-रंग, मकसद पहचानती, बदलती हुई अग्रसर है। इसी ढंग से उसमें बदलाव आते गए हैं। व्यक्तिगत स्तर पर उसे संकुचित नहीं किया मैंने। हमें ऐसी कविताएँ सिर्फ़ इसलिए नहीं लिखनी चाहिए, क्योंकि उनकी मान्यता है या उनकी पहचान बन गयी है। कविता को कोशिश करनी चाहिए कि उसकी जो पहचान स्थिर हो रही है और उसके स्थिर होने के कारण पितृसत्ता का प्रभाव फिर से उस पर स्थापित हो रहा है वह उसके पार जाए। उसके पार उतरने के लिए मेरी कविताएँ संघर्ष करती रही हैं। भाषा के स्तर पर तथा कथ्य के स्तर पर उसे लगातार संघर्ष करना है। जो बिम्ब हैं, जैसे रात, अँधेरा, प्रकाश, स्वप्न, नीला रंग— इसमें और भी बहुत सारे रंग आते हैं या राग हैं, वे सब मेरी कविता में लगातार आवाजाही करते रहे हैं, क्योंकि मैं संगीत या चित्र-कला को कविता के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण मानती हूँ जितना शब्द को। रंग और शब्द जब आपस में मिलते हैं तब नयी चीज़ें पैदा करते हैं।

कविता की जो चुनौतियाँ हैं उनको आरम्भ में ही मैंने स्वीकार कर लिया था और इसलिए आप पाएँगी कि मेरे तीनों संग्रहों में कविता अपना रूप, अपना कथ्य, अपनी संरचना और अपना उद्देश्य काफ़ी हद तक बदलती चली गयी है। 'अपने जैसा जीवन' में जो स्त्री कहती है कि 'मैं किसी की औरत नहीं हूँ' या जो विलाप कर रही है, 'रोती है सुप्रिया', 'विमला की यात्रा' ये सारी कविताएँ स्त्रियों के नाम लेकर लिखी गयी हैं, क्योंकि ये स्त्रियाँ हमारे आस-पास हैं जीवन में गुँथी हुई। आप उन्हें बहुत आसानी से पहचान सकती हैं। जब हम 'नींद थी और रात थी' में

आते हैं तब वहाँ भाषा के स्तर पर या संवेदना के स्तर पर उनकी बारीकियों में जाती हूँ। उसमें भाषा बहुत महीन हो गयी है, अभिव्यक्ति की अप्रत्यक्षता में लगभग समाई हुई, और 'स्वप्न समय' में कबिता का एक नैरेटिव आता है। स्वप्न, रात, जंगल— इन सबका बहुत बड़ा एक कैनवस है। उन लोगों के नेरेटिवस हैं जिन्हें मैंने काफ़ी देर तक अपनी कविताओं में रखने की कोशिश की है। जो हमारा पाठक है, वह भी उसका हिस्सा है। देखना था कि जो लोग आपको पढ़ते हैं, उनको कितनी देर तक आप अपने साथ रख सकती हैं और उनको प्रभावित कर सकती हैं। बहुत सारी चीज़ें थी, बहुत सारे उद्देश्य थे जो बदलते रहे हैं और एक उद्देश्य तो है ही कि कविता में हम उन्नत हों, फूल की तरह खिल सकें। आख़िर, कविता की पूरी दुनिया ही तो कायनात है। उसमें बार-बार यह कायनात सम्भव होती है, बदल-बदलकर, बेहतर होकर। उसमें वह सभी जीव हैं जिन्हें हम जानते हैं, वे सभी जातियाँ जिनसे हम मिलते हैं, वे मनुष्य जिन्हें हम बेहतर बनाना चाहते हैं।

**क्या यह आवश्यक है कि स्त्री-कविता की अपनी अलग पहचान हो?**

यह सब सवाल इस बात से जुड़े हुए हैं कि स्त्री कविता है क्या? अगर किसी की मेटाफिजीकल प्रेजेंस है, उसकी उपस्थिति है तो हम कौन हैं जो कह दें कि यह उपस्थित नहीं है या इसकी पहचान नहीं होनी चाहिए। यह सारे सवाल लैंगिक राजनीति के बड़े सवाल से जुड़े हुए हैं। लेखन का कोई और रूप हो, चाहे कविता या पेंटिंग की दुनिया तो उसमें जो पहचान उभर कर आती है उसे स्वीकार करना होगा। अगर वह पहचान न स्वीकार करें तो कहीं न कहीं उसकी अपनी चेतना में कोई समस्या है क्योंकि इस दुनिया में हर चीज़ यदि मनुष्य के दृष्टिकोण से देखी जाए तो उसकी सारी ज़द्दोजहद पहचान के लिए ही होती है और उसी से अस्मिता तय होती है। अगर मैं स्त्री कवि हूँ और मैं मानती हूँ कि मेरी कविता स्त्रीत्व से जुड़ी है तो निश्चित तौर पर मैं चाहूँगी कि उन कविताओं को स्त्री कविता के रूप में पहचाना जाए। 'स्त्री सच है' मेरी ही एक कविता है, 'नींद थी और रात थी' में। यहाँ सत्य का कविताकरण और राजनीतिकरण दोनों होता है।

**स्त्री-कविता जैसा अभिधान क्या केवल पाश्चात्य सन्दर्भों से अनुप्रेरित है या भारतीय दृष्टि भी उसके निर्माण का आधार है?**

यह सवाल एक तरह से प्रच्छन्न किस्म का है। बहुत से लोग स्त्रीवाद पर हमला करते हैं और क़हते हैं कि वह पाश्चात्य से आया है या फिर अवतरित हुआ है। मैं भी मानती हूँ कि इसमें पाश्चात्य, से उदय होने के कारण एक दृष्टिकोण है, लेकिन हमें यह भी नज़रअन्दाज़ नहीं करना चाहिए कि अगर दुनिया में कहीं भी मनुष्य का कोई समूह (स्त्री तो छोड़ो) दुनिया को बदलने के लिए संघर्ष कर रहा है और उसका कोई परिणाम निकल रहा है तो हम क्यों उससे मुतासिर न हों, हम क्यों उसे स्वीकार न करें या उससे अपनी पहचान न जोड़ें? यहाँ पाश्चात्य का सवाल बीच में आ जाने से इसका सम्बन्ध औपनिवेशिक संस्कृति से जोड़ दिया जाता है, जिससे सांस्कृतिक दासता की ध्वनि आती है। यह सारी बातें हाइपर नेशनलिज्म या उग्र राष्ट्रवाद के सन्दर्भ से उभर कर आती हैं। बिना किसी धुँधलके के मैं यह कहना चाहती हूँ कि हमारा अपना जो राष्ट्रवाद है उसने हमारे लिए एक नये पितृसत्तात्मक समाज का निर्माण भी किया, क्योंकि इस राष्ट्रीय व्यवस्था में स्त्री और पुरुष बराबर नहीं हैं। पितृसतात्मक व्यवस्था उसमें गुँथी हुई है, इसलिए यह बहुत ज़रूरी है कि हम दुनिया की उन बहनों के साथ एक बहनापा स्थापित करें जिन्होंने विवेक के स्तर पर या जीवन के स्तर पर अपने यहाँ के पुरुषों से संघर्ष कर कुछ हासिल किया है।

1960 के आसपास अमरीका में जिस रेडिकल फेमिनिज्म की शुरुआत होती है या उससे भी पहले जब स्त्रीवादी चेतना उभरने लगी, मेरी वालस्टोनक्राफ्ट ने जब लिखना शुरू किया, (1870's) या फिर सोशलिस्ट स्त्रीवादियों ने स्त्री श्रम की पड़ताल शुरू की—इनको भी हम अपने संघर्ष से जोड़कर देखते हैं। कम्युनिस्ट मूवमेंट में जो स्त्रियाँ रहीं उन सबका इतिहास हमारा इतिहास है। हमारे लिए इतिहास का अर्थ केवल राष्ट्र का इतिहास नहीं है, स्त्री संघर्ष का इतिहास है। हालाँकि यहाँ भी राष्ट्रीय आन्दोलन में स्त्रियों की बहुत बड़ी भूमिका रही है, लेकिन उसका प्रतिफल क्या हुआ? यह हमारे सामने है कि सरोजिनी नायडू, राजकुमारी अमृत कौर तथा अन्य स्त्रियाँ जो स्वतन्त्रता संघर्ष में शामिल थीं वे पुरुषवादी विवेक से प्रभावित रहीं। 1932-33 में जब स्त्री के प्रतिनिधित्व का सवाल उठा तो उनके द्वारा रखे गए विचार असमंजस में डालने वाले लगते हैं। वे राष्ट्रवादी होने के कारण ही अपनी योजना एवं लक्ष्य में पुरुषवादी लगते हैं। स्त्री-प्रतिनिधित्व के विषय में इन्होंने कहा कि स्त्रियों को कोई आरक्षण नहीं चाहिए बस उनकी मनुष्यता को पहचाना जाए। कितना बड़ा अन्तर्विरोध है इस कथन में, क्योंकि एक तरफ़ यह कहा जा रहा है कि स्त्रियाँ बहुत सशक्त हैं, उन्हें विशेष दर्जा नहीं चाहिए, साथ ही उनकी, मनुष्यता को नहीं पहचाना जा रहा, इसका भी स्वीकार है। कहीं बहुत बड़ी फाँक है यहाँ। आप अपनी मनुष्यता की पहचान कराना चाहती हैं तो उसके लिए संघर्ष करने की ज़रूरत है। 1973-74 में जब 'टुवर्ड्स इक्वालिटी रिपोर्ट' आई तो स्थिति साफ़ हो गयी। हिन्दुस्तान की औरतों की स्थिति कितनी ख़राब और दयनीय थी, चाहे उनकी शिक्षा का प्रश्न हो या स्वास्थ्य, सब जगह उनकी स्थिति मिट्टी के बराबर थी। उसके बाद ही यह चेतना आई कि इसे बदलने के लिए विशेष यत्न करने होंगे। उनके उत्थान के लिए सरकारी नीतियाँ गम्भीरता से बनाने की शुरुआत होती है।

बाबा साहेब अम्बेडकर इस पर पहले बात कर चुके थे और मैं उनके योगदान को महत्त्वपूर्ण मानती हूँ कि उन्होंने उन लोगों के लिए संविधान में विशेष प्रोविज़न किए जिन्हें दलित या अस्पृश्य माना गया था। स्त्री की स्थिति में सुधार लाने के लिए भी बाबा साहेब ने हिन्दू कोड बिल में परिवर्तन लाने की कोशिश की। कम से कम उन्होंने इस आवश्यकता को राजनीतिक स्तर पर पहचाना तो सही। मेरे कहने का मतलब है कि हम राष्ट्रवाद को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं कर सकते। हमें राष्ट्रवाद के अँधेरों को भी देखना चाहिए। औरतों के लिए उसकी अपनी मुसीबतें हैं। हमें यह बहस नहीं करनी चाहिए कि हम इसको पाश्चात्य मानें या भारतीय? और अगर पाश्चात्य है भी तो हम जैसे पश्चिम के उपनिवेशवाद को स्वीकार नहीं करते, लेकिन उनके यहाँ जो प्रगतिशील आन्दोलन हुए हैं, उनको हम स्वीकार करते हैं। उसी तरह हमारे यहाँ जो राष्ट्रवादी चेतना है उसमें जो प्रगतिशील अवयव है, उसको हम स्वीकार करते हैं और जो प्रतिगामी हैं, जो हमें पीछे धकेलते हैं, पितृसत्ता के अधीन करते हैं; जो आपको परम्परा में व्याप्त प्रतिगामी मूल्यों की तरफ़ वापस धकेलता है उसको हम अस्वीकार करते हैं। उन्हें हम राष्ट्रवाद के नाम पर आत्मसात नहीं कर सकते।

**आपकी दृष्टि में स्त्री कविता के मूल मुद्दे क्या हैं?**

स्त्री कविता के मूल मुद्दे वही हैं जो दुनिया में आज तक स्त्रियों के मूल मुद्दे रहे हैं और जिन पर स्त्रियों ने लिखा भी है। मेरा यह मानना है कि स्त्री कविता तमाम सामाजिक संरचनाओं में जो असमानता व्याप्त है, चाहे वो स्त्री को लेकर हो चाहे दूसरे ऐसे समूहों को लेकर, उन सब के प्रति संघर्ष को जायज़ ठहरती है। वह संसार को हर तरह की कुरूपताओं से मुक्त करना चाहती है। वह पितृसत्ता की भयावहता से मनुष्य को निजात दिलाना चाहती है। इसके लिए वह सुन्दर की पहचान करना चाहता है, इसका बिम्ब के माध्यम से, कथ्य के माध्यम से एवं नैरेटिव के सहारे सृजन करती है। मैंने भी यह कोशिश की है कि जिन असमानताओं से हमारा समाज प्रभावित है उसके दर्द और अँधेरों को सामने लाऊँ। स्त्री-कविता भी लगातार इस चिन्ता में डूबी हुई है कि वह समाज को कैसे बदल सकती है। सामानान्तर स्तर पर ऐसी सभ्यता के विकास में सम्मिलित होऊँ जिसमें अन्ततः जो भी हमारी भिन्नताएँ हैं वह हमारे शोषण के लिए इस्तेमाल न होकर हमारी उन्नति के लिए हों, जिससे हम कह सकें कि एक सामूहिक, विनम्र, विश्व समुदाय बनाने में हमारी कविताओं का योगदान रहा है। हमरी कविताओं को पढ़ते हुए लोगों को लगे कि वे वयस्क स्त्री नागरिक की कविताएँ हैं। यह एक उपलब्धि होगी।

**जैसा आपने कहा कि आपकी कविताओं को लोगों ने वयस्क स्त्री नागरिक की कविता के रूप में पढ़ा, लेकिन सामान्यतः परम्पराओं के अन्तर्विरोध तथा निजता व पितृसत्ता के विरोध का स्वर ही स्त्री साहित्य में ज्यादा जगह घेरता है। ये मुद्दे ही प्राथमिक हो जाते हैं और बाक़ी मुद्दे छूट जाते हैं या पीछे रह जाते हैं।**

निश्चित तौर पर मेरी कविताएँ पितृसत्ता से लड़ती हैं, क्योंकि पितृसत्ता ने ही स्त्री को वह स्त्री बनाया जो हम आज हैं। हमारी लैंगिकता को संकुचित कर हमारे स्त्रीत्व को परिभाषित किया जिसकी वजह से हम यह महसूस करते हैं कि हम शक्तिहीन हैं। हिन्दी में इस दौर की स्त्री कविता जिस तरह पितृसत्ता से संघर्ष कर रही है, या जिस तरह उसके विरुद्ध संघर्षरत है, यह उसकी कोई बड़ी खामी या दोष नहीं है बल्कि यह उसका प्रस्थान बिन्दु है। इस कविता को इससे बहुत आगे जाना है। मैं अपनी कविताओं में भी यह कोशिश करती हूँ। मेरे तीसरे काव्य संग्रह 'स्वप्न समय' में कुछ लम्बी कविताएँ हैं जिनमें सभ्यता के बदलते विमर्शों, केन्द्र में आती स्त्री कविता का बखान मिलेगा। यह एक पूरी यात्रा है जो भाषा, ज्ञान व चेतना, सभी को लेकर आगे बढ़ती है। मेरा यह मानना है कि अगर आज अधिकांश कवयित्रियाँ पितृसत्ता पर प्रहार कर रही हैं तो यह इसलिए कि यह कविता अभी अपने प्रारम्भिक दौर में है। आगे चलकर उनकी कविताओं का विकास सम्भवतः उधर ही होगा जिधर मेरी कविताएँ अब मुझे ले जा रही हैं— एक संयमित सोच की तरफ़ कि हम एक सुन्दर जीवन को कैसे जी सके।

**आपकी कविताओं का ग्राफ एक नयी दिशा की ओर इशारा करता है, क्या आप उस दिशा को पहचानती हैं। आपके मन में कोई साफ़ तस्वीर है?**

साफ़ तस्वीर नहीं कह सकते, लेकिन एक धुँधली-सी छवि तो उसकी है। इसीलिए वह रहस्यमयी दिखती है क्योंकि उसे साफ़-साफ़ बता नहीं पाते— अभी। मेरा अपना ख्याल है कि 'स्वप्न समय' की जो अन्तिम कविता है 'नीला विस्तार' उसमें यह बात है...

बस कुछ और दूर चलकर
छूट जायगा हमारा साथ मेरी कविता
तुम्हें जाना होगा वहाँ
जहाँ समुद्र लहरा रहा होगा
जहाँ स्वप्न जाग रहे होंगे
जहाँ एक स्त्री लाँघ रही होगी एक अलंघ्य प्यास

वहाँ पहुँचकर मुड़ना होगा मेरी तरफ़ तुम्हें
कम से कम एक बार
बताना होगा क्या स्वप्न और स्त्री एक ही हैं—
रात के दो फूल

दो दीप अन्धकार के
जिनके जलने से तारे रोशनी पाते हैं
आकाश सजता है जिनसे हर रात
बताना क्या रिश्ता है उनका आपस में
क्या स्त्री सचमुच रात है
जैसा मैं जानती हूँ
या रात में स्वप्न है वह

एक नीला विस्तार
अज्ञात है जिसका ज़्यादातर हिस्सा

तो जो आपने सवाल किया है उसकी इसमें काफ़ी सारी बातें हैं। अभी जो स्त्री विमर्श है पश्चिम में, ख़ासकर फ्रांस में, उसमें स्त्रियाँ कह रही हैं कि समाज में वह जगह स्त्रियों को प्राप्त नहीं हो पायी, स्त्रियाँ वो जगह नहीं बना पाई हैं जो उनके अवचेतन में है और इसके लिए इतिहास में जाने के बजाए उन्हें अपने सब कांशियस और अनकांशियस को तलाशना है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में स्त्री चिन्तकों ने अपनी चिन्ताएँ भी जोड़ दी हैं। यह सिद्धान्त कहता है कि वे तमाम पहचाना अपहचाना दमन कहीं जाता नहीं, वह हमारे सबकांशियस में जाकर बैठ जाता है। इसमें आपकी पीड़ा, अपमान, आपके साथ जो हिंसा हुई या जो हिंसा स्वयं आपने अपने ऊपर की, ये तमाम दुखदायी पीड़ाएँ और इनसे मुक्ति का रास्ता भी हमें हमारे सबकांशियस में मिल सकता है। मैं यह मानती हूँ कि कविता में कांशियस, अनकांशियस और सबकांशिय सब में आवाजाही आसानी से हो सकती है, क्योंकि हम यहाँ पर यथार्थ, अतियथार्थ और उसकी और भी जो अन्य परतें हैं उन सबसे एक साथ जुड़ते हैं और अपनी अपंगतता (दिफोर्मिटी)को पहचानने लगते हैं, तब उसका चित्रण अप्रत्यक्ष सत्ता की तरफ़ जाता है, क्योंकि पहचान का यह रास्ता दुरूह और मुश्किल है। कविता तब निश्चित तौर पर प्रत्यक्ष किस्म का चित्र नहीं खींचती। उसको उस हद तक रहस्यमयी होना ही होगा, लेकिन ऐसा रहस्य जिसमें जाकर हम अपनी ठोस स्थिति को देख सके। यह एक तरह की सामाजिक-मानसिक यात्रा है, जब आप सबकांशियस स्तर पर जाकर उन चीज़ों को नये सिरे से पहचान सकें जो दरअसल आपके यथार्थ में हैं।

**जैसे आप कह रही हैं कि कविता में वह गुंजाइश बनती है कि आप चेतन अवचेतन के बीच इस तरह की आवाजाही कर सके, लेकिन आप इसको कैसे साधती रहीं?**

यह एक बौद्धिक प्रक्रिया के समान है, लेकिन यह भाषिक भी है। आप जब जूलिया क्रिस्टेवा को पढ़ेंगी तो पाएँगी कि लगातार वह एक समानान्तर यात्रा करती रहती हैं भाषा में जहाँ यथार्थ शब्दबद्ध है। एक तो हमारा ठोस यथार्थ है और एक वह जो इस यथार्थ को समझने में मदद करता है। हमारे पास यथार्थ को समझने की कुछ हिकमतें ऐसी हैं जो हमें विचार देती हैं, लेकिन कुछ ऐसी हैं जो उपलब्ध नहीं हैं। जैसे एक स्थिति यह हो सकती है कि एक कविता है जो आपके दर्द के बारे में है और उसे अभिव्यक्त करती है और एक कविता है जो उस दर्द को समझने के लिए आपके स्व को अभिव्यक्त करती है। जिसे आप महसूस कर रही हैं उसे आपका दूसरा सेल्फ अलग से देखता है और उसके लिए एक अलग मेटा लैंग्वेज चाहिए, वह एक मेटा रियलिटी है यानी एक यथार्थ पर दूसरा यथार्थ प्रत्क्षेपण के ज़रिए अवस्थित है। कविता एक ख़ास किस्म का अतिक्रमण कर सकती है। आपके विचारों का अतिक्रमण, आपकी समझ का अतिक्रमण। इसीलिए मैं बार-बार कविता में जाती हूँ। वह इतनी आसानी से आपको हासिल नहीं है जैसे मेरी कविता में सपनों का बहुत ज़िक्र है लेकिन आप यह तय नहीं करते कि आप क्या सपना देखेंगी। बहुत सारे कवियों के यहाँ आप पाएँगी कि सपनों का ज़िक्र आता है और यथार्थ का भी ज़िक्र है जैसे किसी चीज़ को देखते-देखते आप कुछ और देखने लगती हैं। आपके दूसरे अनुभव जागृत हो जाते हैं। चित्रकारों के साथ भी यह बहुत हुआ है खासकर फ्रैंच चित्रकारों के यहाँ अगर आप देखेंगी तो लैंड स्केप पेंट करते-करते वे अति यथार्थवादी हो जाते हैं। ऐसी चीज़ों को भी पेंट कर देते हैं जो उस लैंड स्केप में नहीं हैं। मेरा ख़याल है कि कविता भी यह सब काम करती है, जो थोड़ी रहस्यमयी-सी लगती है लेकिन मैं यथार्थ को कभी नहीं छोड़ती वह हमेशा मेरे विश्लेषण का हिस्सा बना रहता है। वही ज़मीन है जिस पर मैं खड़ी रहती हूँ। अपने को इधर-उधर फेंकती हुई, देखती हूँ, विस्तारित करती हूँ।

**स्त्री की बात करते ही इतिहास, परम्परा और मिथक के कई पन्ने एक-साथ खुल जाते हैं यानी स्त्री-अनुभव बहुत ही पेचीदा और संश्लिष्ट होता है। कविता में इसे साधना कितना श्रम साध्य है?**

श्रम साध्य से ज़्यादा एक विशेष प्रकार की सजगता चाहिए। आपको सोचने-समझने के कई संकेत मिलते रहते हैं। और आपका दिमाग सोचता है कि ऐसा क्यों हुआ, परन्तु उसके बाद उसे छोड़ देता है। एक कवि जो कविता को साध रहा है या साध रही है वह उन संकेतों को एक चौकन्नेपन से स्वीकार कर उस पर विचार करने लगती है। आपमें इतनी संवेदनशीलता हो कि वे चीज़ें जो एक बिम्ब, विचार और एक झलक दिखलाकर चली गयी हैं, आपसे छूटें नहीं। आपको बहुत सारे लोगों ने कहा होगा कि कविता आ जाती है और अगर उस वक़्त आपने उसे नहीं लिखा, तो वह चली जाती है, आप दोबारा उसको पकड़ नहीं सकते। मेरे साथ भी कई बार ऐसा हुआ है। मैं उन कविताओं को दोबारा नहीं

लिख पाई, इसका मुझे बेहद अफ़सोस रहता है। वह कैसे आती हैं, जैसे सुबह जागते-जागते कुछ पंक्ति आ जाती है। क्यूँ आई इसका तो पता प्रत्यक्षत: नहीं है, लेकिन वह आती है। अगर आपको एक पंक्ति भी आ गयी है तो पूरी कविता आ गयी। आप सजगता से उसे बना सकते हैं, श्रम से ज्यादा आपको हर वक़्त प्रतीक्षारत रहना होता है कविता को पाने के लिए। आपको एक प्रक्रिया में रहना होता है। कवि का जीवन कविता का ही जीवन होता है। उसके सुख-दु:ख, हताशाएँ-निराशाएँ, सुख-आह्लाद सब एक साथ उसे जीना होता है। जो कुछ भी आश्चर्यजनक है, विस्मयकारी है, जो आपको एकदम आउट ऑफ़ दिस वर्ल्ड लगता है। अविस्मरणीय वह सब गम्भीर रूप से स्वीकारने की चीज़ें होनी चाहिए। मेरे जीवन में बहुत सारी कविताएँ इस तरह से ही आई हैं। बहुत विस्मयकारी ढंग से। विस्मयकारी अनुभवों को भी मैंने अपने गले से लगाया, अपनी भाषा में उन्हें ले आई, अपने शब्दों के साथ उनको बैठाया और एक रूप दिया। अनुभव के कई-कई क्षेत्र हैं, कई-कई परतें हैं जहाँ से विचार और कल्पना सब आते हैं, इतिहास, मिथक परम्परा, सभी स्रोतों से विचार हवा की तरह आते हैं, लेकिन हम उन्हें अपने वर्तमान में तभी अपना पाते हैं जब समय को उनहें दोबारा गढ़ने की आज़ादी देते हैं। इसमें संघर्ष लगता है, आपनी चिन्ताएँ सामाजिक और वैश्विक एक साथ होनी चाहिए।

**क्या आपको कभी लगा कि स्त्री विमर्श कविता की सम्भावनाएँ तलाशने की अपेक्षा उसके लिए एक सीमा बन गया, क्योंकि यह जिस तरह कविता को एक विशेष दृष्टिबोध से देखने का आग्रह करता है उससे कविता के अन्य पक्ष चर्चा के केन्द्र में आ ही नहीं पाते?**

मैं विमर्श को पुन: परिभाषित करना चाहूँगी, क्योंकि स्त्री विमर्श किसी यथार्थ को संकुचित करने के लिए नहीं है। स्त्री विमर्श है ही इसीलिए कि वह जीवन की तमाम परतों को खोल सके और स्त्री विमर्श के भीतर जो कविताएँ लिखी जा रही हैं, मैं नहीं मानती कि वे सीमित हैं, क्योंकि विमर्श एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। विमर्श के इतिहास की अपनी यात्रा है। अगर स्त्री विमर्श की बात करें तो यह विमर्श वह नहीं है जहाँ 1960 में था। आज हम स्त्री विमर्श के तीसरे दौर से भी आगे निकल चुके हैं बल्कि, विमर्श के इस फेज़ में या पड़ाव पर हैं जहाँ स्त्रियाँ लगातार पुरानी बातों को निरस्त कर रही हैं, उसमें नया जोड़ रही है, बिल्कुल नया यथार्थ भी हासिल कर रही हैं। वो ख़ुद अपनी ज़मीन तलाश कर उसे उर्वर बनाकर, उसमें जो भी फसल उगानी थी, उगाकर, काटकर उस जगह आ गयी हैं जहाँ पर वे दार्शनिक स्तर पर मानुष के मनुष्यत्व को पहचान रही हैं। स्त्री विमर्श विकास की ओर अग्रसर है और ऐसे मुकाम पर पहुँचा हुआ है जहाँ चाहे कला हो, साहित्य या अलग से स्त्रियों पर कविता, उसे संकुचित करने के बजाए उसके लिए नयी ज़मीन तैयार कर रहा है। अब आप पर है कि आप स्त्री विमर्श को कैसे समझती हैं। आप किस स्तर पर उससे जुड़ी हैं। आप स्त्री विमर्श के पहले चरण में, दूसरे या फिर तीसरे उससे आगे के विमर्शों में हैं या फिर उससे भी आगे बिल्कुल अलग। मेरा मानना है कि आजकल ज्यादा पढ़ी-लिखी महिलाएँ जो एब्सट्रेक्ट विचारों के ख़ित्ते में काम कर रही हैं सब तीसरे चरण में हैं, क्योंकि वे अपने आत्म-संघर्ष से यहाँ तक पहुँची हैं। किसी ने उनको पहुँचाया नहीं है। उन्होंने स्वयं देखा, जाँचा-परखा, सबको पढ़ा है। बहुत सी स्त्री सिद्धान्तकार हैं जिन्होंने मार्क्स के बाद फ्रायड, उसके बाद बल्कि फूको को महत्त्वपूर्ण माना है और उनसे प्रेरित हुईं। बहुत सारी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने लकां के काम को बहुत महत्वपूर्ण माना है। फ्रायड की उन्होंने लकां के ज़रिए कठोर आलोचना की। वे पुरुष के ज़रिए पुरुष को रिप्लेस कर रही हैं, विस्थापित कर रही हैं।

आजकल मैं फ्रेंच फेमिनिज्म से बहुत मुतासिर हूँ। उनके काम में जूलिया क्रिस्टोवा हों या हेलेन सिक्सू, इन लोगों के काम में आपको वो उन्नति दिखती है जिसको आप संकुचित अर्थ में स्त्री विमर्श नहीं कह सकती। वह एक सभ्यता विमर्श है जिसमें स्त्रियाँ अपना विकास कर चुकी हैं और इतने प्रगतिशील ढंग से सोच रही हैं जैसा पुरुषों ने भी नहीं सोचा होगा। इनका जो नया इलाका है उसमें अपने दायरे से बाहर निकलकर सोचने समझने की कोशिश हो रही है। यह संघर्ष बहुत बड़ा है। यह कभी भी कविता या किसी अन्य चीज़ को संकुचित कर ही नहीं सकता। यहाँ एक नया सिम्बोलिक ऑर्डर यानी व्यवस्था बनाने का अथक प्रयास चल रहा है— जिसमें अर्थव्यवस्था का भी रूपान्तरण हो जाना चाहिए।

**आपकी शिक्षा और शिक्षण का दायरा राजनीति और जेंडर से जुड़ा हुआ है। आपकी सोच को दिशा देने में उसकी क्या भूमिका रही ?**

बहुत हद तक इन विषयों ने दिशा दी है क्योंकि उससे आपको एक ख़ास किस्म की विशेषता मिलती है और चौकन्नापन भी। आपकी चेतना एक सामूहिक चेतना का हिस्सा बन जाती है, लेकिन जब आप रचना करने चलते हैं तो उस सामूहिक ज्ञान का इस्तेमाल करते हुए भी आपको उससे आगे की स्थितियों का अनुसन्धान करना पड़ता है। कविता में भाषा का, भाषा में गद्य का, चित्रकला में रंग का, संगीत में ध्वनि का, वगैरह वगैरह क्योंकि बिना राग को जाने हुए संगीतकार कोई नया राग नहीं बना सकता।

**राजनीति आधुनिक चिन्तन की उपज भी है और उसकी सबसे बड़ी कसौटी भी। समकालीन स्त्री-अनुभव में वह शामिल है लेकिन स्त्री-कविता में उसे कितना स्पेस मिला है?**

दो दीप अन्धकार के
जिनके जलने से तारे रोशनी पाते हैं
आकाश सजता है जिनसे हर रात
बताना क्या रिश्ता है उनका आपस में
क्या स्त्री सचमुच रात है
जैसा मैं जानती हूँ
या रात में स्वप्न है वह

एक नीला विस्तार
अज्ञात है जिसका ज़्यादातर हिस्सा

तो जो आपने सवाल किया है उसकी इसमें काफ़ी सारी बातें हैं। अभी जो स्त्री विमर्श है पश्चिम में, ख़ासकर फ्रांस में, उसमें स्त्रियाँ कह रही हैं कि समाज में वह जगह स्त्रियों को प्राप्त नहीं हो पायी, स्त्रियाँ वो जगह नहीं बना पाई हैं जो उनके अवचेतन में है और इसके लिए इतिहास में जाने के बजाए उन्हें अपने सब कांशियस और अनकांशियस को तलाशना है। मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त में स्त्री चिन्तकों ने अपनी चिन्ताएँ भी जोड़ दी हैं। यह सिद्धान्त कहता है कि वे तमाम पहचाना अपहचाना दमन कहीं जाता नहीं, वह हमारे सबकांशियस में जाकर बैठ जाता है। इसमें आपकी पीड़ा, अपमान, आपके साथ जो हिंसा हुई या जो हिंसा स्वयं आपने अपने ऊपर की, ये तमाम दुखदायी पीड़ाएँ और इनसे मुक्ति का रास्ता भी हमें हमारे सबकांशियस में मिल सकता है। मैं यह मानती हूँ कि कविता में कांशियस, अनकांशियस और सबकांशिय सब में आवाजाही आसानी से हो सकती है, क्योंकि हम यहाँ पर यथार्थ, अतियथार्थ और उसकी और भी जो अन्य परतें हैं उन सबसे एक साथ जुड़ते हैं और अपनी अपंगतता (दिफोर्मिटी)को पहचानने लगते हैं, तब उसका चित्रण अप्रत्यक्ष सत्ता की तरफ़ जाता है, क्योंकि पहचान का यह रास्ता दुरूह और मुश्किल है। कविता तब निश्चित तौर पर प्रत्यक्ष किस्म का चित्र नहीं खींचती। उसको उस हद तक रहस्यमयी होना ही होगा, लेकिन ऐसा रहस्य जिसमें जाकर हम अपनी ठोस स्थिति को देख सके। यह एक तरह की सामाजिक-मानसिक यात्रा है, जब आप सबकांशियस स्तर पर जाकर उन चीज़ों को नये सिरे से पहचान सकें जो दरअसल आपके यथार्थ में हैं।

**जैसे आप कह रही हैं कि कविता में वह गुंजाइश बनती है कि आप चेतन अवचेतन के बीच इस तरह की आवाजाही कर सके, लेकिन आप इसको कैसे साधती रहीं?**

यह एक बौद्धिक प्रक्रिया के समान है, लेकिन यह भाषिक भी है। आप जब जूलिया क्रिस्टेवा को पढ़ेंगी तो पाएँगी कि लगातार वह एक समानान्तर यात्रा करती रहती हैं भाषा में जहाँ यथार्थ शब्दबद्ध है। एक तो हमारा ठोस यथार्थ है और एक वह जो इस यथार्थ को समझने में मदद करता है। हमारे पास यथार्थ को समझने की कुछ हिकमतें ऐसी हैं जो हमें विचार देती हैं, लेकिन कुछ ऐसी हैं जो उपलब्ध नहीं हैं। जैसे एक स्थिति यह हो सकती है कि एक कविता है जो आपके दर्द के बारे में है और उसे अभिव्यक्त करती है और एक कविता है जो उस दर्द को समझने के लिए आपके स्व को अभिव्यक्त करती है। जिसे आप महसूस कर रही हैं उसे आपका दूसरा सेल्फ अलग से देखता है और उसके लिए एक अलग मेटा लैंग्वेज चाहिए, वह एक मेटा रियलिटी है यानी एक यथार्थ पर दूसरा यथार्थ प्रक्षेपण के ज़रिए अवस्थित है। कविता एक ख़ास किस्म का अतिक्रमण कर सकती है। आपके विचारों का अतिक्रमण, आपकी समझ का अतिक्रमण। इसीलिए मैं बार-बार कविता में जाती हूँ। वह इतनी आसानी से आपको हासिल नहीं है जैसे मेरी कविता में सपनों का बहुत ज़िक्र है लेकिन आप यह तय नहीं करते कि आप क्या सपना देखेंगी। बहुत सारे कवियों के यहाँ आप पाएँगी कि सपनों का ज़िक्र आता है और यथार्थ का भी ज़िक्र है जैसे किसी चीज़ को देखते-देखते आप कुछ और देखने लगती हैं। आपके दूसरे अनुभव जागृत हो जाते हैं। चित्रकारों के साथ भी यह बहुत हुआ है खासकर फ्रैंच चित्रकारों के यहाँ अगर आप देखेंगी तो लैंड स्कैप पेंट करते-करते वे अति यथार्थवादी हो जाते हैं। ऐसी चीज़ों को भी पेंट कर देते हैं जो उस लैंड स्केप में नहीं हैं। मेरा ख़याल है कि कविता भी यह सब काम करती है, जो थोड़ी रहस्यमयी-सी लगती है लेकिन मैं यथार्थ को कभी नहीं छोड़ती वह हमेशा मेरे विश्लेषण का हिस्सा बना रहता है। वही ज़मीन है जिस पर मैं खड़ी रहती हूँ। अपने को इधर-उधर फेंकती हुई, देखती हूँ, विस्तारित करती हूँ।

**स्त्री की बात करते ही इतिहास, परम्परा और मिथक के कई पन्ने एक-साथ खुल जाते हैं यानी स्त्री-अनुभव बहुत ही पेचीदा और संश्लिष्ट होता है। कविता में इसे साधना कितना श्रम साध्य है?**

श्रम साध्य से ज़्यादा एक विशेष प्रकार की सजगता चाहिए। आपको सोचने-समझने के कई संकेत मिलते रहते हैं। और आपका दिमाग सोचता है कि ऐसा क्यों हुआ, परन्तु उसके बाद उसे छोड़ देता है। एक कवि जो कविता को साध रहा है या साध रही है वह उन संकेतों को एक चौकन्नेपन से स्वीकार कर उस पर विचार करने लगती है। आपमें इतनी संवेदनशीलता हो कि वे चीज़ें जो एक बिम्ब, विचार और एक झलक दिखलाकर चली गयी हैं, आपसे छूटें नहीं। आपको बहुत सारे लोगों ने कहा होगा कि कविता आ जाती है और अगर उस वक़्त आपने उसे नहीं लिखा, तो वह चली जाती है, आप दोबारा उसको पकड़ नहीं सकते। मेरे साथ भी कई बार ऐसा हुआ है। मैं उन कविताओं को दोबारा नहीं

लिख पाई, इसका मुझे बेहद अफ़सोस रहता है। वह कैसे आती हैं, जैसे सुबह जागते-जागते कुछ पंक्ति आ जाती है। क्यूँ आई इसका तो पता प्रत्यक्षत: नहीं है, लेकिन वह आती है। अगर आपको एक पंक्ति भी आ गयी है तो पूरी कविता आ गयी। आप सजगता से उसे बना सकते हैं, श्रम से ज्यादा आपको हर वक़्त प्रतीक्षारत रहना होता है कविता को पाने के लिए। आपको एक प्रक्रिया में रहना होता है। कवि का जीवन कविता का ही जीवन होता है। उसके सुख-दु:ख, हताशाएँ-निराशाएँ, सुख-आह्लाद सब एक साथ उसे जीना होता है। जो कुछ भी आश्चर्यजनक है, विस्मयकारी है, जो आपको एकदम आउट ऑफ़ दिस वर्ल्ड लगता है। अविस्मरणीय वह सब गम्भीर रूप से स्वीकारने की चीज़ें होनी चाहिए। मेरे जीवन में बहुत सारी कविताएँ इस तरह से ही आई हैं। बहुत विस्मयकारी ढंग से। विस्मयकारी अनुभवों को भी मैंने अपने गले से लगाया, अपनी भाषा में उन्हें ले आई, अपने शब्दों के साथ उनको बैठाया और एक रूप दिया। अनुभव के कई-कई क्षेत्र हैं, कई-कई परतें हैं जहाँ से विचार और कल्पना सब आते हैं, इतिहास, मिथक परम्परा, सभी स्रोतों से विचार हवा की तरह आते हैं, लेकिन हम उन्हें अपने वर्तमान में तभी अपना पाते हैं जब समय को उनहें दोबारा गढ़ने की आज़ादी देते हैं। इसमें संघर्ष लगता है, आपनी चिन्ताएँ सामाजिक और वैश्विक एक साथ होनी चाहिए।

**क्या आपको कभी लगा कि स्त्री विमर्श कविता की सम्भावनाएँ तलाशने की अपेक्षा उसके लिए एक सीमा बन गया, क्योंकि यह जिस तरह कविता को एक विशेष दृष्टिबोध से देखने का आग्रह करता है उससे कविता के अन्य पक्ष चर्चा के केन्द्र में आ ही नहीं पाते?**

मैं विमर्श को पुन: परिभाषित करना चाहूँगी, क्योंकि स्त्री विमर्श किसी यथार्थ को संकुचित करने के लिए नहीं है। स्त्री विमर्श है ही इसीलिए कि वह जीवन की तमाम परतों को खोल सके और स्त्री विमर्श के भीतर जो कविताएँ लिखी जा रही हैं, मैं नहीं मानती कि वे सीमित हैं, क्योंकि विमर्श एक जगह स्थिर होकर नहीं रहता। विमर्श के इतिहास की अपनी यात्रा है। अगर स्त्री विमर्श की बात करें तो यह विमर्श वह नहीं है जहाँ 1960 में था। आज हम स्त्री विमर्श के तीसरे दौर से भी आगे निकल चुके हैं बल्कि, विमर्श के इस फेज़ में या पड़ाव पर हैं जहाँ स्त्रियाँ लगातार पुरानी बातों को निरस्त कर रही हैं, उसमें नया जोड़ रही है, बिल्कुल नया यथार्थ भी हासिल कर रही हैं। वो ख़ुद अपनी ज़मीन तलाश कर उसे उर्वर बनाकर, उसमें जो भी फसल उगानी थी, उगाकर, काटकर उस जगह आ गयी हैं जहाँ पर वे दार्शनिक स्तर पर मानुष के मनुष्यत्व को पहचान रही हैं। स्त्री विमर्श विकास की ओर अग्रसर है और ऐसे मुकाम पर पहुँचा हुआ है जहाँ चाहे कला हो, साहित्य या अलग से स्त्रियों पर कविता, उसे संकुचित करने के बजाए उसके लिए नयी ज़मीन तैयार कर रहा है। अब आप पर है कि आप स्त्री विमर्श को कैसे समझती हैं। आप किस स्तर पर उससे जुड़ी हैं। आप स्त्री विमर्श के पहले चरण में, दूसरे या फिर तीसरे उससे आगे के विमर्शों में हैं या फिर उससे भी आगे बिल्कुल अलग। मेरा मानना है कि आजकल ज्यादा पढ़ी-लिखी महिलाएँ जो एब्सट्रेक्ट विचारों के ख़ित्ते में काम कर रही हैं सब तीसरे चरण में हैं, क्योंकि वे अपने आत्म-संघर्ष से यहाँ तक पहुँची हैं। किसी ने उनको पहुँचाया नहीं है। उन्होंने स्वयं देखा, जाँचा-परखा, सबको पढ़ा है। बहुत सी स्त्री सिद्धान्तकार हैं जिन्होंने मार्क्स के बाद फ्रायड, उसके बाद बल्कि फूको को महत्त्वपूर्ण माना है और उनसे प्रेरित हुईं। बहुत सारी स्त्रियाँ हैं जिन्होंने लकां के काम को बहुत महत्वपूर्ण माना है। फ्रायड की उन्होंने लकां के ज़रिए कठोर आलोचना की। वे पुरुष के ज़रिए पुरुष को रिप्लेस कर रही हैं, विस्थापित कर रही हैं।

आजकल मैं फ्रेंच फेमिनिज्म से बहुत मुतासिर हूँ। उनके काम में जूलिया क्रिस्टोवा हों या हेलेन सिक्सू, इन लोगों के काम में आपको वो उन्नति दिखती है जिसको आप संकुचित अर्थ में स्त्री विमर्श नहीं कह सकती। वह एक सभ्यता विमर्श है जिसमें स्त्रियाँ अपना विकास कर चुकी हैं और इतने प्रगतिशील ढंग से सोच रही हैं जैसा पुरुषों ने भी नहीं सोचा होगा। इनका जो नया इलाका है उसमें अपने दायरे से बाहर निकलकर सोचने समझने की कोशिश हो रही है। यह संघर्ष बहुत बड़ा है। यह कभी भी कविता या किसी अन्य चीज़ को संकुचित कर ही नहीं सकता। यहाँ एक नया सिम्बोलिक ऑर्डर यानी व्यवस्था बनाने का अथक प्रयास चल रहा है— जिसमें अर्थव्यवस्था का भी रूपान्तरण हो जाना चाहिए।

**आपकी शिक्षा और शिक्षण का दायरा राजनीति और जेंडर से जुड़ा हुआ है। आपकी सोच को दिशा देने में उसकी क्या भूमिका रही ?**

बहुत हद तक इन विषयों ने दिशा दी है क्योंकि उससे आपको एक ख़ास किस्म की विशेषता मिलती है और चौकन्नापन भी। आपकी चेतना एक सामूहिक चेतना का हिस्सा बन जाती है, लेकिन जब आप रचना करने चलते हैं तो उस सामूहिक ज्ञान का इस्तेमाल करते हुए भी आपको उससे आगे की स्थितियों का अनुसन्धान करना पड़ता है। कविता में भाषा का, भाषा में गद्य का, चित्रकला में रंग का, संगीत में ध्वनि का, वगैरह वगैरह क्योंकि बिना राग को जाने हुए संगीतकार कोई नया राग नहीं बना सकता।

**राजनीति आधुनिक चिन्तन की उपज भी है और उसकी सबसे बड़ी कसौटी भी। समकालीन स्त्री-अनुभव में वह शामिल है लेकिन स्त्री-कविता में उसे कितना स्पेस मिला है?**

विश्व स्तर पर जो स्त्री कविता है उसमें लगातार उन्नति होती रही है। सिल्विया प्लाथ पर मैंने कविता लिखी हैं। इसी तरह की बहुत सारी कवयित्रियाँ हैं जिन्हें पढ़कर मैं चकित होती रहती हूँ। हमारी अपनी हिन्दी में मेरा यह मानना है कि स्त्री-कविता तेज़ी से विकसित हो रही है और हिन्दी साहित्य को समृद्ध कर रही है। मैं ऐसा नहीं मानती कि वह केवल किसी विमर्श के दायरे में बँधी हुई है। विमर्श में उसकी हिस्सेदारी है और उससे वह लाभान्वित भी हो रही है, लेकिन कविता कभी स्त्री विमर्श का हिस्सा बनकर अपने को प्राप्त नहीं कर सकती। उसे अपनी विशिष्ट विकासशील यात्रा करनी होगी। उसे समाज, देश और सभ्यताओं को विकसित करना होगा। वह नये-नये विमर्श बनाएगी-चिन्तन का दायरा, फलक विस्तार पाएगा यह हमारी सामाजिक आर्थिक मनोवैज्ञानिक यथास्थितियों को बदल कर ही रुकेगा। राजनीति की समझ भी इससे बदलेगी। स्त्री एक नागरिक है, सिर्फ़ पत्नी या दोस्त नहीं यह तभी हो सकेगा जब उसे एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में मान्यता मिलेगी। कविता लिखना उसी दिशा में एक उपक्रम है।

**अभी जैसे आपने कहा कि कवि को सजग रहना है तो आपकी कविता में सजगता तो दिखाई पड़ती है। आपके यहाँ भावना की गहराई भी है और विचार की ऊर्जा भी लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण है आपकी भाषा एक-एक शब्द जैसे साभिप्राय प्रयुक्त होता है और वाक्य में शब्द का स्थान एक विस्तृत रूपक रच देता है। यह काव्य-साधना, शब्द-साधना स्वयं-सिद्धा है या कठिन अभ्यास से अर्जित हुई है? अपनी काव्य-प्रेरणा और रचना-प्रक्रिया के विषय में कुछ बताइये?**

रेखा, यह सबसे महत्त्वपूर्ण और सबसे बड़ा सवाल है। बहुत सारे लोग अपनी रचना प्रक्रिया के बारे में बताते हैं। मानिए पीला रंग, जब एक पेंटर पीले रंग को कैनवस पर ले आता है, या आती है तो अनुभव और संवेदना के स्तर पर वो एक ख़ास किस्म का पीला रंग होता है, उस चित्रकार का पीला रंग। उससे वह जुड़ी हुई होती है। पीला रंग कोई एक रंग नहीं है, उसमें न जाने कितने रंग है इसीलिए जब मैं नीले रंग के बारे में बात करती हूँ तो मैं बताती हूँ कि नीला कोई एक रंग नहीं है। रात का रंग सिर्फ़ काला नहीं होता। काला भी कोई एक रंग नहीं। यानी सब हमारे देखने की दृष्टि से संचालित एवं आबद्ध है। यथार्थ में जो अनुस्यूत भिन्नताएँ होती हैं उसे हमारी संवेदनात्मक दृष्टि कैसे देखती है यह सब उसी पर निर्भर है। उससे हमारा और हमारे शब्दों का क्या सम्बन्ध है? जब हम शब्दों का चयन करते हैं तो हमारा आन्तरिक अनुभव उसी समय विस्तृत हो जाता है। यह लगातार चलनेवाली एक प्रक्रिया है। हमें कोशिश करनी पड़ती है कि उस समय जो महसूस किया जा रहा है उसे अभिव्यक्त कैसे करना है। कविता में अनुभव के आधार पर भी शब्दों का चुनाव किया जाता है। वे शब्द इतने सटीक होने चाहिए कि पाठक को भी यह भ्रम होने लगे कि यह उसके अनुभव का हिस्सा है। कविता एकदम आपके भीतर तभी उतरती है और जब उसमें बहुत सारी और चीज़ें दिखने लगती हैं। कभी-कभी एक परत पर आप टिककर कुछ कह रहे होते हैं और पाठक के मन में दूसरी, तीसरी, चौथी कोई और परत खुल जाती है। इस तरह कविता की प्रक्रिया सिर्फ़ व्यक्तिगत प्रक्रिया नहीं है जो आपके भीतर चल रही है। आपके पाठक, आपका समाज, आपकी भाषा का इतिहास सब एक-साथ काम कर रहे होते हैं। बहुत सारी चीज़ों को तो वह कहती भी नहीं है केवल इंगित करके छोड़ देती है। बाकी सब तो बाकी लोग कहते हैं और यही कविता की शक्ति भी हैं कि वह दूसरों को भी बोलने के लिए प्रेरित करे, दूसरों की अभिव्यक्ति में उन्हें अभिव्यक्त कर दे। कविता सामूहिक मुक्ति का संघर्षरत स्वप्न है जिसमें सभी लोग बेझिझक शामिल रहते है— हो सकते हैं। यहाँ लैंगिकता की राजनीति और भी उत्कृष्ट ढंग से चलती रहती है— लगातार हम अपनी संकीर्णताओं को चीरते हुए व्यापक जीवन की तरफ़ बढ़ते हैं। स्त्री में यह विशेषता है— वह सर्जक है और इस अर्थ में समावेशी भी।

**समकालीन कविता की परम्परा में, अपने युग के अन्य कवियों की तुलना में स्त्री रचनाकारों की कविता का मूल्यांकन आप कैसे करेंगी?**

मैं जब अन्य कवियों को पढ़ती हूँ तो मेरे सामने कई चित्र अपने बिम्बों के ज़रिए उभरने लगते हैं— कई आईने आने लगते हैं जिनमें मैं अपना चेहरा और अपनी स्थिति देखती हूँ। मेरे लिए यह बहुत ही अन्तरंग अनुभव होता है। जैसे जब आप महादेवी को पढ़ते हैं तो शुरू में उनकी आलोचना इस तरह हुई कि उनके यहाँ संघर्ष से ज्यादा व्यक्तिगत सन्ताप है, लेकिन उस सन्ताप-विलाप का स्वर इतना करूण है कि वह स्त्री को ज़्यादा छूता है या पुरुष को यह भी समझने की बात है। किसी भी कविता का पाठ एक राजनीतिक मसला भी है। आप स्त्री कवि को कहाँ से पढ़ रहे हैं, उससे यह बात साफ़ हो जाती है कि आपका पाठ कैसा होगा। मैं जब स्त्री कवि को पढती हूँ, गगन गिल पर मैंने इधर लिखा भी है, उसमें से मुझे एक ऐसी गूँजती हुई आवाज़ आती है जो अपनी ही छूटी हुई आवाज़ लगती है। मेरा ख्याल है कि स्त्री कविता चाहे वो जिस दौर में लिखी गयी हो, मीरा की कविता हो या अक्क महादेवी की, उन सबको पढ़ते हुए लगता है कि यह मेरी अपनी ही कविताएँ हैं, मेरी छूटी हुई आवाज़ जिसे सहज ही अपना लेने को जी चाहता है।

**समकालीन कविता से मेरा आशय कविता की उस धारा से था जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों हैं और उसमें यदि हम स्त्री-कविता को अलग से न देखना चाहें तो उसमें उसे कैसे प्लेस करेंगे?**

निर्भर करता है कि यह कौन कर रहा है। यह राजनीति है रेखा, कौन उस कविता को पढ़ रहा, कौन किसको आगे बढ़ा रहा है, कौन किसको पीछे धकेल रहा है, इसको समझना ही पड़ेगा। कविता आपके सच की आवाज़ है, जब आप ऐसी किसी विधा में लिख रही होती हैं तो यह आवश्यक है कि आपके अन्दर एक स्वच्छता हो, सच्चाई हो उसकी आभा हो कम से कम उसे पढ़ते हुए और परिभाषित करते हुए भी हमें चाहिए कि कविता इसके अपने इतिहास और भूमिका के सन्दर्भ में पढ़ें, लेकिन ऐसा नहीं हो रहा। यही चिन्ता का विषय है। जो लोग इस समय सक्रिय हैं यह उन लोगों की कमी है कि वे उन चीज़ों पर बात नहीं कर रहे। कोई एक अच्छी स्त्री कविता किसी भी पुरुष को पसन्द आनी चाहिए और कोई अच्छी कविता जो किसी पुरुष द्वारा लिखी गयी है वह स्त्रियों को पसन्द आनी चाहिए, इसमें कोई मुश्किल नहीं है, लेकिन उसका समय पर बहस और विश्लेषण भी होना चाहिए। पंकज सिंह की स्त्री पर लिखी कविताएँ किसे पसन्द नहीं आएँगी या फिर विष्णु नागर की माँ पर लिखी कविता बेमिसाल लगती है। कुमार अम्बुज की बहनों पर लिखी कविता भी एक ऐसा ही उदाहरण है। मंगलेश जी के यहाँ भी माँ पर एक कविता है जो ज़ेहन में रहती है। असद ज़ैदी की अधिकतर कविताओं की मैं अच्छी पाठिका हूँ। विजय कुमार की 'एक कविता मार खाई हुई औरत' या फिर लीलाधर मंडलोई की माँ पर कविताएँ इतनी करुणा हैं कि आप यहाँ ज्यादा फ़र्क नहीं कर सकते, स्त्री-पुरुष भावना में। हमारे सीनियर पुरुष कवियों की कविताएँ अपनी विलक्षणता में हम सबको भाती हैं, कुँवर जी हों, केदार जी या फिर विनोदकुमार शुक्ल और प्रभात त्रिपाठी जी या फिर विष्णु खरे। वैसे ही अनीता वर्मा, निर्मला गर्ग, कात्यायनी, नीलेश, सविता भार्गव, विपिन चौधरी— सबके यहाँ सामान्य सामाजिक चेतना पर लिखी कविताएँ पुरुष कवियों को खूब भाती हैं। यहाँ स्त्री विमर्श की तलाश वे नहीं करते, लेकिन जहाँ स्त्रियों का संसार अपनी स्व-चेतना में कविताओं में खुलता है, उसकी चमक ही विशेष होती है।

**क्या आपको लगता है कि हिन्दी आलोचना ने स्त्री-रचनाकारों को साहित्य की मुख्यधारा में उचित स्थान नहीं दिया?**

निश्चित तौर पर उचित स्थान नहीं मिला, उसकी आलोचनात्मक प्रवृति नहीं है जिससे उसे समझें। आलोचना बातचीत के लिए एक आधार देती है जिस पर आप सभी सहमत हो सकते हैं कि यह कविता यह कह रही है। अगर आप अभी समकालीन स्त्रियों को पढ़ें तो लगेगा कि उसमें एक स्वर है जो उनका है, क्योंकि वो उनके अनुभवों से आ रहा है और वे अनुभव सार्वभौमिक भी हैं क्योंकि स्त्री कहीं भी हो किसी भी वर्ग की, किसी भी धर्म की, उसे पितृसत्ता दमित करती है। इसलिए स्त्रियों का अनुभव एक स्तर पर एक किस्म का अनुभव होता है। लेकिन उसके बाद उसमें बहुत सी भिन्नताएँ भी हैं। अगर यह सत्य कोई मिस कर जाए तो कविता समझने में दिक्कत होगी। यदि किसी स्त्री कवि को यह कहा जाए कि उसकी कविता तो पुरुषों की तरह है या सामान्य साहित्य की तरह तो इस बात को शाबाशी की तरह थोड़े ही लेना चाहिए। इसको इस तरह से लेना चाहिए कि कहीं आलोचना ने अपना काम नहीं किया और आपको वह भाषा और वह समझ नहीं दी जिससे आप पहला कदम या दूसरा कदम पार कर सकें और दूसरे स्तर पर जाकर बहस करें। मेरा अपना मानना है कि स्त्रियों की कविताओं की बहुत ज्यादा चिन्ता इस आलोचना में नहीं रही है, लेकिन मैं यह भी मानती हूँ की अब जो आलोचना हो रही है उसमें यह चिन्ता भी है, संवेदना भी और समझने की कोशिश भी। इसलिए निराश होने की कोई ज़रूरत नहीं है।

**आपने साहित्य आलोचना के क्षेत्र में भी सक्रिय हस्तक्षेप किया है और कुछ रचनाओं का स्त्री-पाठ कर उसे एक नये जेंडर लेंस से देखने की कोशिश की है? क्या इस तरह के पाठ आलोचना के नये प्रतिमान बन पाएँगे?**

इधर मैंने एक बहुत छोटी कोशिश की है और उसकी सराहना हुई है जिससे पता चलता है कि ऐसी आलोचना की कमी है हिन्दी में। मैंने जो कोशिश की, जो आलोचनात्मक टिप्पणियाँ अब तक स्त्री कवियों पर की गयी हैं उनसे अलग कुछ देखूँ, जैसे नीलेश की ज़्यादातर कविताओं को जो प्रशंसा मिली वह उसके वर्ग विश्लेषण के कारण। नीलेश एक ख़ास वर्ग से आती हैं और उस अनुभव को उन्होंने कविता में पिरोया, लेकिन मैंने उनकी कविताओं में उस स्वर को ढूँढ़ा जिसे स्त्री स्वर कह सकते हैं। अगर आप उन्हें पढ़ना चाहते हैं तो उनकी स्त्री को आप अनुपस्थित नहीं कर सकते। इसी तरह गगन गिल के बारे में मैंने लगातार देखा कि लोग उनकी आलोचना करते हैं कि वे अँधेरे में चली गयी। बुद्ध की ओर चली गयी हैं और यथार्थवादी जीवन से उनका सम्बन्धविच्छेद-सा हो गया है। लेकिन जब मैं उन्हें पढ़ती हूँ या उनका पाठ करती हूँ तो पाती हूँ कि वे कहीं नहीं गयी हैं। अपने ही स्पेस में हैं। एक स्त्री के स्पेस में। उनका जीवन जो उनकी वेदना का स्रोत है वो उनके स्त्री होने को लेकर ही है। सन्तान न होने का भयानक दु:ख उनके भीतर है और उनकी कविताओं में भी अभिव्यक्त होता है। कोई भी स्त्री उस स्वर को समझ सकती है और उसके बाद वे देखतीं हैं कि इस दु:ख से निजात पाने के लिए उन्हें एक दूसरी कॉस्मोलोजी का ही सृजन करना होगा। उस तलाश में वे बुद्ध के पास जाती हैं क्योंकि उन्हें लगता है कि दुख को पहचानने की एक दार्शनिक दृष्टि यहाँ है। इसलिए यह पाठ बहुत अलग है। आप इस विषय को बिना समझे उनकी आलोचना करके उनको ख़ारिज करते रहिए तो आप उनकी कविताओं को नहीं पढ़ सकेंगे।

आप उन कविताओं को भी ख़ारिज कर देंगे जो महत्त्वपूर्ण कविताएँ हैं। स्त्री चेतना के लिए यह उसकी अपनी दिशा है। उसे समझने के लिए आपको इस तरह के पाठ से मदद मिलेगी।

**कविता या साहित्य को जेंडर लेंस से देखने के क्या लाभ हैं और उसकी क्या सीमाएँ हैं ?**

लाभ यह है कि आप सत्य के थोड़ा करीब होंगे और आपकी समझ आपके पाठ को अन्तर्दृष्टि से सम्पन्न करेगी। उसकी सीमा यह इसलिए नहीं बन सकता क्योंकि यह उसको स्त्री विमर्श में कैद करने के लिए नहीं किया गया, किया गया है पाठ को खोलने के लिए। इसको एम्पेथेटिक रीडिंग या सहानुभूतिपरक पाठ कहते हैं जो मैंने किया है। स्त्रियाँ ज्यादा आसानी से ऐसा पाठ कर सकती हैं (पुरुष भी चाहें तो ऐसा पाठ कर सकते हैं लेकिन इसके लिए उन्हें अपने को थोड़ा बदलना पड़ेगा) मैं यह मानती हूँ कि यह पाठ मैंने यह स्थापित करने के लिए किया कि स्त्रियों द्वारा लिखी गयी कविताओं का पाठ थोड़े अलग ढंग से होना चाहिए, क्योंकि जिस चेतना की वे उपज हैं उसमें उसका स्त्री होना केन्द्र में है। अगर आप इसको नदारद कर देंगे तो आप उसके आसपास तो पहुँच सकते हैं, लेकिन बहुत करीब नहीं जा सकते और पाठ को खोलना बहुत ज़रूरी है। ख़ासकर आज आलोचना की जो स्थिति है वह स्त्रीवादी नहीं है उसमें स्त्री के प्रति वह संवेदना नहीं है। मेरा ख़याल है कि जब इस तरह के कुछ और पाठ होंगे तो पाठ करने का जो यह ढंग है वह हिन्दी आलोचना में ज़रूरी तौर पर शामिल हो जाएगा और इस अर्थ में यह हो सकता है कि यह प्रतिमान बने। लेकिन उसकी मुझे ज्यादा चिन्ता नहीं है। मुझे केवल इस बात में रूचि है कि जब हम इन कविताओं को पढ़ते हैं तो उन्हें थोड़ा करीब जाकर पढ़ सकें।

**स्त्री कविता की सबसे बड़ी उपलब्धि क्या हो सकती है? क्या हमारा समाज 'जेंडर सेंसेटिव' होने की जगह कभी 'जेंडर न्यूट्रल' हो सकेगा यानी आप स्त्री हैं या पुरुष इससे कोई अन्तर न आये और आपकी पहचान व्यक्ति रूप में हो?**

पहला कदम तो हमारा होना चाहिए जेंडर संवेदनशीलता का यानी कि एक संवेदना होनी चाहिए जिससे यह समझा जाए, कि दो लैंगिक समुदायों के बीच सम्बन्ध ठीक-ठाक नहीं हैं। इनको ठीक करने के लिए जेंडर सेंसिटाईज़ेशन ज़रूरी है। आज बहुत सारा लेखन जो हम कर रहे हैं वह उस संवेदना को पैदा कर रहा है, लेकिन जेंडर न्यूट्रल होना एक बहुत बृहत किस्म की ऐतिहासिक-सामाजिक प्राप्ति होगी। जेंडर न्यूट्रल यानी जेंडर अन्ध या निरपेक्ष वही समाज हो सकता है जहाँ जेंडर की असमानताएँ समाप्त हो चुकी हों। स्वीडन वगैरह ख़ास कर नॉरडीक देशों में जेंडर निरपेक्ष नीतियाँ बन रही हैं। यह बहुत ही प्रसन्न करनेवाली बात है क्योंकि जेंडर के स्तर पर उनके समाज में जो असमानताएँ थीं उन्हें उन्होंने ख़त्म करने की कोशिश की है। कैसे? औरतों के लिए सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि पितृसत्ता ने हमारे समाज को श्रम विभाजन के आधार पर विभाजित किया है। बहुत ही ठोस ढंग से स्त्री और पुरुष को असमान बनाया है। हम कौन से काम करते हैं उससे निश्चित होता है कि समाज में हमारी भूमिका क्या होगी। अगर स्त्री जानवरों से भी ज्यादा काम करती है हमारे देश में (जिसके लिए आँकड़े भी है) और वो काम इतने भारी काम हैं कि अगर वे न किये जाएँ तो दूसरे काम भी नहीं हो सकते तो इससे क्या असमानताएँ पैदा हो रही हैं, इसे तो समझना ही पड़ेगा। बात यह है कि इसके बावजूद उसके श्रम का मूल्य नहीं। स्वीडन जैसे देशों में आप पाएँगे कि जेंडर के आधार पर इस तरह के विभाजन को समाप्त करने की कोशिश की गयी है। वहाँ पर वेल बीइंग की बात होती है यानी हम कैसे स्वच्छ जीवन जिएँ, घरेलु काम कौन करेगा इत्यादि? वह किस तरह बँटेगा, सरकार सिर्फ़ स्त्रियों को ही प्रसूति के लिए छुट्टी देगी या पुरुषों को भी छुट्टी देगी। अगर बच्चे हैं तो पिता को भी छुट्टी मिलनी चाहिए। एक दिन में कितने घंटे काम किया जाना चाहिए जिससे कि आपकी मनुष्यता विकसित हो। जब आप इस तरह से विचार करने लगेंगे, जब सारा समाज ऐसे सोचेगा तब वहाँ अर्थव्यवस्था या पितृसत्ता पर टिकी असमानताएँ सुलझने लगती हैं। हमारे देखते-देखते यह हुआ है कि जेंडर निरपेक्ष नीतियाँ बन रही हैं। इसीलिए जेंडर निरपेक्षता को हासिल किया जा सकता है। अगर हम जुट जाएँ कि हम उन चीज़ों को अपने समाज से दूर करें, निकाल बाहर करें जो हमें असमान बनाती हैं तब हम एक साथ गरिमापूर्ण समाज में गरिमा के साथ जीने वाले स्त्री-पुरुष बना ही सकेंगे।

**आपकी सभी रचनाओं पर आपको पाठकों से बहुत प्यार मिला, उन्होंने आपकी कविता से एक साझेदारी महसूस की और आलोचकों ने भी इस कविता में विश्वास व्यक्त किया, इससे आपके रचनाकार मानस की कितनी तुष्टि होती है? इतने सब प्यार और सम्मान के बाद भी क्या आपको कभी ऐसा लगा कि साहित्यिक जगत में स्त्री रचनाकार होने के नाते असमानता का दंश झेलना पड़ा हो?**

मैंने जो अपना प्रस्थान बिन्दु चुना था उसे घोषित तौर पर मैंने स्त्रीवादी कहा था, कि मैं एक स्त्रीवादी कवयित्री हूँ और मुझे उसी तरह पढ़ा जाना चाहिए। उसकी वजह से लोगों ने गम्भीरता से पढ़ने की कोशिश की इसलिए एक विशेष दृष्टि मुझ पर पड़ी। मैं शुरू से यह माँग करती रही, खासकर जिस तरह मैं लिखती रही। एक नयेपन के साथ ठोस ढंग से अपनी बात कहती रही उसे प्रशंसा मिली है। शुरू से ही इतना तो मुझे ज़रूर मिला है और इसीलिए मैं अपनी आलोचना में सकारात्मक ढंग से ही पहल करती रही हूँ।

अपने पहले काव्य संग्रह 'अपने जैसा जीवन' पर सुधीश पचौरी जी ने जो लिखा उसे तो मैं कभी भूल ही नहीं सकती। वह मेरे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। केदार जी ने भी लिखा, नामवर जी भी बोले, हालाँकि नामवर जी इस बात पर अटके कि मुक्ति का प्रश्न स्त्री के लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है पुरुषों के लिए क्यों नहीं? मैं मानती हूँ कि मुक्ति का प्रश्न पूरी मनुष्यता के लिए है लेकिन स्त्री के लिए यह और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि लैंगिक आधार पर वह दमित हैं, और इसे समाप्त करने के लिए वह संघर्ष करती है। मैंने इस प्रश्न को बार-बार उठाया है तो यह सही है कि अपने पहले संग्रह से ही मुझे बहुत सम्मान, ख़ास किस्म का रेकॉगनिशन मिला जिससे मैं उत्साहित भी हुई कि मैं इस दिशा में और लिखूँ। अगर मुझे आलोचना भी मिलती तो भी मैं लिखती रहती लेकिन तब शायद मेरी कविता और मेरे स्व का विकास इस रूप में नहीं हो पाता। आलोचना होती है तो आप उसका जवाब देने की सोचते हैं। लेकिन मुझे लगातार प्रशंसा मिली। मेरा दूसरा संग्रह 'नींद थी और रात थी' जब आया तो उसकी भाषा को चिह्नित किया गया। मुझ पर बहुत ज्यादा धयान दिया गया तो तुष्टि तो क्या कहूँ लेकिन यह ज़रूर है कि हिन्दी कविता में स्त्री कविता के लिए यह आह्लादित करने वाली बात है। इसीलिए मैं डिसक्रिमिनेटिड तो नहीं महसूस करती हाँ, यह ज़रूर है कि मेरे वर्ग को लेकर या मेरे विदेशी अनुभवों को लेकर हिन्दी में थोड़ी असहजता प्रकट की गयी है। लेकिन जैसा मेरा मनना है कि मैं हिन्दी में सिर्फ़ हिन्दी की ही बातें क्यों लिखूँ? यह तो भाषा का ही अपमान है। इस भाषा में हर तरह के अनुभव आने चाहिएँ अगर यह हिन्दी कवयित्री का अनुभव है। वह अपने अनुभव को अवश्य प्रकट करेगी यदि यह उसका अनुभव है। भाषा उससे उन्नत होगी। अगर हम अपने विविध अनुभवों को न लाएँ तो भाषा उससे संकुचित होगी। यह एक इलाका है जिसको ध्यान में रखते हुए अशोक पांडेय ने लिखा है, प्रांजल ने, अविनाश मिश्र आशुतोष सबने बहुत बढ़िया लिखा है कि स्वप्न क्या है, अँधेरा क्या है? उसकी पूरी राजनीति को खोलकर उन्होंने सामने रखा है। इस तरह वरिष्ठ कवियों-आलोचकों से लेकर जो नए कवि और आलोचक हैं उन्होंने मेरी कविताओं पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ की और उनका प्यार और सम्मान मुझे मिला इसलिए मैं असन्तुष्ट कैसे हो सकती हूँ। मुझे लगता है कि ठीक-ठाक यात्रा हो रही है।

**एक कवि की हैसियत से आपकी क्या इच्छा होगी कि आपकी कविताओं को कैसे याद किया जाए किसी अस्मिता से जोड़कर या फिर विशुद्ध साहित्यिक रचना के रूप में ?**

नहीं, मैं चाहूँगी कि मुझे एक स्त्री के रूप में याद किया जाए। मेरी कविताओं को स्त्री कविता के रूप में पहचान मिले क्योंकि मैं उसी तरह लिख रही हूँ। मैं कभी नहीं भूलती कि मैं एक स्त्री हूँ और एक ऐसे समाज में रह रही हूँ जहाँ असमानता की गज़ब-गज़ब किस्म की प्रविधियाँ हैं। मतलब कि इस समाज ने नयी-नयी किस्म की असमानताओं का अनुसंधान किया है। ख़ासकर हमारे यहाँ जो जातिवाद है वह हमारी सोच को संकटग्रस्त करता है। मैं अभी कुछ पढ़ रही थी तो उसमें एक जगह यह बात आती है कि अमेरिका में एक शोध के दौरान श्वेत और अश्वेत स्त्रियों को एक प्रश्न दिया गया कि जब वे आईने में अपने आप को देखती हैं तो क्या देखती हैं? ज़्यादातर श्वेत स्त्रियों ने कहा कि वे एक स्त्री को देखती हैं जबकि अश्वेत स्त्रियों ने कहा कि वे एक अश्वेत स्त्री को देखती हैं। तो यह जो भिन्नताएँ है उनको अपनाते हुए उनके दर्द को अपने में समाहित करते हुए मैं यह कहना चाहती हूँ कि जो मैं अपने को एक स्त्री कवि के रूप में देखती हूँ, चाहती हूँ कि मुझे एक स्त्री होने के कारण जिन स्त्रियों से रू-ब-रू होना पड़ता है उनके दर्द को भी समझा जाए। मैं चाहूँगी कि मुझे स्त्री कवि के रूप में ही याद किया जाए जो सवर्ण जाति से होती हुई भी अपनी संवेदना में उन स्त्रियों की संवेदनाओं को शामिल करके चलती है जो जाति या वर्ण के कारण बहुत ज्यादा शोषित और अपमानित हुई हैं। मैं चाहूँगी कि मुझे इसी रूप में याद किया जाए।

**सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से आने वाले समय में स्त्री कविता क्या भूमिका निभाएगी ?**

सामाजिक परिवर्तन में स्त्री कविता अपनी भूमिका निभाएगी क्या, वह निभा रही है। वह सबके बीच यह चेतना स्थापित कर रही है कि हर मनुष्य चाहे वह कहीं हो वह चाहता है कि उसकी गरिमा हो। उसे न्याय मिले, उसके निम्नतर होने की चेतना को निरस्त किया जाए। बहुत सारी स्थितियाँ जो हमारे लिए तकलीफदेह हैं— हिकारत, असामनता, हिंसा, अन्याय, इन सबमें परिवर्तन लाने का काम हिन्दी की स्त्री कविता कर रही है और सिर्फ़ राजनीतिक ढंग से ही नहीं, दर्शन और सभ्यता विमर्श के तहत भी वह उस काम को कर रही है। मुझे अपने समकालीन स्त्री कवियों से बहुत उम्मीदें हैं और उन्हें मैं बहुत प्यार से पढ़ती हूँ।

**मो.: 9810985759**

**भूल-सुधार**

नया ज्ञानोदय मई 2017 अंक में पृष्ठ 82 पर 'संवाद परिणति' स्तम्भ के अन्तर्गत एक लेख छपा है— स्थायी रेखांकन में दर्द की अटूट भूमिका (नीरज दइया की चित्रकार सीरज सक्सेना से बातचीत के आधार पर)। दरअसल, यह आलेख संवाद पीयूष दईया का है। इसे पाठक सुधार कर पढ़ें।)

# कविता समय

उमाशंकर चौधरी

## और इस तरह यह समय

हम रह रहे हैं एक खतरनाक समय में
इस एक वाक्य को मैं लिखता हूँ जितनी बार
यह वाक्य होता जाता है उतनी बार और भी खतरनाक
और मैं हो जाता हूँ उतनी ही बार
और भी सशंकित
और इस समय के पैबन्द को दुरुस्त करने
बिलों से निकलने लगते हैं ढेर सारे बुलबुले

प्रधानमन्त्री अपने प्रशंसकों के बीच
बजाते हैं बाँसुरी
लेकिन इस खतरनाक समय में नहीं निकलती है
उससे कोई मधुर आवाज़
प्रधानमन्त्री इस खतरनाक समय पर करने लगते हैं चिन्ता
और यह समय होता जाता है और भी खतरनाक

मैं जितनी बार लिखता हूँ यह वाक्य
उतनी बार भीड़ में कर लिया जाता हूँ चिह्नित
उतनी बार मेरी तरफ़ बढ़ने लगते हैं हाथ
उतनी बार पेड़ से झड़ जाते हैं ढेर सारे पत्ते

मैं लिखता हूँ समय को खतरनाक
और लोगों की भीड़ पीटने लगती है मेरा दरवाज़ा
माँ की गोद में दुबक जाती है तीन साल की मेरी बेटी
भाप बनकर उड़ने लगती है कच्चे पत्तों पर
सुबह-सुबह गिरी हुईं ओस की बूँदें
मेरे सामने खड़ा हो जाता है
सरकार का एक नुमाइन्दा, एक वरिष्ठ मन्त्री और एक दिन
ख़ुद इस देश का प्रधानमन्त्री

मुझसे पूछा जाता है मेरा नाम
मेरा रंग, मेरी पहचान
मेरी भाषा, मेरी आत्मा और मेरा उसूल
और इस तरह यह समय
मेरे लिखने न लिखने से परे और भी हो जाता है खतरनाक।

## लौटना

सच के लिए मैंने टेलीविजन देखना चाहा
परन्तु वहाँ अँधेरा था
आज के अखबार के सारे पन्ने भी कोरे थे
आसपास प्रधानमन्त्री की भी कोई आवाज नहीं थी
सच के लिए मैं बच्चों के पास गया
बच्चे गुलेल चलाना सीख रहे थे
कुत्ते गहरी नींद में थे उनके मुँह पर मक्खियाँ थीं

इस लोकतन्त्र में सच जानना मेरा मौलिक अधिकार है
यह सोच मैं प्रधानमन्त्री के दफ्तर तक गया
वहाँ प्रधानमन्त्री नहीं थे
प्रधानमन्त्री के दफ्तर में मेरी जिज्ञासा को रख लिया गया
बाहर पेड़ों से पत्तियाँ झड़ी हुई थीं



वहाँ ढेर सारी बत्तियाँ थीं
सभी जल रही थीं और सभी में रोशनी थी

सामने भीड़ थी उस भीड़ में बहुत शान्ति थी
सभी लोग आसमान की तरफ़ ताक रहे थे
पेड़ पर चिड़िया अलसायी हुई थी
पौधे ज़मीन से अपना भोजन खींच रहे थे
जिसकी बहुत मद्धम परन्तु बहुत ही मधुर-सी आवाज़
उस फ़िजा में घुली हुई थी

किसान जो अपने-अपने खेतों में अपनी फसल नष्ट कर रहे थे
उन खेतों की आड़ पर खड़े होकर उन्हें देखना
इस लोकतन्त्र का सबसे भयानक अनुभव था
उस खेत में एक बिजूका था जो खेत में अब भी खड़ा था
उस पर पक्षियों की बीट थी
मैं वहाँ से लौटा और सूरज पश्चिम की तरफ़ ढल गया।

## तस्वीर

इस तस्वीर को दिखलाते हुए मैंने कहा
इस समय की सबसे भयानक तस्वीर है यह
भयानक है इसकी अभिव्यंजना

उसने रख दी मेरे सामने ढेर सारी भयानक तस्वीरें
उनमें सबसे भयानक तस्वीर थी
उस चेहरे की
जिस पर थी इस समय की सबसे क्रूर सन्तुष्टि
और एक अट्टहास

## भीड़

उसने कहा हवा
और पत्तों में जुम्बिश आ गयी
उसने कहा आग
आग की दहक बढ़ गयी
उसने कहा पानी
और बढ़ गयी नदियों में कल-कल की आवाज़

वह उठा और चलना शुरू कर दिया
हवा, पानी, आकाश, आग, पेड़, पौधे, चिड़िया
सब चल दिए उसके पीछे

वह पीछे मुड़ा, देखा इस भीड़ को
और कहा— लोकतन्त्र

## अटक जाती है आवाज़

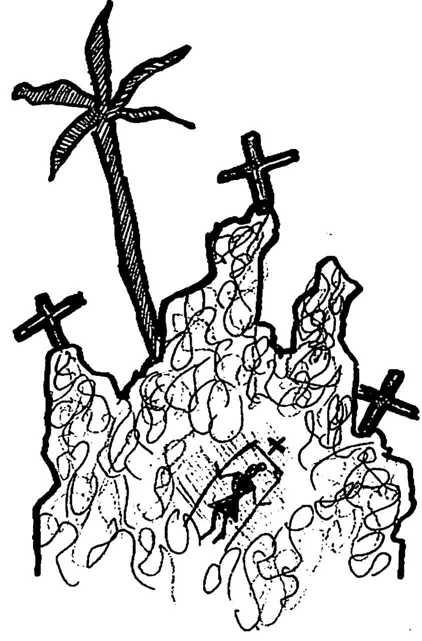
अब जबकि बहुत ही चलते मुहावरे से
व्याख्यायित हो रहा है देश
राष्ट्रप्रेम की बहुत ही सस्ती हो रही है पुनर्व्याख्या
बहुत ही बदरंग चश्मों से पढ़ा जा रहा है इतिहास
तब उस पेड़ पर बैठी चिड़िया की आँखों में
सबसे अच्छा देखा जा सकता है इस देश का नक्शा
इस देश का अक्स

वह नौजवान चिल्लाना चाहता है
इतिहास के बदलते जा रहे शब्दों को देखकर
और उसके गले में अटक जाती है आवाज़
या अटका दिया जाता है उसके गले में एक गुटका
यहाँ शोर बहुत है
शान्ति के लिए दबानी पड़ती है गोरैये की आवाज़
पेड़ पर शान्त बैठे गोरैये को अपने मुँह में दबा लेता है बाज

यहाँ शोर बहुत है
और पक्षी चैन की नींद सो नहीं पा रहे हैं
बच्चा बड़ा होकर जानना चाहता है अपना इतिहास
इतिहास के पन्नों पर दीमक लग गयी है

इस चलते मुहावरे के समय में
शब्दों के बदलते जा रहे हैं अर्थ
बदल रही है बादलों की कलात्मकता
नाखून हो रहे हैं धीरे-धीरे सफेद

घर से बाहर निकलता हूँ तो
शरीर से टकराते हैं ढेर सारे नये-नये शब्द
और शब्दों की नयी-नयी व्याख्यायें
कट गए हैं ढेर सारे पेड़
झड़ गए हैं ढेर सारे पत्ते
घबराकर लौटता हूँ अपने कमरे में
तो साथ ही लौटते हैं ढेर सारे सूख चुके झड़े पत्ते
और फिर उस कमरे में मेरे साथ भर जाती है
पत्तों की सड़ाँध



मो.: 09810229111

## सुरेश सेन निशान्त

### खेत

1.
वे खेत हैं कि
प्रदूषित नदी का किनारा
जहाँ से गुज़रते हुए
आदमी का साँस लेना भी दूभर।

उन्हीं खेतों में
कभी सोना उगने की बातें
होती थीं
अब बंजर हैं वे खेत
सरकार की ठगी कहें कि मेहरबानी
महँगे विदेशी बीज बाँझ निकले हैं
खाद बेजान मिट्टी-सी।

पिछले बैसाख में
उन्हीं खेतों में मर गये थे बैल
भूख से तड़पते हुए
इस बैसाख में
खा ली है उनके मालिक ने सल्फास

इन्हीं खेतों पर कभी
कवियों ने लिखी थीं ढेर सारी कविताएँ
उधर सरकार बनाती ही रही
नयी-नयी परियोजनाएँ
पता नहीं किसे बचाने की?

2.
उसी मरे हुए किसान के खेत को देख
एक बिल्डर के मुँह में पानी आ गया है
वह आजकल बाँटे जा रहा है उस उदास घर में
स्नेह ही स्नेह।
एक अम्बानीनुमा अमीर आदमी
सोच रहा है कि इन खेतों से कूटेगा
चाँदी ही चाँदी
वह भी लगा आया चार चक्कर
उसी उदास घर के।

गहन शोक में भी बेचारे घरवाले
गद्‌गद् हुए जा रहे हैं



उनकी इस विनम्रता पर।

3.
उधर दिल्ली तक की
पहुँच रखनेवाले सोचते हैं
कि थोड़ा बहुत मुआवजा देकर
इन सभी खेतों पर
दिल्ली तक पहुँचने के लिए
चौड़ी सड़क बन जाये
तो मजा आ जाये।

उधर शोकाकुल घरों में मृत किसानों के
तेरह से चौदह बरस तक के
उदास बच्चे हैं
जिन्हें समझानेवाला कोई नहीं
उधर वो बिल्डर फाख्ता के बच्चों-सा
फेरे जा रहा है हाथ
उनकी गर्दन पर।

4.
फिर आया है बैसाख
डरा-डरा-सा लौट रहा हूँ अपने गाँव
पता नहीं कौन से खेत में
मर गये हों बैल
आने लगी हो बदबू
पता नहीं कौन मरा हो वहाँ

खाकर सल्फास
पता नहीं किस घर में घुट रही हो
दुख में किसी परिवार की साँस।

पता नहीं कौन से घर में
बाँट रहा हो बिल्डर
स्नेह ही स्नेह

पता नहीं कौन-सा घर
छला गया हो इतना कि
कि अब बचा ही न हो कुछ
उन्हें जीने के लिए गाँव में।

जो बचे हैं
उनका भी
यहाँ से जाना
या मरना तय।

5.
ऐसा नहीं कि इन खेतों में
हमेशा ही सोग पसरा रहता था।
कभी यहाँ फसलें
ज़िन्दगी के मुँह से मुँह मिला हँसती थी
दूर क्षितिज तक गूँजते थे गीत उनके।
अब नदियाँ सूखी हुई
जंगल कट चुके हैं
बंजर खेतों में बाँझ बीजों संग
रोने को हो रहा है किसान।

पर सरकार चाहती है
ख़ूब ख़ुशी के गीत गाये हुए
फोटो खिंचवाये और
पासवाले बैंक में खाता भी
खुलवा आये।

**मो.: 09816224478**

रमेश अनुपम

*(सुदीप बनर्जी की स्मृति में)*

## हिन्दी कविता

हिन्दी कविता
जब देशज को धकियाती
और लगभग उर्दू अरबी फ़ारसी से
नाक भौं सिकोड़ती
तद्भव-तत्सम के बग़लग़ीर हो रही थी
चिड़ियों फूलों पिताओं माताओं
और ढेर सारे उबाऊ मुहावरों
लोक के कुछ उथले बिम्बों में
गले तक लिथड़ी हुई थी
तब तुम आये सुदीप
अपने साथ कुछ टटके बिम्ब
और जनता की जुबान के इर्द-गिदे
कुछ कहने की ज़िद लेकर
कविता की बाँह थामे

तुम आये सुदीप
शब ग़श्त में
सबकी चिन्ता और सुकून की
ख़ोज ख़बर लेते हुए
सबकी फ़िक्र करते हुए बराबर
एक नयी भाषा, एक नयी जुबान लेकर
जो हम अमीर खुसरो
मीर और ग़ालिब
के पास
वर्षों पहले छोड़ आये थे

तुम्हारी कविता की जुबान
और तुम्हारे कहने के अन्दाजे बयाँ ने
हम सबको बेजुबान किया
अवाक् किया हमारे आलोचक प्रवरों
और कविता के मठाधीशों को

तुम्हारी कविताओं ने
हमारे समय के अँधेरे को
और भी गाढ़ा किया
गहरा किया और भी
हमारे समय के सन्नाटे को
हमारे भीतर के उथलेपन
और हमारी कविता के नकलीपन को
और भी ज़्यादा बेपर्दा किया

क्या तुम सचमुच
किसी और ज़माने के
बाशिन्दा थे सुदीप
जो इस ज़माने में
भूलवश चले आये थे।

## तुम आये

तकरीबन सत्ताईस या अट्ठाईस साल
पुराना होगा यह वाक़्या
जब तुम बस्तर आये
कमिश्नरी के ओहदे को
पोटली की तरह बगल में दबाये
तुम आये
एक सरकारी मुलाज़िम की तरह कम
और एक सूफ़ी सन्त की तरह ज़्यादा

तुम आये
बस्तर के बीहड़ जंगलों से
बरसों से आती हुई
रुदन में शरीक होने
इन्द्रवती माड़िन शंखिनी डंकिनी
के हाहाकार को सुनने
अबूझमाड़ से उठ रही
चीत्कार को बूझने
तुम आये

आन्त्रशोध से मरते हुए
बस्तर के आदिवासी बच्चों की
फ़िक्र करते हुए
शामिल होने चुपचाप
उनके मातम में
दर्ज़ करने रोजनामचे में
आदिवासियों की बेबसी
और गहरी लाचारी को
तुम आये

तुमने हर समय
खुले रखे दरवाज़े
बस्तर के उन भोले-भाले
और निरीह आदिवासियों के लिए
जो किसी भी वक़्त
तुमसे मिलने आ सकते थे
निरापद, बिना किसी भय के
कन्धे पर कुल्हाड़ी
और लँगोटी पहने हुए
सुदूर बीजापुर, सुकमा, कोंटा से

वे तुम्हारे साथ ही
उन्मुक्त बतिया सकते थे
हँस सकते थे निर्भय
तुम्हारे साथ
जैसे पूर्वज हों वे
तुम्हारे किसी जन्म के
और अब
जब पहले से भी
ज़्यादा उदास हैं
बैलाडिला की पहाड़ियाँ
शंखिनी और डंकिनी
दरख़्त और जंगल
तुम यकायक
कहाँ चले गये सुदीप

किन दरख़्तों के पार
किन पहाड़ियों के पीछे
छिप गये हो तुम।

## तुम्हारी फितरत तो नहीं थी

यों चुपचाप आना
और चुपचाप चले जाना
तुम्हारी फितरत तो नहीं थी

जब भी आते
दोस्तों के कन्धे पर
हाथ रखकर
हँसते बतियाते
दोस्तों का हाल-चाल पूछते

हर एक दोस्त के लिए फिक्रमन्द
हर एक की चिन्ता में शरीक
हर किसी की मदद के लिए
हर समय आतुर, चिन्तातुर
केवल तुम्हीं और तुम ही
हो सकते थे सुदीप

पता नहीं
तुम किस मिट्टी
और धातु से
बने थे
दोस्तों के लिए
इस कदर मेहरबाँ
कि जीवन के आख़िरी दिनों में भी
अपने लिए कम
और दोस्तों की चिन्ता में ही
ज़्यादा रहे ग़मज़दा

दोस्त भी ऐसे
कि हर कोई आश्वस्त
हर कोई उम्मीदवार
कि चलो कोई फ़िक्र नहीं
अपने सुदीप जो हैं

पर यों चुपचाप आना
और चुपचाप चले जाना
तुम्हारी फितरत तो नहीं थी सुदीप

मो.: 09425202505

# बीज की आवाज़

प्रीति कुमारी

## हँसते हुए लोग

आज मैंने कुछ लोगों को हँसते हुए देखा
वे हँसते हैं, इसी तरह, हर रोज
कभी उनकी हँसी ठहाका भी बन जाती है
पर अधिकतर वे हँसने के लिए हँसते हैं
उन्हें ध्यान से देखने पर मालूम होता है
जैसे वे हँसना नहीं चाहते
जैसे ही वे हँसकर चुप होते हैं
ऐसा लगता है जैसे वे गुजारिश कर रहे हों
कि फिर कोई हँसने का टास्क न दे दे
और जब कभी मजबूरी में यह टास्क मिल भी जाता
तो भी हँसते
पर वैसे जैसे अब रो देंगे
इस तरह बार-बार वे इसलिए हँसते हैं
क्योंकि वे ज़िन्दा रहना चाहते हैं।

## निडर का डर

मैं लड़ती रही सारी ज़िन्दगी, अन्याय के ख़िलाफ़
लोगों ने कहा इतनी नफ़रत मत कर, मारी जाएगी
मैं नहीं मानी और लड़ती गयी
उठाती रही आवाज़ हर अन्याय के ख़िलाफ़
और सचमुच एक दिन मैं मार दी गयी
अन्याय के ख़िलाफ़ न्यायपूर्वक
मैंने सोचा था मरने के बाद भी प्रेत बनकर इन्हें डराऊँगी और
आतंकित कर दूँगी इन्हें इन्हीं के ख़िलाफ़
पर अब वे भी शायद समय के साथ आधुनिक हो गये हैं
क्योंकि अब वे प्रेत से नहीं डरते और न ही
पाप शब्द आतंकित करता है इन्हें
धर्म को तो इन्होंने अपना दास ही बना लिया है
वे अब किसी से नहीं डरते,
किसी से भी नहीं सिवाय एक के
वे डरते हैं तो सिर्फ़ एक ईमानदार व्यक्ति और उसके व्यक्तित्व से
और प्रार्थना करते हैं हर सुबह भगवान से कि कहीं
किसी ईमानदार के दर्शन न हो जाएँ।

## परछाई

मैं चलती तो वह भी चलती
मैं रुकती तो वह भी रुकती
पर फिर जैसे ही मैं दोबारा चलने को होती
वह फिर
मेरे पीछे लग जाती
मैं चाहती हूँ वह चली जाए कहीं दूर
मुझसे बहुत दूर
पर यह चाहना बस चाहत बनकर ही रह जाती
मैं उससे हमेशा अलग रहना चाहती, पर वह
चिपके रहती मुझसे जोंक की तरह
और आतुर रहती चूस लेने को मेरी सारी ख़ुशी
मैं कभी-कभी बड़े हल्के कदम बढ़ाती ताकि
जाग न जाए वो कही
पर वो तो कभी सोती ही नहीं
कभी-कभी तो मुझसे पहले पहुँच जाती है
मेरे गन्तव्य पर
और धोल देती है हवा में मेरे बदनामी के किस्से
पर ऐसा नहीं है कि वह मुझसे दूर नहीं जाती,
वह कभी-कभी मुझसे दूर भी जाती है
पर जब तक मैं उजाले में या उजाला फैलाने वाले लोगों के बीच
रहती
पर अँधेरे में आते ही फिर से दबोच लेती मुझे
अपने आतातायी पंजों से, लहु-लूहान कर देती अपनी कबरी देह
से
और इस तरह वह मुझे सजा देती है बार-बार
उस अपराध के लिए जो मैंने किया नहीं
मेरे साथ हुआ था।

मो.: 7388793749

# अन्तःकरण

*हमें अपने नश्वर शरीर का उत्सव मनाना है, तो शुरुआत नयी ज़िन्दगी को अपने में समेटने से ही होगी। 'कहाँ शुरू कहाँ ख़त्म'— यह जज़्बा तो बना ही रहेगा। जीवन का रोमांच इसी में है कि हम भरपूर जीयें और वक़्त आने से पहले ही उसे दोनों हाथों से अपने भीतर उलीच लें, जो बचा रहे अन्तःकरण में, मौन भाव में और जब मौक़ा आए वह मुखर हो उठे।*

**शैलेन्द्र शैल**

## दर्द आएगा दबे पाँव...

दर्द आएगा दबे पाँव लिए सुर्ख चिराग़
वह जो इक दर्द धड़कता है कहीं दिल से परे
— फ़ैज़ अहमद फ़ैज़

**बेटे पिंकू (सौरभ) ने** लिवरपूल से लन्दन पहुँच कर कार मैडम टुस्सॉड के वैक्स म्यूज़ियम की पार्किंग में लगा दी। उन दिनों वे एक मुफस्सिल कस्बे 'पेंसबी' में रहते थे। उसने सबसे पहले डिक्की से उषा की व्हीलचेयर निकाली। फिर मोना के साथ मिलकर उषा को उतारा और व्हीलचेयर पर बिठा दिया। अगस्त की हल्की गुलाबी ठंड थी पर उनके हिसाब से गर्मी थी। मोना ने उषा को शॉल ठीक से ओढ़ा दिया। फिर मैंने नौ वर्षीय पोती ईशानी को उतारा। सबसे अन्त में अंजलि उतरी जो उषा की परिचारिका है और चौबीसों घंटे उसकी देखभाल करती है। उसका वीज़ा बहुत मुश्किल से बना।

''मैं दादी की व्हीलचेयर पुश करूँगी'' ईशानी ने ज़िद की। मोना ने उसे बरज दिया। वह रूठकर एक ओर खड़ी हो गयी। पिंकू ने टिकटें ख़रीदीं और हम संग्रहालय की लॉबी में आ गये। लोग धीरे-धीरे सीढ़ियों से चढ़-उतर रहे थे। मैंने इधर-उधर नज़र दौड़ाई पर कोई लिफ्ट नज़र नहीं आई। तभी एक वर्दीधारी कर्मचारी ने एक दीवार की ओर इशारा किया। वहाँ दीवार के सिवा कुछ न था। उसने पता नहीं किस बटन को कहाँ से दबाया कि दीवार के बीचोंबीच बड़े ही रहस्यमय ढंग से एक दरवाज़ा खुला, जैसा अकसर फ़िल्मों में दिखाया जाता है। उसने मोना को उषा को लेकर भीतर आने को कहा। लिफ्ट जिस तरह बेआवाज़ खुली थी उसी तरह बन्द हो गयी! बाकी हम सभी सीढ़ियों से ऊपर गये। संग्रहालय के कई खंड थे। सबसे पहले हम नेताओंवाले खंड में गये। एक ओर महात्मा गाँधी, पं. नेहरू, इन्दिरा गाँधी थे तो दूसरी ओर चर्चिल, नेल्सन मंडेला, केनेडी, फिदेल कास्त्रो आदि! रानी एलिज़ाबेथ और प्रिंस फिलिप्स को तो होना ही था।

''मैं इन्दिरा गाँधी के साथ फोटो खिंचवाऊँगी।'' उषा ने धीरे से कहा। मोना व्हीलचेयर उसके पास ले गयी। पिंकू ने अपने छोटे कैमरे से फोटो खींच ली। हम आगे बढ़े तो फुटबाल

खिलाड़ी पेले और डेविड बेकहम खड़े थे। थोड़ा और आगे आए तो बीटल्स बैठे थे, हाथों में गिटार पकड़े हुए। फिर आया अभिनेता-अभिनेत्रियों वाला खंड। चार्ली चैप्लिन, मार्लिन मुनरो, एंजलीना जॉली और ब्रैड पिट्स खड़े थे। हममें से किसी को भी इनमें दिलचस्पी न थी। थोड़ा और आगे बढ़े तो दूर से ही अमिताभ बच्चन नज़र आए अपनी विशेष मुद्रा में। कन्धे पर जामावारी शॉल। उषा, राजेश खन्ना को ढूँढ रही थी। फ़िल्म 'आराधना' देखने के बाद वह उसकी दीवानी हो गयी थी। उसे न पाकर उसे थोड़ा निराशा हुई। मैंने अमिताभ के साथ फोटो खिंचवाई। मोना शाहरुख ख़ान पर फिदा थी। पिंकू को सलमान का माचो व्यक्तित्व पसन्द था। उसने अपनी जैकेट उतारी और उसके अन्दाज़ में अपने बाएँ कन्धे पर रख दी। ऐश्वर्या राय भी थी, पर उसके साथ किसी ने फोटो नहीं खिंचवाई। उषा ने कहा मेरी कुर्सी चारों के बीच लेकर फोटो खींचो। लगभग दो घंटे घूमने के बाद भी बहुत सी मूर्तियाँ अभी देखनी बाकी थीं। लौटते हुए मुझे महान भौतिक विज्ञानी स्टीफेन हॉकिंग नज़र आए, व्हीलचेयर पर बैठे हुए। मैंने उनके पास जाकर ऐसा पोज़ बनाया जैसे उनसे बतिया रहा होऊँ। फोटो खिंचवाने के बाद मैंने उषा से कहा— "देखो हांकिंग भी तुम्हारी तरह व्हीलचेयर पर है।"

"हाँ पर तुलना यहीं पर समाप्त हो जाती है। मेरे पास उन जैसा मस्तिष्क कहाँ है?" तभी मुझे लगा शायद मैंने कुछ ग़लत कह दिया है। मैं चुप रहा।

वहाँ से निकलकर हम टेम्स नदी पर बने विश्व के सबसे बड़े पैरिस व्हील पर चढ़े! उसका एक चक्र लगभग एक घंटे में पूरा होता है। इस पर एक समय में 800 लोग चढ़ सकते हैं। हल्की बूँदाबाँदी में उकसे एक कैप्सूल में खड़े हम लन्दन की इमारतों को कौतुक से देख रहे थे। वेस्टमिंस्टर ऐबी, बिना वेन नामक घंटा घर, राष्ट्रीय संग्रहालय, शेक्सपीयर थियेटर और टेम्स के तट पर बनी अन्य इमारतें।

"बचपन में हम मेले में लकड़ी के झूले पर बैठते थे और बाद में दिल्ली के अप्पू घर वाले बड़े झूलों पर भी" उषा ने कहा।

"हाँ मम्मी मुझे याद है।" पिंकू बोला। उषा की व्हीलचेयर हम दिल्ली से साथ लाए हैं। सौरभ और मोना दोनों डॉक्टर हैं।

इंग्लैंड के अधिकांश मध्यवर्गीय घर दुमंज़िले होते हैं। भूतल पर केवल ड्राइंग रूम और डाइनिंग रूम जो रसोई का भी विस्तार होता है। नीचे एक और गोलाकार काँच का कमरा, जिसे वे पता नहीं क्यों कंजरवेटरी कहते हैं। इसमें बैठकर बाहर लॉन और फूलों का मनोरम दृश्य देखा जा सकता है। प्रथम स्थल पर सोने के कमरे और अध्ययन-कक्ष। स्नान घर कमरों के साथ ही जुड़े होते हैं। सौरभ-मोना ने सीढ़ियों के सामने बाल्ग अपना बेडरूम हमें दे दिया है। सीढ़ियाँ लकड़ी की हैं और कुल मिला कर बारह-पन्द्रह रही होंगी। उषा उन्हें चढ़ नहीं सकती। सौरभ ने हमारे आने से पहले एक स्टेयर लिफ्ट किराए पर लेकर फिट करवा दी है। यह उस मायने में लिफ्ट नहीं है जैसा कि हम सब समझते हैं। इसमें सीढ़ियों की दीवार के साथ-साथ एक छोटी पतली रेल फिट कर दी गयी है। उस पर एक कुर्सी लगी है। इसके हत्थे पर एक बटन है। उषा सहारे से इसपर बैठती है ओर बटन दबाए रखने पर ऊपर पहुँच जाती है। उषा को गम्भीर संधिवात है। घुटनों के साथ-साथ हाथ और उँगलियाँ भी मुड़ गयी हैं। अत: उसका दबाव बटन से हटते ही लिफ्ट अधर में रुक जाती है। फिर से दबान से वह ऊपर पहुँचती है। ईशानी के लिए यह एक नया खेल है। दादी के ऊपर पहुँचते ही वह तालियाँ बजाती है। कभी-कभी ज़िद करती है—

"दादा मैं भी दादी की तरह कुर्सी पर बैठ कर ऊपर जाऊँगी।"

मैं उसकी ज़िद पूरी करता हूँ। हम लोग दिन में तीन बार नीचे उतरते हैं— नाश्ते, लंच और डिनर के लिए। नाश्ते के बाद हम कुछ देर तक बाहर लॉन में बैठे रहते हैं। उषा छड़ी और अंजलि की सहायता से लॉन पर कुर्सी पर बैठकर धूप सेंकती है। मैं कोई पुस्तक पढ़ने लगता हूँ। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते शायद मुझे हल्की नींद आ गयी है और मैं लगभग चालीस वर्ष पीछे अतीत में लौट जाता हूँ।

14 अप्रैल 1968 को चंडीगढ़ में विवाह के बाद हम जालंधर आ गये। एक सप्ताह बाद हम शिमला चले गये— हनीमून के लिए। मुझे यह शब्द कभी जँचा नहीं। यह समय शायद परिवार से दूर रहकर एक-दूसरे को ठीक से जान लेने के लिए बना है। हम तो एक-दूसरे को वर्षों से जानते थे। हमारे पास नया जानने को कुछ नहीं था। फिर भी मैंने दस रुपए प्रतिदिन के हिसाब से सत्तर रुपए का मनीऑर्डर भेज कर शिमला के होली डे होम में एक कमरा बुक करवा लिया था।

"शिमला मैं लगातार दस वर्ष आती रही हूँ, गर्मी की छुट्टियों में।" उषा ने कहा। उसने मुझे बता रखा था कि विभाजन के बाद जब हाई कोर्ट लाहौर से शिमला आ गया तो उसके पिता वहाँ रहने लगे! दिल्ली के पुलबंगश में उन्हें कस्टोडियन का एक घर आबंटित कर दिया गया था। तीनों भाई बहन बीजी के साथ दिल्ली रहने लगे। गर्मियों की छुट्टियों में ये लोग शिमला जाते और सर्दियों में हाईकोर्ट बन्द होने पर पापाजी दिल्ली आ जाते।

"मैं भी दो-तीन बार यहाँ आ चुका हूँ।" मैंने कहा। पहले दिन हम मॉल पर घूमे। दूसरे दिन उषा ने जाखू पहाड़ी पर स्थित हनुमान मन्दिर देखने को कहा। नाश्ते के बाद हम लोग चल पड़े। मन्दिर की सीढ़ियों के पास बनी दुकान से हमने, फूल, प्रसाद और वानर सेना के लिए केले ख़रीदे। उषा फुर्ती से सीढ़ियाँ चढ़ने लगी। मैं साथ-साथ चल रहा था। उसने चंडीगढ़ की प्रसिद्ध चीनी दुकान के बने एक इंच ऊँची एड़ी वाले सैंडिल पहन रखे थे। फिर भी वह मुझसे पहले पहुँच गयी।

शाम को फिर से मॉल। कुछ नये चेहरे, कुछ पुराने। अधिकांश नवदम्पति दूर से ही पहचाने जाते। वे नये कपड़ों में हाथों में हाथ

डाल कर घूमते हुए चलते। उषा अपना विवाह का चूड़ा जालन्धर ही उतार आयी थी। सूट भी विवाह का नहीं था। ऊपर एक स्वेटर ज़ेवर के नाम पर एक चेन। उषा को बुनाई का बहुत शौक था। छोटे भाई थे। जब इंजीनियरिंग करने के लिए मास्को जाना था तो, एक रात में ही उसने पूरी बाँहों का एक स्वेटर बुन लिया था। उसके माथे की लाल बिन्दी अवश्य उसके विवाहित होने की चुगली कर रही थी।

डिनर करने की मंशा से हम मॉल के एक गोल रेस्त्राँ के भीतर गये। घुसते ही हमें लगा कि शायद हम ग़लत जगह पर आ गये हैं। उसके ताम-झाम से वह थोड़ा महँगे किस्म का लग रहा था। एक वर्दीधारी वेटर को गिलास पानी और एक-एक मेन्यू कार्ड रख गया। पानी का एक-एक घूँट पीने के बाद हमने कार्ड खोले। विभिन्न व्यंजनों के दाम देखकर हमने पलभर के लिए एक-दूसरे की ओर देखा और चुपके से बाहर निकल आए। काउंटर पर खड़ा रिसेप्शनिस्ट ज़रूर हमें हिकारत की नज़र से देख रहा होगा।

बाहर आकर मैंने कहा, ''यह हमारे बजट से बाहर है। अभी पाँच दिन पड़े हैं। मैं कुल जमा भविष्यनिधि के छह सौ में से तीन सौ निकलवा लाया था। उसी में गुज़ारा करना है।''

''डेढ़ सौ मेरे पास भी हैं। मैंने मार्च के वेतन में से बचाकर रखे हैं।''

उषा उन दिनों फगवाड़ा के कमला नेहरू कॉलेज में पढ़ाती थी। उसक वेतन दो सौ रुपये के आसपास था।

''चलो लोअर बाज़ार चलते हैं। वहाँ सस्ते पर अच्छे ढाबे हैं। बचपन में पापा जी हमें वहीं खाना खिलाया करते थे।''

हम गेटी थियेटर पार कर नीचे की सीढ़ियाँ उतर गये। भिन्न-भिन्न प्रकार की दुकानें सजी थीं और कई ढाबे थे। हम साइनबोर्ड पढ़ते हुए आगे बढ़े! 'शिमला रेस्टोरेंट' हिमाचली रेस्टोरेंट, 'शेरे पंजाब ढाबा' आदि से व्यंजनों की गन्ध की एक कॉकटेल.सी वातावरण में फैली हुई थी। हमें बहुत भूख लगी थी और एक ढाबे में घुसने ही वाले थे कि थोड़ी दूर से तल की एक ग़ज़ल के शेर छनकर हमारे कानों में पड़े। थोड़ा और आगे बढ़े तो पाया कि ये 'लाहौरी ढाबा' से आ रही थी। हम वहीं रुक गये।

''चलो इसी में चलते हैं। खाना अच्छा हो न हो, अच्छी ग़ज़लें तो सुनने को मिलेंगी'', उषा बोली। मैं उसके पीछे हो लिया।

''भाई साहब, यह ग़ज़ल रेडियो से आ रही है या रिकार्ड लगा रखा है।'' मैंने काउंटर पर बैठे सज्जन से पूछा। वह पचास-पचपन के आसपास का रहा होगा।

''नहीं बादशाहो, एह तो एल.पी. है।''

''ठीक है, हमें तलत पसन्द है। आप इसे बदलिए मत! हम खाना भी खाएँगे और ग़ज़लें भी सुनेंगे।''

मैंने एक मेज़ की ओर बढ़ते हुए कहा। दो-तीन जोड़े और बैठे थे।

''आप के पास और किसी की ग़ज़लें भी हैं क्या?'' उषा ने पूछा।

''जी बेगम अख़्तर की है, सहगल की हैं। पर असी तां तलत दे दीवाने हाँ।''

''हमें तीनों ही पसन्द हैं। हम कुछ दिन और यहाँ हैं। आप ही के पास खाना खाएँगे, पर शर्त यह है कि आप हमें ग़ज़लें सुनाएँगे, फ़िल्मी गाने नहीं।''

''जी बिल्कुल। लगदा है तुसीं हनीमून ते आए हो।'' मैंने हाँ में सिर हिला दिया।

उषा ने पनीर पराँठा, गोभी की सब्जी और तन्दूरी रोटी का ऑर्डर दे दिया। एक के बाद एक बढ़िया ग़ज़लें सुनीं। 'ऐ दिल मुझे ऐसी जगह ले चल जहाँ कोई न हो मेरी पसन्दीदा ग़ज़ल थी।' दिल ख़ुश हो गया। खाना ठीक ठाक था जैसा ढाबों में होता है। खाना समाप्त करने के बाद भी हम कुछ देर और ग़ज़लें सुनते रहे। हमने सोचा खाना जैसा भी था, ग़ज़लें अच्छी सुनने को मिलीं।

हमारी सात दिन की बुकिंग थी पर हमने पाँच ही दिनों में सभी दर्शनीय स्थल— कुफ्री, जाखू यशोवरा, राजभवन और अन्नाडेल नाम की घाटी आदि देख लिए। इनमें से हमारे लिए कुछ भी नया न था। उषा ने वह घर भी ढूँढ लिया जिसमें वे बचपन में आकर रहते थे। शायद हम दिनचर्या की एकरसता से ऊब गये थे। छठे दिन हम जालन्धर लौट आए, घरवाले थोड़ा चकित अवश्य हुए पर सभी ने बड़ी गर्मजोशी से हमारा स्वागत किया। कुछ दिन और रहकर हम चंडीगढ़ लौट आए, जहाँ मैं उन दिनों सेवारत था।

चंडीगढ़ में उषा के माता-पिता, हमारे गुरु डॉ. इन्द्रनाथ मदान, कवि मित्र कुमार विकल और अन्य मित्र थे। उषा फगवाड़ा का कॉलेज छोड़कर चंडीगढ़ के सांध्यकालीन कॉलेज में लग गयी। यह डॉ. मदान की सिफारिश से ही सम्भव हुआ हालाँकि इस विषय में उन्होंने हम से कभी कोई बात नहीं की।

विवाह के एक वर्ष बाद ही मेरा स्थानान्तरण इलाहाबाद स्थित मध्य वायुसेना कमांड में हो गया! वहाँ जालन्धर के मित्र-अग्रज रवीन्द्र कालिया, उपेन्द्र नाथ अश्क, कौशल्या जी, नीलाभ, ज्ञानरंजन और दूधनाथ सिंह, सतीश जमाली आदि से भेंट हुई। हम लोग तीन वर्ष वहाँ रहे। बेटा सौरभ, और बेटी नताशा वहीं पैदा हुए। फिर वहाँ से कलकत्ता के निकट बैरकपुर में पोस्टिंग हो गयी। आसपास कोई कॉलेज न था जहाँ उषा को नौकरी मिल पाती। उसने वायुसेना के प्राइमरी स्कूल का दायित्व सँभाल लिया। मुझसे विवाह कर उषा को यह नुकसान हुआ कि अब वह वायुसेना के स्कूलों में पढ़ाने तक ही सीमित होकर रह गयी।

''डैडी मम्मी, आइए लंच तैयार है'' मोना की आवाज़ सुन, मैं अपने अतीत की गुहा से बाहर निकला। तीन महीनों में सौरभ-

मोना ने लिवरपूल शहर, बन्दरगाह की गोदी ब्लैकपूल, मैनचेस्टर का ट्रैफर्ड स्क्वेयर जिसमें चार थियेटर और दर्जनों रेस्त्राँ और बीसियों दुकाने थीं, दिखा दिये। एक दिन हम पहाड़ी पर बने वेल्श शहर 'लैन डुडनो' भी गये। नीचे शान्त आइरिश समुद्र बह रहा था।

एक दिन हम लंच कर रहे थे कि मैंने देखा उषा ठीक से चम्मच नहीं पकड़ पा रही है। सौरभ ने भी नोटिस किया। उषा अपनी कलाई और कुहनी बिल्कुल मोड़ नहीं पा रही थी। परिणामत: वह चम्मच मुँह तक नहीं ले जा पा रही थी। खाना मेज़ पर ही गिर जाता या प्लेट में। सौरभ अगले ही दिन सन्धिवात से पीड़ित लोगों के लिए विशेष रूप से बनाई कटलरी-क्राकरी ले आया।

दिल्ली लौटने का दिन पास आ गया। मोना-सौरभ ने हमें ढेर सारे उपहार दिये। उनसे लदे-फँदे हम दिल्ली लौटे।

स्मृतियों में अतीत लौट-लौट आता है। वर्ष 91 में मेरी नियुक्ति लुधियाना के निकट हलवारा वायुसेना स्टेशन पर हो गयी थी। उषा दिल्ली में पश्चिमी वायु कमान के एक छोटे स्कूल की प्राध्यापिका थी। हलवारा पहुँचे तो उसे वहाँ के स्कूल का भार सौंप दिया— कमांडिंग अफसर ने। सौरभ मेडीकल कॉलेज में था, नताशा दिल्ली विश्वविद्यालय में एम.ए. कर रही थी। हलवारा में हमें काफ़ी बड़ा घर मिला। उसमें हम दो लोग थे। बच्चे छुट्टियों में आते। पंजाब में आतंकवाद का बोलबाला था। किसी कार्यवश लुधियाना जाना होता तो एक वायुसैनिक बन्दूक लेकर साथ बैठता। स्क्वाड्रन लीडर पांडा वायुसेना अस्पताल का मेडीकल स्पेशलिस्ट था। उसकी पत्नी उषा वाले स्कूल में ही पढ़ाती थी। एक शाम वे हमसे मिलने आए। बातों बातों में उषा ने बताया—

''डॉक्टर मैं कुछ दिनों से देख रही हूँ कि जब मैं दस्तख़त करती हूँ तो अन्तिम अक्षर टेढ़ा होकर नीचे की ओर खिसक जाता है।''

''मैडम अभी करके दिखाइए। उषा उठी और काग़ज़ कलम ले आयी। दो तीन बार दस्तख़त किये। हर बार वैसा ही हो रहा था। डॉ. पांडा ने ध्यान से देखा और कहा।''

''मैडम दोनों हाथ अपने सामने की ओर सीधे करके दिखाइए।''

उषा ने दो-तीन बार वैसा ही किया। हर बार उसकी उँगलियों में हल्का-सा कम्पन हो रहा था।

''कोई बात नहीं आप अपना काम करते जाइए।''

अगले दिन दफ्तर में डॉ. पांडा का फोन आया।



''सर मुझे लगता है मैडम को हल्की-सी पार्किन्सन्स डिज़ीज़ है।''

शायद उसने अँग्रेज़ी के शब्द 'माइल्ड' का प्रयोग किया था! मैं पार्किन्सन के नियम से तो परिचित था पर इस रोग के बारे में नाम मात्र की जानकारी थी।

''आप अस्पताल आ जाइए मैं विस्तार से बताऊँगा।''

मैं उसके कक्ष में पहुँचा तो उसने चाय का ऑर्डर देने के बाद कहा— ''सर हमें मैडम की दवा आरम्भ करनी होगी। यह मस्तिष्क से सम्बन्धित रोग है। यह धीरे-धीरे बढ़ता है, पर इसमें कोई जानलेवा ख़तरा नहीं है।''

''यह क्यों होती है और इसके परिणाम क्या होते हैं— मैंने पूछा।'' मैं बिल्कुल आम भाषा में बताता हूँ। हमारे मस्तिष्क में डोपामीन नाम का एक तत्त्व होता है जो हमारे शारीरिक क्रिया कलापों को नियन्त्रित करता है। मस्तिष्क जब अंग-प्रत्यंगों को आदेश देता है तो वे कार्य करते हैं। इस बीमारी में आदेश ठीक से पहुँच नहीं पाते और वे तुरन्त काम नहीं करते हर काम में धीमापन आ जाता है।''

''ठीक है तुम दवा दे दो।''

''सर दवा अस्पताल में नहीं है, आपको बाज़ार से ख़रीदनी होगी।'' कहकर उसने एक पर्ची पर उषा और दवा का नाम लिख दिया।

''आप देखते रहिए, कुछ समय बाद इनके पैरों की गति भी धीमी हो जाएगी। मैडम पैर घिसटकर चलने लगेंगी।''

इसे हम 'शफलिंग गेट' कहते हैं। यह इस बीमारी का ही लक्षण है। आप दिल्ली जाकर न्यूरोफिज़िशियन को दिखा लें। वे ज़रूरी समझेंगे तो और टेस्ट कर लेंगे।

''धन्यवाद डॉक्टर, मैं ऐसा ही करूँगा।'' मैंने दवा लुधियाना से मँगवा ली। दिल्ली में न्यूरोफिज़िशियन ने भी डॉ. पांडा के निदान का अनुमोदन किया और एक और दवाई जोड़ दी।

पदोन्नति होने पर मैं एक बार फिर दिल्ली आ गया। इस बार नियुक्ति हुई वायुसेना मुख्यालय में निदेशक के रूप में। वर्ष 95 में दोनों बच्चों के विवाह हो गये। सौरभ और मोना सफदरजंग अस्पताल में कार्यरत हो गये और हमारे साथ ही रहने लगे। नताशा अपने कैप्टन पति के साथ देहरादून चली गयी। उषा की बीमारी दवा के बावजूद बढ़ रही थी पर—

धीरे-धीरे। सेवानिवृत्ति के पश्चात् हम अपने द्वारका वाले फ्लैट में आकर रहने लगे! इस बीच ईशानी भी हमारे जीवन में आ गये। नाती जय और पोती नातिन जिया बाद में आयीं। वर्ष 2005 में सौरभ-मोना को इंग्लैंड में अच्छी नौकरियाँ मिल गयीं। उषा और मैं फिर से अकेले पड़ जाए।

उषा की पूरी कहानी के लिए हमें थोड़ा और पीछे जाना होगा। वर्ष 1961 के जून की एक सुबह 'ट्रिब्यून' समाचार पत्र में बी.ए. (ऑनर्स) का परिणाम आया है। मैंने उसे खोला तो पाया कि हिन्दी में चंडीगढ़ राजकीय महिला महाविद्यालय की कोई उषा मोहिनी अवस्थी सारे विश्वविद्यालय में प्रथम आई है। साथ में उसकी फोटो छपी थी। उन दिनों मैं अपने आपको बहुत बड़ी तोप समझता था। डी.ए.वी. कॉलेज जालन्धर में मेरे प्राध्यापकों, सहपाठियों और स्वयं मुझे पूरा विश्वास था कि मैं ही प्रथम आऊँगा। चुन्नी गले में लपेटे वह लड़की कुछ ही अंकों से मुझसे बाज़ी मार ले गयी थी। परिजन, मित्र और पड़ोसी बधाई दे रहे थे। पर मैं कहीं भीतर बहुत निराश और उदास था। मुझे रोना आ रहा था। मैं चुपके से बाथरूम गया और ख़ूब रोया। जब मन हल्का हो गया तो मुँह धोकर बाहर आया और पूरी तरह से सहज दिखने का प्रयास करने लगा। पता नहीं मैं इसमें कितना सफल हो पाया। मैंने उसी समय निर्णय लिया कि मैं चंडीगढ़ जाकर एम.ए. करूँगा, जालन्धर में नहीं। मुझे उस लड़की से हिसाब चुकता करना था। यह बेहद बचकाना सोच थी। इस बात का अहसास मुझे कुछ वर्षों बाद हुआ। बी.ए. से ही मुझे एक छात्रवृत्ति मिल रही थी जो एम.ए. में बढ़कर सौ रुपए होने वाली थी। डॉ. इन्द्रनाथ मदान जालन्धर से चंडीगढ़ जा चुके थे। और बनारस से आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी प्रोफेसर-अध्यक्ष हो कर आ गये थे। माँ और पिताजी को इस पर कोई आपत्ति न थी, क्योंकि मैं उनपर नगण्य आर्थिक बोझ डालने जा रहा था।

पहले ही दिन जब मैं विभाग में पहुँचा तो पाया कि हम कुल सोलह छात्र हैं— ग्यारह लड़कियाँ और पाँच लड़के। लड़कियों में आचार्य द्विवेदी की सबसे छोटी लड़की भारती भी थी। मेरी आँखें समाचार पत्र वाली लड़की ढूँढ रही थीं। मैं उसे आसानी से पहचान गया। वह एक आम-सी लड़की थी। भीड़ में शायद आप उसका नोटिस ही न लें। छरहरे बदनवाली व मुश्किल पाँच फुट लम्बी लड़की थी रंग विवाह के विज्ञापनों वाला गोरा चिट्टा नहीं था। हाँ, गोरेपन की हदों को छूनेवाला गेहुँआ अवश्य था। उसने एक ऊँची-सी सलवार पहन रखी थी और उस पर घुटनों तक लम्बी कमीज़। गले में काली चुन्नी झूल रही थी। चेहरे पर थोड़ी संजीदगी और आँखें थोड़ी बड़ी-बड़ी। कुल मिलाकर एक ठेठ मध्यवर्गीय पंजाबी लड़की। कक्षाएँ समाप्त हुईं तो मैं थोड़ा झिझकता हुआ उषा के पास जाकर बोला—

''ऑनर्स में प्रथम आने के लिए बहुत-बहुत बधाई।'' ''ओह धन्यवाद, वह तो यूँ ही तुक्का लग गया था।'' अपनी सहेली रजनी से सटते हुए उसने उत्तर दिया।

''नहीं यह बहुत बड़ी बात है।''

''एम.ए. में अच्छे अंक आएँ तो बात बनेगी।''

कह कर मेरा उत्तर सुने बिना ही वह बाहर चली गयी।

धीरे-धीरे कक्षा दो दलों में बँट गयी। कुछ छात्र प्राचीन और मध्यकालीन साहित्य के पक्षधर्मी थे कुछ मेरे जैसे आधुनिक साहित्य के हिमायती। प्राध्यापकों में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त प्राचीन साहित्य और डॉ. रमेश कुन्तल मेघ आधुनिक साहित्य पढ़ाते थे। उषा, रजनी और नरेश पहली बिरादरी में थे। मुझे आश्चर्य हुआ जब भारती हमारे दल में आ मिली। हेमलता, चंचल और प्रेमकान्ता भी इसी में थीं। हमारे बीच एक स्वस्थ अकादमिक प्रतिस्पर्धा पनप रही थी। हम एक-दूसरे के तर्क को काटते अवश्य थे, पर एक-दूसरे का आदर भी करते थे।

सत्र के अन्तिम दिन सबको अपने-अपने शहर जाना था। केवल परीक्षा के लिए चंडीगढ़ लौटना था। पता नहीं कैसे हुआ कि उषा और मैं विभाग की सीढ़ियों पर बैठ गये और काफ़ी समय तक इधर-उधर की बातें करते रहे।

''लड़कियों का घर है, विवाह करेंगी और अपने-अपने घर चली जाएँगी। समस्या तो हमारी है। हमें नौकरी ढूँढ़नी है।'' मैंने कहा।

''क्यों क्या हम नौकरी नहीं कर सकतीं?'' वह बोली।

''कर सकती हैं पर ज़रूरी नहीं है। पति तो कमा कर लाएगा ही।''

''फिर क्या हम फिजूल में ही इतनी पढ़ाई कर रही हैं?'' इस बहस का कोई परिणाम नहीं निकल सकता था और न ही निकला।

लगभग पौने घंटे के बाद वह बोली, ''मैं चलती हूँ। बीजी नाहक परेशान हो रही होंगी। मैं समय से न पहुँचू तो वे दरवाज़े पर खड़ी रहती हैं।''

''ठीक है जमकर तैयारी करो। मेरी शुभकामानाएँ।''

''तुम्हें भी शुभकामनाएँ।''

हम साथ-साथ सीढ़ियाँ उतरे!

प्रथम वर्ष में उषा और नरेश की प्रथम श्रेणी आई थी। अमृतसर से भाई चंचल और मेरा प्रथम श्रेणी से एक-एक अंक कम आया। मैंने भीष्म प्रतिज्ञा की कि मैं इतना परिश्रम करूँगा कि द्वितीय वर्ष में सबसे अधिक अंक ला पाऊँ। लिहाज़ा मैंने अपने आपको बहुत-सी चीज़ों से वंचित कर दिया। फ़िल्में देखनी बन्द कर दीं, कॉफी हाउस जाना कम कर दिया। देर रात तक चलनेवाली कविता गोष्ठियों में भी कम शिरकत करता।

पहले पर्चे के दिन ही मैंने देखा कि उषा की उँगली पर पट्टी बँधी है। गनीमत थी कि वह बाएँ हाथ की थी। पूछने पर बताया

कि गलती से उसने नाखून के नसवाली जगह को दाँत से काट लिया है और उसमें इंफेक्शन हो गया है। अभी-अभी दर्द कम करने के लिए इंजेक्शन लगवा कर आ रही है। मैंने संवेदना प्रकट करते हुए कहा—

''बेस्ट ऑफ लक'' और दोनों परीक्षा केन्द्र में चले गये!

मेरे पर्चे बहुत अच्छे हो गये थे। द्वितीय वर्ष में मेरे सबसे अधिक अंक आये। प्रथम के एक अंक की भरपाई करते हुए अच्छे अंकों से प्रथम श्रेणी आई। उषा के प्रथम श्रेणी से आठ अंक कम रह गये। शायद उसकी उँगली की इंफेक्शन और दर्द के कारण ऐसा हुआ। हम लोग सितम्बर में कावोकेशन पर मिले। मैंने उसे बताया कि मैं भारतीय वायुसेना की प्रशासनिक सेवा के लिए चुन लिया गया हूँ और शीघ्र ही प्रशिक्षण के लिए जानेवाला हूँ। उस भेंट के बाद उषा से मेरा सम्पर्क बिलकुल टूट गया!

कमीशन पाने और रूसी भाषा का एक कोर्स करने के बाद मेरी नियुक्त चंडीगढ़ हो गयी। लगभग तीन वर्ष बाद वहाँ लौटकर मैं अत्यन्त प्रसन्न था। अविवाहित अफसर मेस में रहते। हम तीन-चार मित्र मिलकर हर रविवार कोई अँग्रेज़ी फ़िल्म देखने सत्रह सेक्टर के नीलम थियेटर में आते। उस दिन जैक लेमन और शर्ली मेक्लीन की तीन ऑस्कर पुरस्कार प्राप्त 'द अपार्टमेंट' देखने आये। बाहर निकलते ही मैंने देखा एक जानी पहचानी लड़की अपने माता-पिता के साथ खड़ी थी। शायद वे हिन्दी फ़िल्म 'फूल और पत्थर' देखने आए थे। मैं पहले तो थोड़ा झिझका पर फिर मित्रों से कहा—''तुम थोड़ा रुको मैं अभी इन लोगों से मिलकर आता हूँ।''

''ठीक है, ठीक है बेटे, लड़की से मिलने जा रहे हो।'' मैं बिना उत्तर दिये थोड़ा और आगे बढ़ गया। मैंने आसानी से पहचान लिया। वह मेरी सहपाठी उषा थी। अपनी ट्रेडमार्क ऊँची सलवार, कमीज और चुन्नी में।

''कैसी हो उषा, पहचाना?'' बुजुर्गों को नमस्कार के बाद मैंने उससे पूछा।

''हाँ, क्यों नहीं शैल, पर तुमने थोड़ा वेट पुट ऑन कर लिया है। ये मेरे वीजी-पापाजी हैं। यह शैल है। हम लोग एम.ए. में साथ पढ़ते थे।''

मैंने सोचा तीन वर्षों में उसने विवाह कर लिया होगा। पर मैंने पूछा, ''क्या कर रही हो।''

''कुछ नहीं नौकरी ढूँढ रही हूँ। पिछले वर्ष बी.एड. कर लिया है।''

''पर नौकरी तो मिल जानी चाहिए थी अब तक।''

''हाँ चंडीगढ़ में ढंग की मिल नहीं रही और बाहर वीजी-पापा जी जाने नहीं देते।''

अच्छा, मैंने तुम्हें बताया था कि मैं वायुसेना की प्रशासनिक सेवा में चुन लिया गया हूँ।''

''हाँ याद है पर उसके बाद सम्पर्क ही टूट गया।''

''मैं आजकल यहीं पोस्टेड हूँ।''

''घर आओ कभी।'' माता पिता ने भी हाँ में सिर हिलाया।

''कहाँ रहती हो?''

''पास ही अठारह सेक्टर में, टैगोर थियेटर के सामने मकान नं. है— 1068।''

''ठीक है मैं किसी दिन शाम को आता हूँ।'' कहकर मैंने उनसे विदा ली।

''कौन है भई, बड़ी लम्बी बात कर रहे थे''— दोस्तों ने चुस्की ली।''

''एम.ए. में मेरे साथ पढ़ती थी'' —कहकर मैं पार्किंग की ओर बढ़ गया। लौटते हुए मैं घर का नम्बर याद करता रहा। 1068... 1068।

रविवार आ गया। मैं पशोपेश में था। उषा के घर जाऊँ या न जाऊँ। पर शाम को मोटर साइकिल उठाकर अठारह सेक्टर आ गया। घर ढूँढने में कोई दिक्कत न हुई। उषा को पहले से बताने का कोई साधन नहीं था। उन दिनों घरों में फोन बहुत कम होते थे। घंटी बजाने पर दरवाज़ा उषा ने ही खोला। जैसे वह मेरी ही प्रतीक्षा कर रही हो और उसे पूरा विश्वास हो कि मैं आऊँगा ज़रूर।

''तुम बैठो मैं अभी आई।'' कहकर वह भीतर गयी और गले में चुन्नी लपेटकर तुरन्त लौट आई। पीछे-पीछे बीजी थीं। पापा जी शायद घर पर नहीं थे। मैंने उठकर उन्हें नमस्कार किया।

''बैठो, बेटा बैठो'' उन्होंने पंजाबी में कहा। इधर-उधर की बातों के बाद उषा ने कहा।

''कॉफी घर में है नहीं, लिपटन की बढ़िया चाय पिला सकती हूँ।''

''मैं बना लाती हूँ, आप लोग तब तक बातें करो।'' कहते हुए बीजी भीतर चली गयी।

''अच्छा हुआ तुम चंडीगढ़ आ गये हो। सारे सहपाठी बिखर गये हैं। बहुत-सी लड़कियों की तो शादी हो गयी है।''

''तुमने क्यों नहीं की?'' मैं पूछना चाहता था पर उचित नहीं समझा।

''मैं तो दिन भर बोर होती हूँ। महीने में एकाध फ़िल्म देख लेते हैं। कभी-कभार सत्रह सेक्टर की लाइब्रेरी चली जाती हूँ।''

''अगली बार कब जा रही हो?''

''जब तुम कहो।''

''ठीक है, इसी बुधवार चार बजे।''

इस तरह यह लाइब्रेरी हमारा मिलन स्थल हो गयी। यह बिल्कुल निरापद जगह थी। लगा चंडीगढ़ में बहुत कम लोगों को पढ़ने का शौक है। कुछ देर रीडिंग रूम में पत्रिकाएँ पलटने के बाद हम बाहर सीढ़ियों पर आ बैठते।

''तुम तो शोध करनेवाले थे, फिर वायुसेना में कैसे?''

''हाँ, मैं चाहता तो था पर यू.जी.सी. की छात्रवृत्ति मुझे मिली नहीं। आचार्य द्विवेदी हिन्दी के साथ-साथ गाँधी-दर्शन विभाग के भी अध्यक्ष थे। उन्होंने कहा कि यदि मैं गाँधी-दर्शन पर शोध करूँ तो पंजाब विश्वविद्यालय से मुझे उतनी ही राशि की छात्रवृत्ति दिलवा देंगे।''

''फिर?''

''मेरी गाँधी दर्शन में कोई रुचि न थी।''

''तो तुम वायुसेना की ओर मुड़ गये।''

''हाँ, उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में वायुसेना प्रशासनिक सेवा के लिए आवेदन पत्र माँगे थे! मैं जल्दी से जल्दी नौकरी कर पिता जी की सहायता करना चाहता था। छोटा भाई दिल्ली इंजीनियरिंग कॉलेज में चुन लिया गया था। बहन का विवाह करना था। तीन और छोटे भाई थे।''

''ठीक है, मैं समझ गयी।''

हम दो ढाई महीने इसी तरह मिलते रहे। इस दौरान हमने एक-दूसरे के बारे में काफ़ी कुछ जान लिया। जब पढ़ते थे तो इसके लिए न तो समय था न अवसर। हमें एक-दूसरे के साथ समय बिताना अच्छा लगता था।

एक दिन जब हम लाइब्रेरी से चलने के लिए उठे तो अचानक उषा ने पूछा— ''शैल, तुम शादी कब कर रहे हो?''

मैं ऐसे किसी प्रश्न के लिए तैयार न था। इसकी आकस्मिकता ने मुझे चौंका दिया। कुछ पल के लिए मैं निष्प्रभ-सा हो गया। हम इतने दिनों से मिल रहे थे और हमारे बीच एक अपनापा पनप रहा था। पर हम दोनों इसे प्रेम की संज्ञा देने से झिझक रहे थे। मुझे लगा उसे यह प्रश्न इस तरह से नहीं पूछना चाहिए था। मैं कुछ पल बाद सँभला और बोला— ''शायद तुम्हारा मतलब है हम शादी कब कर रहे हैं।'' मैंने 'हम' शब्द पर ज़ोर देते हुए कहा।

''शैल, तुम स्वयं समझदार हो।'' इतना कहकर उसने अपना एटलस साइकिल उठायी और घर की ओर मुड़ गयी। मैं दूर तक हवा में लहराती उसकी चुन्नी को देखता रहा। सोचा शायद मैंने उसे प्रोपोज़ करने में देर कर दी है। और अकारण उसके सब्र की परीक्षा ले रहा हूँ। उसी घड़ी मैंने निर्णय लिया कि एक दो दिन में ही उसके माता-पिता से बात करूँगा।

मई 1967 में हमारी विधिवत् सगाई हो गयी। मैंने उसे और उसके माता-पिता को बताया कि मैं कुछ जिम्मेदारियों के कारण एक वर्ष तक विवाह नहीं कर सकता। मैंने सुझाव दिया कि इस दौरान उषा को जहाँ भी नौकरी मिले, नौकरी कर लेनी चाहिए। वीजी ने कहा—''उषा अब तुम्हारी अमानत है, जैसा तुम दोनों ठीक समझो, करो।''



उषा को कमला नेहरू कॉलेज, फगवाड़ा में नौकरी मिल गयी। हमारी सहपाठी रजनी पहले से ही वहाँ कार्यरत थी। विवाह अप्रैल 1968 में हुआ। इस एक वर्ष के दौरान हमने कई पत्र लिखे पर इन्हें प्रेमपत्रों की संज्ञा शायद नहीं दी जा सकती। वे कामकाजी किस्म के होते। वह अपने कॉलेज की गतिविधियों के बारे में लिखती और मैं अपने काम के बारे में बताता। हाँ अन्त में 'ढेरों प्यार सहित' जोड़ना न भूलते। वैसे भी सप्ताहान्त पर वह चंडीगढ़ आ जाती और मैं उसके घर पर मिलने चला जाता।

अब एक बार फिर हमें वर्तमान में आना होगा। इंग्लैंड से लौटने पर अंजलि का विवाह हो गया। उसके स्थान पर आई म्यांमार की एक शरणार्थी लड़की 'बॉक जा'। मैं सेवानिवृत्ति के बाद 'संजीवनी', 'स्पिक मैके' और 'अलज़ाइमर्स सोसाइटी ऑफ इंडिया' से जुड़ गया। बाहर जाता तो शीघ्र ही घर लौट आता। प्रयास होता कि भोजन मैं उषा के साथ ही करूँ। उन्हीं दिनों मैं पैंग्विन द्वारा प्रकाशित प्रसिद्ध सतूर वादक पं. शिवकुमार शर्मा की आत्मकथा— 'जर्नी विद ए हंड्रेड स्ट्रिंग्स' का हिन्दी अनुवाद कर रहा था जो भारतीय ज्ञानपीठ से 'सन्तूर: मेरा जीवन संगीत' नाम से प्रकाशित हुई। पूछने पर उषा कुछ अँग्रेज़ी शब्दों के हिन्दी पर्याय सुझाती। पर धीरे-धीरे मैंने पाया कि पढ़ने-लिखने में अब उसकी कोई रुचि नहीं रह गयी है। प्रातः वह प्रतिदिन 'रामचरितमानस' के कुछ पृष्ठ पढ़ लेती थी। अब वह भी छूट गया। पुस्तक हाथ में पकड़ी ही नहीं जाती थी। समाचार पत्र खोलना तो और भी दूभर हो गया। धीरे-धीरे वह अपने परिवेश से कटने लगी। बच्चों का फोन आता तो बात कर लेती पर अब उसमें कोई उत्साह नहीं रह गया था। दवाएँ जारी थी पर यात्रा ऊपर की ओर की बजाय ढलान की ओर अधिक थी।

सरकार ने पेंशन खातों को संयुक्त बनाने के आदेश दे दिये थे ताकि पति के साथ पत्नी को पेंशन पाने में कोई कठिनाई न हो। मैंने एक दिन उषा से कहा कि बैंक जाकर संयुक्त खाते पर दस्तख़त करने होंगे।

''इसकी क्या ज़रूरत है?''

''दिल्ली में प्रतिदिन सड़क हादसों और अन्य दुर्घटनाओं के चलते आदमी का कुछ भरोसा नहीं। वह सुबह काम पर निकलता है पर शाम को घर लौटने का कुछ पता नहीं।'' मैंने कहा। मेरे होठों पर अपनी काँपती उँगलियाँ रखते हुए वह बोली—

''भगवान करे तुम्हें मेरी उम्र भी लग जाए।

तुमसे पहले तो मैं अपने सिरजनहार के पास जाऊँगी। मैं बहू-बेटे, बेटी-दामाद किसी पर भी बोझ नहीं बनना चाहती। तुम्हारी बात और है। तुम दोस्त पहले हो, पति बाद में और तुमने जीवन भर मेरा हाथ थामने की शपथ ली है।''

मन ही मन मैं भी चाहता था कि वह मेरे सामने ही बिना बिस्तर पकड़े शान्तिपूर्वक इस संसार से विदा हो जाए। मुझे नहीं पता कि अपने जीवन साथी के लिए ऐसा सोचना कहाँ तक उचित है। मुझे अपने लिए लम्बी उम्र नहीं चाहिए थी। बस मैं चाहता था कि जब वह जाए तो मैं उसके सभी संस्कार ठीक से कर दूँ। मुझे ईश्वर से उसके जाने के बाद केवल पन्द्रह दिन की मोहलत चाहिए थी। घर में ऐसा उदाहरण था भी। वीजी के निधन के बाद पापा जी भी सत्रहवें दिन चल बसे थे।

मैं किसी तरह उसे बैंक ले जाकर दस्तख़त कराने में सफल हो गया। पर कुछ ही वर्षों बाद भयंकर सन्धिवात के कारण उसके लिए दस्तख़त तो दूर क़लम पकड़ना भी असम्भव हो गया। मैंने उसे फिर से समझाया कि चूँकि अब तुम क़लम भी नहीं पकड़ सकती हो, तुम्हें एक बार फिर बैंक जाकर अँगूठा लगाना होगा। पता नहीं उसे कैसा महसूस हुआ पर मेरी बात मान कर वह फिर से बैंक जाने के लिए तैयार हो गयी। मैंने बैंक मैनेजर से पहले ही बात कर ली थी। उसने कहा था कि मैडम को बैंक के भीतर आने की आवश्यकता नहीं है। वह पार्किंग में आकर अँगूठा लगवा लेगा। आवश्यक काग़ज़ और एक स्टैम्प पैड लेकर वह आ गया। उषा कार में ही बैठी रही। उसका हाथ स्थिर नहीं था और वह अपना अँगूठा भी सीधा नहीं कर पा रही थी। मैनेजर ने किसी तरह अँगूठा पकड़ कर छाप ले ली। मैंने उसका धन्यवाद किया और टिशूपेपर से बची खुची स्याही पोंछ दी। कार चली तो उसने कहा—

''तुमने कभी सोचा था कि तुम एक अँगूठा छाप से विवाह कर रहे हो।''

मैं चुपचाप खिड़की से बाहर देखता हुआ दूर अतीत में खो गया जब उसका पहला पत्र पा कर मुझे उसी सुन्दर हस्तलिपि पर रश्क हुआ था।

7 मई 2013 को सूरज और दिनों की तरह ही उगा होगा। ममता जो बॉक जा की जगह पर छह महीने पहले आई थी, उषा को नहला धुला कर नाश्ते के लिए मेज़ पर ले आई। नाश्ते के बाद वह कुछ देर आराम करती थी। मैं साहित्य अकादमी की लाइब्रेरी चला गया। दोपहर का भोजन हमने एक साथ किया। थोड़े आराम के बाद पाँच-साढ़े पाँच बजे हमें चाय पीने की आदत है। छह बजे के आसपास शाम की दवाइयों का समय होता है। दूसरी गोली खाते समय उसे खाँसी आई। मैंने देखा उसे साँस लेने में भी कष्ट हो रहा था। तुरन्त मैंने बेटी नताशा और पड़ोसी डॉक्टर मित्र श्रीवास्तव को फोन किया। उनके आने से पहले ही मैंने नब्ज़ टटोली। मुझे कुछ पता नहीं चला। डॉक्टर ने आते ही एम्बुलेंस बुलवाई। उषा की छाती पर दबाव डाल कर उसे फिर से चेतन करने का प्रयास किया। कुछ देर के प्रयास के बाद उसने आँखों की पुतलियों पर टॉर्च की रोशनी फेंकी और पलकें बन्द करते हुए बोला—

''आई.एम.सॉरी।''

तीन शब्दों में पूरा जीवन कैसे सिमट जाता है, मैंने उस दिन जाना।

''चूड़ियाँ और अँगूठी उतार लो, बाद में दिक्कत होगी।'' मित्र बोला।

सुन कर मेरी आँखों के आगे वह पल कौंध गया जिस पल मैंने उषा को वह अँगूठी पहनाई थी।

''बेटे को फोन कर दो, इंग्लैंड से आने में समय लगेगा! और हाँ, मई की गर्मी है इन्हें शवघर में रखना होगा।''

नताशा ने सौरभ को इंग्लैंड में और मोहित को सेना मुख्यालय में फोन किया। मोहित जल्दी ही आ गया। नताशा उषा की सिर अपनी गोद में रख कर पीछे बैठी। मैं मोहित के साथ आगे। वह कार धीरे-धीरे चला रहा था।

सेना अस्पताल के शवघर में बेहद ठंड थी। बड़े रेफ्रिजरेटर की तरह उसका एक रैक खुला और उषा लोहे के स्ट्रेचर समेत उसमें समा गयी। कर्मचारी ने एक पर्ची मेरे हाथ में थमा दी। उस पर केवल एक नम्बर लिखा था, कोई नाम न था। अब उषा एक नम्बर पर रह गयी थी। शवघर में मर्मांतक खामोशी की और ढेर सारी रोशनी। इनती खौफनाक जगह में इतनी रोशनी क्यों है, मैंने सहम कर सोचा।

रात भर मैं सो नहीं पाया। मैं जानता हूँ कि जीवन क्षण-भंगुर है और शरीर नश्वर! केवल आत्मा अजर-अमर है! पर आत्मा को न हम देख सकते हैं, न छू सकते हैं। अकेले में मैं बहुत रोया। रो लेने के बाद मेरा मन हल्का हो गया। अगली शाम सौरभ, मोना और ईशानी इँगलैंड से आ गये। सुबह बेटा माँ के पार्थिव शरीर को घर ले आया। श्मशान में परिजनों और मित्रों की भीड़ थी। आँखों की धुन्ध के पार मुझे कुछ चेहरे और नाम याद रहे। कुछ चेहरों को मैं नाम नहीं दे पाया। अगली सुबह हमने फूल चुने। एक भरा पूरा जीवन एक छोटे से कलश में समा गया।

हम हरिद्वार गये और बेटे ने अस्थियाँ गंगा को सौंप दीं। पलभर के लिए लगा जैसे उषा के चेहरे का अक्स पानी में झलक रहा हो। मैंने बेटे से कहा— ''मेरी अस्थियाँ भी यहीं प्रवाहित करना। पता नहीं उसने सुना भी या नहीं। शायद वह माँ के रक्त की आवाज़ अपनी धमनियों में सुन रहा था और उसे दूर गंगा में ओझल होते देख रहा था।''

**मो.: 9811078880**

## जीवन सिंह ठाकुर

# माँ का आशीर्वाद

**वह दिन बेहद** तकलीफ़ भरा था, तकलीफ़ें और दर्द अपनी सीमा के पार जा रहे थे। पेशावर में सैकड़ों बच्चे और शिक्षक मार दिये गये थे। वो आर्तनाद जो माँ, पिता, बहन-भाई-दोस्त कर रहे थे वो हमारे दिलों में बज रहा था। आर्तनाद का लावा देशों की सीमाओं को लाँघ कर दिलों में आँचलों में आँखों में आ गया। उस दिन कई माँओं के चेहरों पर गहरी उदासी और आँखों में पेशावरी सन्नाटा फैला हुआ था। पेशावर कितना नजदीक, कितना करीब था उसकी धड़कने, उसकी उखड़ती साँसों का स्पन्दन चेहरों पर महसूस हो रहा था। एक चौकन्नापन छाया था। पेशावर से दिल्ली तक, दिल्ली से देहात तक यही उदासी, खीझ-ग़ुस्सा पूरी तरलता में तमाम सीमाओं और मजहबी, विदेशी, ग़ैर होने की दीवारें को तोड़ कर एक बाढ़ की मानिन्द घुस आया था।

माँ, अपने बेटों, बेटियों को बार-बार अपने आँचल में छिपाये सीने से क़स लेती। अचानक ख्याल आया कि क्या 1947 के पार चले गये हैं? क्या ग्यारहवीं सदी आ गयी है? क्या बख़्तियार ख़िलजी फिर आ गया है?

उसने भी कभी पेशावर पर हमला किया था। 1193 ई. में नालन्दा आया। बाढ़ की मानिन्द, पूरे सैकड़ा नहीं चालीस हज़ार विद्यार्थियों, बौद्ध भिक्षुओं, अध्यापकों का क़त्लेआम कर डाला था।

नालन्दा को ख़ून के दरिया में बदल डाला गया। अट्हास, चीत्कार से नालन्दा का ज्ञान आँगन भर गया था। नालन्दा की विशाल लाइब्रेरी जला डाली। महीनों लाइब्रेरी जलती रही। सदियों का ज्ञान-शोध-भस्मीभूत हो गया। अक्षर, किताबों की देह से निकल कर अर्थों की चिताओं से गगन में तिरोहित हो गये। वो अट्हास कर रहा था। दिशाएँ गूँजा रहा था। वो विजेता के दर्प से धरती रौंद रहा था।

पेशावर ने 821 बरस बाद फिर बख़्तियार ख़िलजी आया था। (16 दिस. 2014 का पेशावर हत्याकांड— 1193 ई. का नालन्दा कांड— 2014-1193 = 821 वर्ष) क्या बख्तियार अभी भी ज़िन्दा है? कुछ लोग कितनी लम्बी ज़िन्दगी जीते हैं—सदियों सदियों तक बेखौफ़ दुनिया को रौंदते हैं—कितना अजीब है कितनी भयावह स्थिति है, कैसा निजाम है? जलाशयसूख रहे हैं लेकिन ख़ून का दरिया कितना बड़ा है।

दरिया चौड़ा हो रहा है—क्या अपने आप हो रहा है, वे लोग दिखते भी हैं और नहीं भी दिखते हैं या आँखों में ही कोई नुक़्स तो नहीं आ गया है? दरवाज़ों पर पड़नेवाली थाप, फोन की घंटी, मोबाइल की रिंग टोन डराती क्यों है। कान से लगाने के पहले दिल की धड़कने घायल परिन्दे की मानिन्द फड़फड़ाने क्यों लगी है? क्या फिर 1747 ई. का अहमदशाह अब्दाली तो नहीं आ गया है?

उस दिन बेहद तकलीफ़ हुई, ख़तरनाक भटक लगा 'एक माँ के शब्द' पूरी क़ायनात को हिला कर हज़ार सवालों के तीखे काँटों भरी धरती-आसमाँ थमा गये थे। लगा कि क़ायनात

आख़िरी साँस ले रही है, क़यामत होने को है—पठान कोट आतंकी हमले में शामिल, आतंकी अपनी माँ से फोन पर बात करता है, हर इंसान को अपनी माँ ज़रूर याद आती है उसे भी याद आयी। माँ पूछती है।

खाना खा लिया?
खाना खा लेना
अल्लाह तुम्हें जन्नत देगा।

माँ, वह जानती है कि उसका बेटा कहाँ गया है, शायद यह भी जानती हो कि उसका बेटा कितनी माँओं की गोद सूनी करने गया है, कितनी हरी, खूबसूरत जमीं को खून से रँगने गया है। क्या हम इंसानों को इस बातचीत से यह नहीं लगता कि एक माँ अपने बेटे को किस जेहाद के लिए दुआएँ दे रही हैं? क्या एक माँ अपने देश में एक बेहतर ज़िन्दगी का सपना खो चुकी है, उसके बेटे के लिए उसका देश 'जन्नत' नहीं रहा। उसकी जन्नत किसी दूसरे देश में ख़ून की नदी से गुज़र कर मिलेगी? वहाँ से स्वर्ग का दरवाज़ा मिलेगा?

किसी माँ की ऐसी दुआओं से क्या समझें? दुनिया से जब माँ इस तरह ख़ाली होती जा रही हो, माँ का माँ पन से वात्सल्य से, खारिज होना 'क़यामत' की आमद से कम नहीं है। माँ ख़ाली हो रही है वह सपनों की किरचें अपनी आँखों में लिए ख़ून के आँसू हो रही हो, वह अपने चारों तरफ़ उस नर्क से उस जहन्नूम से तंग आ गयी है, वह ऐसी जन्नत का ख्वाब देख रही है, जहाँ उसका बेटा जाएगा। एक माँ की ख़ुशी जन्नत के ख्याल से ही गुलाबों की पंखुड़ियों में तैरने लगी हो। क्या अब इस दुनिया को 'सजग' 'चौकन्ना' और सनद होने की ज़रूरत नहीं है? बड़ा सवाल तैर रहा है, ठेठ हमारी नाक के पास हवाओं में घुला हुआ है। अन्दर जा रहा है और बाहर भी आ रहा है।

हत्यारी ताकतें। अमानवीय शक्तियाँ और लोक विरोधी शैतानी कारगुजारियों ने माँ को बरगला दिया है। मूल्यों, भावनाओं, संवेदनाओं और आदमी की मूल्यों के क्षरण का काँटा खतरे के निशान से ऊपर जा पहुँचा है।

इंसानी रिश्तों, नातों, भावनाओं और वात्सल्य में ग्लोबल वार्मिंग से जगह बना ली है। ठंडे प्रदेशों में आग लगी है। ये सभी किसी एक अन्त:सूत्र में बँधे हैं। बख़्तियार से अब्दाली तक मैदानेक की भट्टियाँ और कंसनट्रेशन कैम्पों से साइबेरिया की जेल तक, ठिठुरते उत्तरी ध्रुवी से मियांवाली की जेल तक 'सरबजीतों' की दर्दनाक पाशविक हत्याओं तक सोचने और कुछ इंसानियत के हित में कुछ करने की ज़रूरत नहीं है क्या?

क्या उठ खड़े होने का वक़्त नहीं आया है? 'मूल्यों और रिश्ते', 'भावनाएँ और संवेदनाएँ' इस चतुर्दिक को बचाना ज़रूरी है। ये दुनिया, रिश्तों, प्यार, अपनेपन से बनी है। ये परिवेश, हवाएँ, पानी, नदी, कुँओं और जलाशयों से प्राणों का पोषण पाती है।

ये रास्ते, ये घर, छाँव, ये चीड़, देवदार, चिनार से बने हैं। ये चट्टाने बर्फ़ की चादर ओढ़े अपने शालीनता में घर, आँगन, सजा रही थी को अब नंगी होकर आँखें मूँदे अपमान का अट्टहास सुन रही है।

न जाने कब से इन शीतल चट्टानों पर अपना सर रख कर, सोना चाहता था। अब चट्टाने, जंगल की आग से जाग रही है। जंगल जाग गया है, माँ कहीं खो रही है—लगता है, तैमूर, बख़्तियार और अब्दाली फिर आ गये हैं। हम फिर ख़ून के दरिया से गुज़रेंगे।

**मो.: 09424029724**

## लेखकों से

पिछले कई महीनों से यह निवेदन करते रहे रचनाकारों से कि रचना भेजने के लिए उनसे ख़ुद सम्पर्क करते हैं। इसके बावजूद लेखकगण अपनी अयाचित रचनायें भेजते रहे हैं। वर्ष 2015-16 की उन रचनाओं को, जिनमें टिकट लगा लिफाफा संलग्न नहीं था, उसे हम वापस नहीं भेज पाएँगें। निवेदन है कि उन्हें अस्वीकृत माने तथा इस सन्दर्भ में कोई पत्राचार न करें।

जिन रचनाओं की स्वीकृति दर्ज की गयी है, उसकी सूचना के सन्दर्भ में लेखकों को अलग से पत्र दिया जाएगा।

स्वीकृत रचनाओं की सूचना अलग से मेल या पत्र द्वारा भेजी जा रही है। रचनाकारों से अपेक्षित सहयोग हेतु निवेदन। रचनाकार साथियों का रचना भेजने के पूर्व संवाद हेतु सदैव स्वागत है।

**सम्पादक**

शर्मिला बोहरा जालान

# मैं जिन अशोक जी को जानती थी...

**अशोक जी के** जाने के बाद 20-25 वर्षों तक जिस रास्ते पर उनसे मिलने जाती रही वह 16 लार्ड सिन्हा रोड बहुत याद आता है। ऐसा नहीं है कि उस रास्ते पर सिर्फ़ उनसे मिलने ही जाती थीं वहाँ मेरा स्कूल व कॉलेज श्रीशिक्षायतन भी है। जहाँ मैंने अध्ययन और अध्यापन भी किया है। स्कूल और कॉलेज के दिनों की मधुर यादें हैं पर पता नहीं क्यों लार्ड सिन्हा रोड तो अशोक जी के सन्दर्भ में ज़्यादा याद आता है।

जब मैं उनसे मिली, पाया सभी उन्हें अशोक जी कहकर बुलाते हैं। सो मैं भी उन्हें अशोक 'जी' बुलाने लगी। वैसे मुझे अटपटा लगता, सोचती उमर में इतने बड़े हैं मुझसे। बड़ों का नाम नहीं लेना चाहिए। घर-परिवार में यह सुन रखा है, अशोभनीय लगता है और उम्र भी कम होती है। मैं उन्हें उनके नाम से ही सिर्फ़ 'जी' लगाकर सम्बोधित करती रही। हाँ कोशिश यह रहती कि जितना कम नाम ले सकूँ अच्छा हो। कोई उनका पाँव छुए तो वे असहज हो जाते थे। प्रणाम करने की यह रीत भी वहाँ नहीं चलती। शायद शुरू के कुछ वर्षों में हाथ जोड़कर प्रणाम किया हो पर बाद में तो बस यूँ ही मिलती रही। 16 लार्ड सिन्हा रोड जाती-आती रही।

पच्चीस वर्ष पहले के लार्ड सिन्हा रोड को याद करूँ तो आज की तुलना में वह लार्ड सिन्हा रोड बहुत बदल गया है। उन दिनों वहाँ गिनी-चुनी दुकानें हुआ करती थीं। लार्ड सिन्हा रोड एवं ए.जी.सी. बोस रोड के कोने पर 'कैतलीन' केक की दुकान नयी-नयी खुली थी। उससे थोड़ा आगे बढ़ने पर 'विजय लक्ष्मी' मोदी दुकान का आधुनिक संस्करण था। चमकती आकर्षित करती वातानुकूलित राशन की दुकान, जहाँ तेल व आटे की, गन्ध नहीं उठती थी। उससे सटकर 'गोकुल' मिठाई की दुकान।

लार्ड सिन्हा रोड के दूसरे छोर पर नटराज बिल्डिंग के सामने 'मायाराम पावभाजी' वाला हुआ करता था, जिसका आधुनिक संस्करण आज भी वहाँ है, पर वह पुराना स्वाद नहीं रहा। उन दिनों वहाँ गोयनका ग्रुप्स का 'इमामी मार्केट' (स्टार मार्क) नहीं था, जहाँ, 'हैरी पॉटर' सीरीज की सातवीं पुस्तक आई थी, जिस पर लेखिका के हस्ताक्षर थे और उस विशेष पुस्तक को ख़रीदने के लिए बच्चों की कतार मार्केट के बाहर तक लगी हुई थी। ना ही उसके नीचे जलपान गृह ऋद्धि-सिद्धि थी। और कहाँ थी पूरे साल 'सेल' का बोर्ड लगाए 'गा गा' नामक जूते चप्पलों की सम्मोहित करती दुकान। आज उस नुक्कड़ पर लोगों का जितना जमावड़ा दिखाई पड़ता है उन दिनों उतना नहीं था।



अशोक जी 16 लार्ड सिन्हा रोड में बहुत ही साधारण दिखने वाले असाधारण कमरे में रहा करते थे। एक अनोखी दुनिया थी वह। तरह-तरह के लोग वहाँ आया करते थे। मैं केमैक स्ट्रीट में रहती थी और प्रिटोरिया स्ट्रीट से निकल एक चोर रास्ता पकड़ उनके घर तुरन्त पहुँच जाती।

अशोक जी से हुई कुछ मुलाकातों में मैं समझ गयी कि उन्हें कलकत्ते की सभी गलियों-सड़कों का नाम-ठिकाना मालूम है। चप्पे-चप्पे की ख़बर है कि किसके बाद किसका घर-मकान है और किसके बाद फलाँ की दुकान है वग़ैरह...। वह एक घटना अकसर दुहराते—यही कि एक बार जब वे निर्मल वर्मा के साथ पार्क स्ट्रीट पर चल रहे थे, निर्मल वर्मा ने साड़ियों की एक के बाद एक, कई दुकानों को देख कर उनसे पूछा था कि इन सभी का नाम 'स' से क्यों शुरू होता है— श्रेयांस, सुरुचि, सुचित्रा, सबेरा...। यह कहानी सुनने के बाद ना जाने क्यों मेरा बाल-मन उन्हें रास्ते-घाट का नाम बताने लगता। मैं कहाँ से किस रास्ते आई एक-एक चीज़ों के नाम लेने लगती। परन्तु जैसे ही वह प्रश्न करते अमुक गली के बाद कौन-सी दुकान मिली, या फलाँ दुकान के पास जो फलाँ लैंड मार्क है वहाँ क्या देखा, मैं धराशायी हो जाती। मैं चीज़ों पर उड़ती निगाह डालने वाली। वहीं अशोक जी हर चीज़ को गहराई से देखने-समझने वाले। इस प्रक्रिया में पहला संस्कार यही पड़ा कि—

चीज़ों को ध्यान से देखो
गम्भीरता से उस पर सोचो।
चीज़ों को उसकी पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में परखो, जाँचो।

अशोक जी प्रश्न करने के बाद तुरन्त कहते—चाय पियोगी? हाँ, मैं बनाती हूँ। कह मैं उनकी चिर परिचित रसोई की तरफ़ मुड़ जाती।

अशोक जी के साथ पी ढेर सारी चाय मेरे लिए आजकल के 'कॉफी कैफे डे', 'केकस', 'पिज्जा हट्स', 'बरिस्ता' वग़ैरह में मिलनेवाली कॉफी से ज्यादा ताजगी और ऊर्जा देनेवाली होती। दिल्ली के एक ख़ास दौरे के कनॉट प्लेस प्लाजा सिनेमा के क़रीब बीस कदम के शालीमार कैफे से कम नहीं था उस कमरे का आनन्द। वह कमरा हमारा शान्तिनिकेतन था। खुला खिला कमरा। जीवन-जगत की ढेरों चर्चाएँ वहाँ होती, कविता, कथा-उपन्यास का पाठ होता।

इस दौरान अकसर मानव मन की चर्चा होती। मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व, उहापोह, दुविधाओं पर कई स्तरों में बातचीत हुआ करती। अशोक जी के साथ बैठकर कई बार लगता था हम रचना की नहीं रचनाकार के, मनुष्य के विकास की बात कर रहे हैं। लेखक लिखते हुए कितना विकसित हुआ, हुआ या नहीं? कई बार यह बात सामने आती कि रचना तो बहुत अच्छी है पर लेखक घटिया है। पर उत्कृष्ट रचना का रचयिता घटिया कैसे रह सकता है? यह प्रश्न निरुत्तर ही रहा जाता।

अशोक जी भाषा जाल को 'गुझिया के बाल' कहा करते थे। कहते लेखन 'रचनात्मक-कार्य' है और लेखक का उद्देश्य रचनात्मक होना ही चाहिए। लिखना यानी आगे बढ़ना, जीवन-जगत को जानना, निरन्तर विकसित होना ये सब लेखन प्रक्रिया का एक अंश है, यह समझाते।

उन्होंने मुझे सबसे पहले जो पुस्तक पढ़ने को दी थी वह थी—चेख़व की कहानियाँ—दो भाग में। उन दिनों उसे पढ़ा था पर समझना आज भी जारी है। कभी किसी प्रसंग में तो कभी किसी नये सन्दर्भ में कहानी का अर्थ नये ढंग से खुलता है और मन को आलोकित कर जाता। उन्होंने रूसी साहित्य, टॉलस्टाय, दोस्तोव्यस्की पढ़ने को कहा।

बाँग्ला साहित्य में रवीन्द्रनाथ टैगोर, शरतचन्द्र, आशापूर्णा देवी, ताराशंकर बन्द्योपाध्याय पर बात की।

कई लेखक कवि पत्रकार जो उनके मित्र थे उनकी कोई नयी पुस्तक उनके पास भेंट स्वरूप आती, वे पढ़ने देते। महेन्द्र भल्ला का उपन्यास 'दो देश और तीसरी उदासी' पढ़ने दिया। वहाँ उस कमरे में 'मनोहरश्याम जोशी' पर चर्चा सुनी। 'विनोदकुमार शुक्ल' की रचनाओं पर हम बात करते। 'मुझे चाँद चाहिए' पर हुई बातचीत भी मैंने सुनी।

उनका कमरा उन वर्षों क्या दोपहर क्या शाम नये आगन्तुकों से लबालब रहता। कभी 'सच्चिदानन्द सिन्हा' आनेवाले हैं तो कभी 'किशन पटनायक'। कभी 'प्रभाकर सिन्हा' रुकने वाले हैं तो कभी 'प्रबोध कुमार श्रीवास्तव'। 'प्रयाग शुक्ल' से वहाँ मिली। इन लोगों से यहाँ सिर्फ़ मिलना भेंट करना नहीं हुआ। पत्र व्यवहार भी हुए। इस बात की समझ हुई कि चिन्तक लेखक कवि पत्रकार प्रकाशक मेरे जैसे ही इंसान हैं कोई अजूबा नहीं।

'कृष्णा सोबती' भारतीय भाषा परिषद में जब आई थीं, अशोक जी से मिलने 16 लार्ड सिन्हा रोड आईं। उन्हें बहुत पास से देखा। 'अशोक वाजपेयी' के साथ अशोक जी को बात करते सुना। 'उदयन वाजपेयी' बात-बात पर हँस पड़ते। 'रमेशचन्द्र शाह' को महीन अक्षरों में पोस्टकार्ड पर पत्र लिखते देखा। 'ज्योत्सना जी' से मिलने के बाद 'अ अस्तु का' पढ़ा। शम्पा-राजुला से मिली।

अशोक जी के कमरे में पद व ओहदे का अन्तर नहीं रहता। वे सबसे समान भाव से मिलते। नौकर मालिक का अन्तर मिट जाता। अशोक जी के लिए प्रत्येक लोग विभिन्न छोटे-बड़े पेशे व व्यवसाय से जुड़े, छोटी या बड़ी नौकरी करनेवाले, साधारण या अरबपति सभी ऐसे चरित्र थे जो किसी न किसी दुख के 'मारे' हैं। अशोक जी का एक मात्र धर्म यह है कि एक करुण मनोचिकित्सक की तरह सबसे दिल की बात सुने और निदान सुझाए।

आज के काउंसलरों की तुलना में वे महान मनोचिकित्सक थे। मनुष्य के मन में किस तरह उतरा जाता है तथा कैसे एक इंसान परत दर परत स्वयं को किस प्रकार खोलता जाता है यह वही जान सकता है जिसने अशोक जी की संगति की हो। सैकड़ों लोग उनसे अपने मन का इलाज करवाने चले जाते थे। ऐसा यदि कहूँ तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। अशोक जी उनका रचनात्मक इलाज करते थे। वे कहते डायरी लिखो, कथा, कविता रचो, आत्मकथा

लिख डालो। वे लिखने की बात करते, पुस्तकें पढ़ने के लिए देते। उन्होंने इस प्रक्रिया में कई लेखकों को खोज निकाला। इस तरह उनके कमरे की और उनकी खिड़की के सामने स्थित अरविन्द आश्रम की पीली रोशनी में नहाकर कई लोग रोशन हो जाते।

शुरू के कुछ वर्षों में मुझे लगता रहा कि अशोक जी दूसरों के शोक का हरण करते हैं और स्वयं वे शोकरहित हैं, पर यह सच नहीं था। बाद के वर्षों में जब उनके घर में एक पारिवारिक व घरेलू समस्या पैदा हुई तब अशोक जी को उसमें घुलते-मिटते हुए देखा। वे अकसर डर और आशंकाओं से घिरे रहते। लिखते-पढ़ते रहते कि व्यस्त रहें। यातना से मुक्त हो सके। छोटी-छोटी ढेरों कविताएँ भी उन्होंने शायद उसी दौरान लिखी थी।

अन्त में एक बात कहूँगी कि साहित्य की दुनिया में प्रवेश मैंने 16 लार्ड सिन्हा रोड में उनके कमरे में प्रवेश करने पर ही किया। उनसे मिलने से पहले ही कहानी लिखने लगी थी पर 'समझ' उनसे ही मिली।

इस प्रसंग का अन्त एक उद्धरण के द्वारा करने का मन है। ये बातें मनमोहन ठाकौर ने स्व. मदन मोहन अग्रवाल जिन्हें कलकत्ता के सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्र में बड़े प्रेम और आदर से सभी स्मरण करते हैं के लिए— कलकत्ता 1985 साहित्य संकलन : पुस्तक की भूमिका में लिखी है पर अशोक जी के लिए भी पूर्णत: सत्य है।

"कलकत्ता चित्तरंजन एवेन्यू स्थित कॉफी हाउस उनका प्रिय स्थल था। यहाँ उन दिनों सभी साहित्यकार आ जुटते थे और मदन बाबू बड़े उत्साह और उल्लासपूर्वक उन पर कॉफी सिगरेट न्यौछावर करते रहते थे। कालक्रम में स्थिति यह बन गयी कि प्रत्येक साहित्यकार विश्वास करने लगा था कि औरों की अपेक्षा केवल वही मदन बाबू के सबसे निकट हैं। गुप्त रूप से दी जानेवाली उनकी मौन उदार सहायता हर किसी को मिलती रही।

तुम एक वृक्ष थे जिसकी डालें, मिट्टी तक झुक आई थीं।
छाया लेकर, माया, लेकर, पश्चिम फूल-पत्तियों के साथ।

मदन बाबू एक ऐसे पेड़ थे जो हरा-भरा था, फूल-पत्तियों और पत्तों से लदा, अपने ही बोझ से झुका, जिसकी छाया शीतलता प्रदान करती थी, जिसका अन्तर मनुष्यत्व से भरपूर था; जो आदमी को पहले आदमी और बाद में साहित्यकार, कलाकार, बड़ा अफसर या धनपति के रूप में महत्त्व देता था; जो किसी के लिए कुछ करके किसी स्थूल या सूक्ष्म लाभ की आकांक्षा नहीं करता था; जिसका बायाँ हाथ सचमुच नहीं जानता था कि उसका दायाँ हाथ क्या देता था; जो किसी प्रकार के दम्भ या दिखावे को बरदाश्त नहीं कर पाता था; जो ईमानदारी से हर काम करने में विश्वास रखता था और दूसरों से भी ऐसी ही अपेक्षा रखता था; जो पैसे के फलस्वरूप आ जाने वाले अभिमान के प्रति अत्यन्त कटु था; जो पैसे को बाँटकर उसका उपभोग करने का अभ्यासी थी, जो धर्म-कर्म में विश्वास नहीं करता था तथापि आस्थावान था; जो परम्परावादी भी था और आधुनिक भी; जो पढ़ा-लिखा था; जिसे साहित्य कला-संगीत से प्रेम था; जो कभी-कभार स्वयं लिखता भी था; जो व्यापारी था पर जिसका तौर-तरीका एवं मनोवृत्ति व्यापारी नहीं थी; जो स्नेहशील था, सहृदय अक्खड़ था; कटु था, जो साथियों के स्वाभिमान को जाग्रत करना जानता था; जिसे तमाचा लगाना भी आता था और सहलाना भी; जो बड़े का भी था और छोटे का भी; जो हमारा आपका सबका अपना था।"

मो.: 09433855014

# कला परिसर

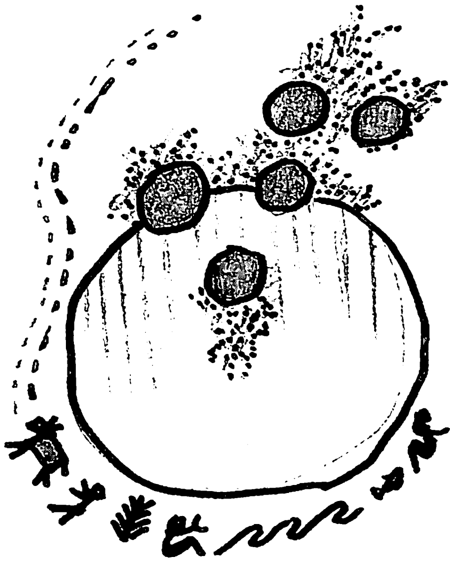
शरद दत्त

## सिनेमा और साहित्य का अनुपमेय संगम

**गुरुदत्त का अपनी** महत्त्वाकांक्षी फ़िल्म 'काग़ज़ के फूल' की बॉक्स-ऑफिस पर असफलता के बाद आत्मविश्वास डगमगा गया था और उन्होंने निर्देशन करना ही छोड़ दिया था। यही कारण है कि इस फ़िल्म से हुए घाटे की भरपाई के लिए उन्होंने 'चौदहवीं का चाँद' बनाई, तो मुस्लिम परिवेश की इस फ़िल्म के निर्देशन के लिए एम. सादिक को चुना, जिनकी ऐसे विषयों पर अच्छी पकड़ थी। नजीतन इस फ़िल्म को बॉक्स-ऑफिस पर अपार सफलता मिली, जिससे उत्साहित होकर उन्होंने अपनी अगली फ़िल्म के लिए बांग्ला के सुप्रसिद्ध कथाकार विमल मित्र के उपन्यास 'साहब बीबी और गुलाम' का चयन किया।

विमल मित्र ने बंगाल के इतिहास को आधार बनाकर चार उपन्यास लिखे थे— बेगम मेरी विश्वास, जिसमें सिराजुद्दौला, पलासी के युद्ध एवं राजदरबार के षड्यन्त्रों की दास्तान है; साहब बीबी और गुलाम, जिसमें सामन्तवाद व जमींदारी के पतन का आख्यान है, ख़रीदी कौड़ियों के मोल, जिसमें भारत के स्वतन्त्र होने की कहानी बयान की गयी है और 'इकाई दहाई सैकड़ा', जिसमें 1947 से 1962 में चीन के हमले तक नेहरू-युग की गाथा अंकित है। लेकिन इस औपन्यासिक यात्रा का दिलचस्प पहलू यह है कि इन उपन्यासों का प्रकाशन क्रमानुसार नहीं हुआ और सबसे पहले 'साहब बीबी गुलाम' ही साहित्य के आकाश पर अवतरित हुआ।

गुरुदत्त का प्रारम्भिक जीवन बंगल में व्यतीत हुआ, फलतः बांग्ला साहित्य एवं संस्कृति के प्रति उनका अनुराग सहज-स्वाभाविक रहा। 'साहब बीबी और गुलाम' उन्होंने मूल बांग्ला में पढ़ा था, इस पर आधारित बांग्ला की नाट्य प्रस्तुति और बांग्ला में बनी फ़िल्म भी देखी थी। उन्हें इस उपन्यास पर एक और फ़िल्म बनाने की सम्भावना दिखाई दी, तो उन्होंने विमल मित्र से इस पर फ़िल्म बनाने के अधिकार प्राप्त कर लिए। पटकथा लिखने की जिम्मेदारी सौंपी अबरार अल्वी को। अबरार अल्वी ने विमल मित्र के साथ खंडाला में डेरा डाला, पटकथा पर काम किया, संवाद लिखे और संवादों सहित पूरी



पटकथा रिकार्ड कर ली। सभी पात्रों को स्वर अबरार ने दिया था, यहाँ तक कि 'छोटी बहू' का पत्र भी उन्हीं के स्वर में बोल रहा था। गुरुदत्त ने रिकार्डिंग सुनी तो चमत्कृत रह गये। उन्होंने फ़िल्म के निर्देशन के लिए सत्येन बोस और नितिन बोस से बात चलाई थी, लेकिन किसी की तरफ़ से कोई सकारात्मक संकेत न मिलने के कारण वे परेशान थे। अबरार की रिकार्डिंग सुनकर वे उनकी प्रतिभा से आश्वस्त हो गये और उन्होंने निर्देशन की जिम्मेदारी भी अबरार को ही सौंप दी।

गुरुदत्त के साथ अबरार अल्वी के सम्बन्धों की शुरुआत उस समय हुई थी जब गुरुदत्त 'आर-पार' बना रहे थे और अबरार अल्वी ने उसकी पटकथा के साथ-साथ संवाद भी लिखे थे। फ़िल्म बॉक्स-ऑफ़िस पर सफल रही। फिर तो दोनों के सम्बन्धों ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। उनकी ऐसी जोड़ी बनी की गुरुदत्त जो भी फ़िल्म बनाते, उसके पटकथाकार व संवाद-लेखक अबरार ही होते, लेकिन जब गुरुदत्त ने उन्हें 'साहब बीबी और गुलाम' के निर्देशन की जिम्मेदारी भी सौंपी, तो वे अचकचा गये। उन्हें लगा कि इतनी बड़ी फ़िल्म का निर्देशन उनके बूते की बात नहीं है। लेकिन गुरुदत्त निश्चय कर चुके थे और अबरार के सामने उनका प्रस्ताव स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई और विकल्प नहीं था।

बहरहाल, पटकथा तैयार होने के बाद पात्रों के चुनाव की प्रक्रिया शुरू हुई। 'छोटी बहू' को भूमिका के लिए सुप्रसिद्ध छायाकार जितेन्द्र आर्य की पत्नी छाया आर्य को लन्दन से बुलाया गया, लेकिन स्क्रीन-टेस्ट के बाद गुरुदत्त ने महसूस किया कि वे जिस छोटी की तलाश कर रहे हैं, वह छाया आर्य में नहीं है। नर्गिस से सम्पर्क साधा गया, तो उन्होंने यह कहकर इनकार कर दिया कि मैं फ़िल्मों से संन्यास ले चुकी हूँ, जबकि ट्रेड में चर्चा रही कि नर्गिस के इनकार की असली वजह गुरुदत्त द्वारा अपनी एक फ़िल्म राज़ (जिसे गुरुदत्त ने बीच में छोड़ दिया था और कुछ समय बाद जिस पर उनके असिस्टेंट रहे राज खोसला ने 'वह कौन थी' शीर्षक फ़िल्म का निर्माण किया था) के लिए सुनील दत्त को रिजेक्ट कर देना थी। अन्ततः छोटी बहू की भूमिका मीनाकुमारी ने निभाई। मँझले सरकार की भूमिका के लिए रामसिंह को चुना गया, जो गुरुदत्त की फ़िल्म जाल में काम कर चुके थे, लेकिन चार रीलें बनते-न-बनते उन्होंने अस्वस्थ होने के कारण स्वयं ही फ़िल्म से किनारा कर लिया। बाद में वह भूमिका चरित्र-अभिनेता सप्रू ने निभाई। छोटे सरकार के लिए रहमान का और जबा के लिए वहीदा रहमान का चयन हुआ।

भूतनाथ की भूमिका के लिए अबरार अल्वी गुरुदत्त को नहीं लेना चाहते थे। इसके लिए पहले विश्वजीत से सम्पर्क किया गया, पर बात नहीं बनी। फिर शशि कपूर को बुलाया गया, पर वे तय समय से चार घंटे लेट आए, तो गुरुदत्त ने खिन्न होकर यह भूमिका स्वयं करने का निर्णय ले लिया। मोहिनी सिन्दूर के मालिक की भूमिका में नासिर हुसैन, बंसी की भूमिका में धूमत और घड़ी बाबू के लिए हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय चुने गये।

इन सभी पात्रों का चयन गुरुदत्त की सूझबूझ का नतीजा था।

1 जनवरी 1961 को फ़िल्म की शूटिंग शुरू हुई—इनडोर्स बम्बई के मॉडर्न स्टूडियो में शूट किये गये और आउटडोर्स के लिए कोलकाता को चुना गया, जहाँ फ़िल्म के अधिकांश दृश्य शहर के चालीस मील की दूरी पर स्थित गाइन-बन्धुओं की हवेली में शूट किये गये। गुरुदत्त ने हालाँकि निर्देशन से किनारा कर लिया था, किन्तु अबरार अल्वी के सामने जब-जब कोई परेशानी आई, गुरुदत्त उनके संकटमोचक बने। स्वयं अबरार अल्वी के शब्दों में, 'फ़िल्म की शूटिंग के शुरुआती दौर में मेरे अन्दर आत्मविश्वास की कमी थी। मझले सरकार और छोटी बहू के पलंग पर शराब पीनेवाले दृश्य का शॉट लेना मेरे और कैमरामैन वी.के. मूर्ति के लिए कठिन हो रहा था। गुरुदत्त हमेशा सैट पर मौजूद रहते ही थे, तो उन्होंने हमें बताया कि उपयुक्त शॉट किस एंगल से लिया जा सकता है।'

फ़िल्म के आलोचकों का मानना है कि इस फ़िल्म का निर्देशन वस्तुतः गुरुदत्त ने ही किया था, अबरार अल्वी तो महज़ नाम के निर्देशक थे। उधर अबरार अल्वी को हमेशा यह बात सालती रही कि उन्हें बतौर निर्देशक जो श्रेय मिलना चाहिए था, वह नहीं मिला। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि फ़िल्म के सब गीतों को सेल्युलाइड पर उतारने का काम गुरुदत्त ने स्वयं किया था, लेकिन वे इस बात से सहमत नहीं थे कि निर्देशक के रूप में उनका नाम सिर्फ़ एक दिखावा था।

विमल मित्र के इस बृहद् उपन्यास में कई कथाएँ-उपकथाएँ हैं,

जिन्हें एक फ़िल्म के कलेवर में समेटना लगभग असम्भव था, तो गुरुदत्त ने कई प्रसंग उसमें से निकाल दिये और कहानी को चौधरी परिवार पर केन्द्रित किया, जिसके मुख्य पात्र मँझले व छोटे सरकार हैं और नायिका है 'छोटी बहू'। पूरी कहानी का दारमदार इन्हीं तीन पात्रों पर है। छोटी बहू एक निर्धन परिवार से है, जिसका लालन-पालन समाज के परम्परागत मूल्यों व संस्कारों में हुआ है। उसके लिए पति ही परमेश्वर है और उसके जीवन की सार्थकता मात्र पति की सेवा करने में है। इसके विपरीत चौधरी-परिवार मूल्यों के विघटन तथा सामन्तवाद के पतन का प्रतिनिधित्व करता है। उनके लिए मर्दानगी का मतलब है ऐयाशी, वेश्या-गमन, मुजरे, कबूतरबाजी और बिल्ले-बिल्लियों का ब्याह रचाना। इसके समानान्तर कहानी है—ब्रह्मसमाजी सुविनय बाबू और उनकी बेटी जबा की। इन दोनों कहानियों के बीच पुल का काम करता है—भूतनाथ।

गुरुदत्त ने उपन्यास का जहाँ अन्त होता है वहाँ से फ़िल्म की शुरुआत की है। भूतनाथ ने काफ़ी समय हवेली में बिताया था और जो कुछ घटित हुआ, उस सबका साक्षी था। 'छोटी बहू' की मृत्यु के बाद वह जबा से विवाह करके ओवरसियर बन जाता है और उसी हवेली में, जो अब एक खंडहर में तब्दील हो चुकी है, वापस आता है। वहाँ मजदूरों को हवेली के तहखाने में एक नरकंकाल मिलता है। उस कंकाल की कलाई पर छोटी बहू का कंगन देखकर वह समझ जाता है कि यह कंकाल उन्हीं का है और यहाँ से फ़िल्म फ़्लैशबैक में चली जाती है।

गुरुदत्त ने कहानी के पात्रों के लिए कलाकारों का चयन जिस सूझबूझ से किया, उसी सूझबूझ से उन कलाकारों ने अपनी-अपनी भूमिकाओं को जीवन्त बनाया। जबा की भूमिका में वहीदा रहमान का और उनके पिता की भूमिका में नासिर हुसैन का अभिनय पूरी तरह विश्वसनीय है। बंसी और घड़ीबाबू की छोटी-मोटी भूमिकाओं में भी धूमल और हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय प्रभाव छोड़ते हैं। मझले सरकार की भूमिका में सप्रू के महज़ चार संवाद हैं, लेकिन अपनी आँखों और हावभाव से उन्होंने जर्जर होती ज़मींदारी व्यवस्था को अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से उजागार किया।

संगीत के लिए गुरुदत्त ने हेमन्तकुमार को चुना, यह सोचकर कि वे खाँटी बंगाली हैं और अपने संगीत से फ़िल्म के बंगाली परिवेश को जीवनत बना सकेंगे, तो कहा जा सकता है कि उन्होंने गुरुदत्त के विश्वास की पूरी-पूरी रक्षा की है। गीतकार हैं—शकील बदायूँनी, जो गुरुदत्त के साथ 'चौदहवीं का चाँद' से जुड़े थे। साहब बीबी गुलाम के लिए उन्होंने जो गीत लिखे, वे निस्सन्देह प्रसंगानुकूल सार्थक व मधुर हैं और फ़िल्म के प्रभाव को घनीभूत करते हैं। फ़िल्म का छायांकन गुरुदत्त की सभी फ़िल्मों के कैमरामैन वी.के. मूर्ति ने किया था।

'साहब बीबी गुलाम' फ़िल्म को अनेक राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कारों से नवाजा गया। मीनाकुमारी को 'सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री' का, तो वी.के. मूर्ति को 'सर्वश्रेष्ठ छायांकन' का फ़िल्म फेयर अवार्ड प्राप्त हुआ। समूची फ़िल्म को 'सर्वश्रेष्ठ हिन्दी फ़िल्म' का राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुआ। बर्लिन फ़िल्म फेस्टीवल में भी इस फ़िल्म ने भारत का प्रतिनिधित्व किया। कुल मिलाकर साहब बीबी गुलाम फ़िल्म-निर्माण का ऐतिहासिक दस्तावेज थी और सोने में सुहागा ये कि इतनी गम्भीर एवं दुखान्त फ़िल्म ने बॉक्स ऑफिस पर अच्छा बिजनेस किया।

साहब बीबी गुलाम के रिलीज़ पर दर्शकों में एक तरफ़ उत्साह था, तो दूसरी तरफ़ आक्रोश भी था। आक्रोश ख़ासकर दो दृश्यों को लेकर था—एक दृश्य में छोटी बहू भूतनाथ से स्नेह व आत्मीयता का स्पर्श पाकर उसकी गोद में सिर रख लेट जाती थी और दूसरे दृश्य में वह अपने पति से कहती थी कि "मुझे शराब का आख़िरी घूँट पीने दीजिए... आख़िरी बार मैंने इसे छोड़ने का निश्चय कर लिया है।" अन्ततः गुरुदत्त ने दर्शकों की भावनाओं का सम्मान करते हुए ये दोनों दृश्य फ़िल्म से निकाल दिये थे।

गुरुदत्त के लिए बॉक्स-ऑफिस पर 'प्यासा' की सफलता, 'काग़ज़ के फूल' की असफलता और फिर 'साहब बीबी गुलाम' की सफलता एक पहेली ही बनी रही। स्वयं उन्हीं के शब्दों में, 'जब मैं प्यासा बना रहा था तो इस तरह के निराशावादी विषय का चुनाव करने और उसे काव्यात्मक मधुर गीतों के साथ प्रस्तुत करने को एक दुस्साहसिक प्रयोग माना गया था, फिर भी दर्शकों ने उसे उत्साह के साथ स्वीकार किया था। लेकिन काग़ज़ के फूल में मैंने रूढ़ि से बाहर का विषय लेने की कोशिश की तो दर्शकों उसे न सिर्फ़ नकार दिया बल्कि उस पर कोई प्रतिक्रिया भी नहीं जताई। मैंने साहब बीबी गुलाम उपन्यास पर फ़िल्म बनाने का निश्चय किया, तो फ़िल्मी पंडितों ने आशंका प्रकट की थी। उनका ख़याल था कि पति का प्रेम पाने के लिए शराब को गले लगानेवाली पतिव्रता का चरित्र परदे पर दिखाना खतरे से ख़ाली नहीं होगा। लेकिन मेरे चयन का आधार थी उपन्यास की मन्त्रमुग्ध कर लेनेवाली कथा, जिसके कारण मैं इसमें कूद पड़ा था। अब मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि समीक्षकों ने मेरे इस प्रयास की जितनी प्रशंसा की, वह मेरी अपेक्षाओं से कहीं अधिक है। कुल मिलाकर दर्शकों की प्रतिक्रया भी उत्साहवर्धक रही।'

गुरुदत्त अन्त तक यह जानने की कोशिश में लगे रहे कि अगर दर्शक साहब बीबी गुलाम को पसन्द कर सके, तो उन्होंने काग़ज़ के फूल को क्यों नकार दिया था।

बहरहाल, साहब बीबी ग़ुलाम को फ़िल्मेतिहास में मील का पत्थर माना जाता है। यह फ़िल्म वास्तव में सिनेमा और साहित्य का अनुपमेय संगम है।

**मो.: 9811205442**

शशांक शेखर

## दास्ताने मीना कुमारी

अँग्रेज़ी हुकूमत की बुजुर्गियत के दिन थे
लॉर्ड इरविन के लटकते झूलते हुए कन्धों का वज़न
अब हिन्दुस्तान के सीने तक आने लगा था
जहाँ गाँधी यरवदा में बैठे
नये क़िस्म की मिट्टी तैयार कर रहे थे
वहीं भगत सिंह की शहादत के बाद
ग़र्ज़े बग़ावत में बहते लहू के
फूल बन महकने के दिन थे
फस्ल-ब-फस्ल तैयार हो रहा था हिन्द!

सींचे जा रहे थे कौमी एकता के नारे
उर्दू से टपकती शीरीनी
हिन्दी में घुल जाती थी
मन्दिर की घंटियों की सदा में घुल जाती थी अज़ान
कहने को बस कहते थे उस वक़्त लोग हिन्दू और मुसलमान

फ़सादात से दूर मलहम-बरहम से दूर
कश्मीर में उस वक़्त नहीं पड़ते थे हरी चीलों के डेरे
'डल' के आगोश में सरकती हुई नावों पर बैठकर
शायर पिघलते चले जाते थे
जैसे मिटती चली जाती है रात
चन्द्रमा की ओट में झुलसकर
वो वक़्त था जब घाटियों की बर्फ़ पिघलकर
पानी ही बनती थी...बारूद नहीं!

वो वक़्त था, जब लाहौर सिर्फ़ लाहौर था
अमृतसर सही मायने में अमृतसर
और दिल्ली को तो दिल कहते थे बस

आज़ादी...
ख्यालों की आराइश्
चंद दिलों की हसरत भर नहीं थी अब
खिल्कत के नसीब में अब ये मुस्तकिल चढ़ती चली जा रही थी
पर कुछ लोग अजीब थे
अफ़सानों में जीनेवाले, खाबों के जुलाहे
सूद्कार इश्क़ एके हुस्न के फनकार
मजाज़ी जिनकी सुबह भी रात थी
इनको आसमान तो मिला
ज़मीन की दरकार थी
ज़मीन जहाँ समन्दर भी हो
साहिल भी...रेत भी हो क़ोहसार भी
जहाँ की शब चमकीली हो दोपहर भड़कीली और शाम रंगीली हो

अफ़साने यकीन में बदलें
तमाशबीन जुटने लगें
हाथों में गजरा बाँधे आस्तीनों में इत्र लगाए
मुल्क के चारों ओर से अहले सर्वत
एक-एक कर जुटने लगे

साल 1932...अगस्त!
सरमायदारों की ऐशगाह, बम्बई
जिसकी पेशानी पर
दाद की मारिफत थरथराती हुई ज़मीन थी एक
मिस्कीनों की क़ब्रगाह
मीट चौल!!
जहाँ एक रोज़
रक्कासा प्रभावती और मेहनतकश अली बक्श
के घर एक दर्दीले स्वर के साथ
ज़ेरे लब खुले और एक नग़मा पेश हुआ
एक तरन्नुम गाया गया

ज़मीन पे गिरी गुलाब की पंखुड़ी
लड़की थी तो बोली लगनी ही थी
रंगमहल में जन्मी थी तो कुछ रंग तो पड़ने ही थे
खूबसूरत थी तो अशरफियाँ तो उछलनी ही थीं
एक से एक खरीदार बोली लगानेवाले हज़ार

फस्ल-ब-फस्ल तैयार हो रहा था हिन्द
बोली लगाने को
लेकिन इतनी रक़म कहाँ किसी के खीसे में
जो चाँद को खरीदे
महज़बीन बानो को
खरीदे ऐसा मीरे अरब कहाँ!

गुदड़ी पे लेटी थी वो भोली भाली
जैसे संगेमरमर पर लेटी हुई हो बज़्म-ए-महताब
वीरानो की सुन्दरी, सहराओं की बंजारन
एक-एक दिन बढ़ती हुई आ रही थी
सुनाने को पाकीज़ा
ज़ख़्मे जिगर की दास्तान!

मो.: 8130589708

# हाशिये का अस्ल रंग : पाँच

*टी.वी. पर विज्ञापन बेहतर व्यापार को नवाजता ही नहीं, उसे तराशता भी है। जब घरों में टी.वी. नहीं थीं तब अपना व्यापार कैसे चमकाते थे, इसकी रोचक दास्तान है इस एपीसोड में। साथ में विरासत में मिली तहज़ीब को बेशक़ आज भोपाल शहर पूरी तरह न निभा पा रहा हो, मगर उसकी तुर्शी और तहज़ीब को यहाँ की आबोहवा ने— पूरी शिद्दत और नयी उम्मीद के साथ बरकरार रखा है।*

**श्याम मुंशी**

## आज के विज्ञापन, तब के मजमागीर और तहज़ीब में पान

### 1.

**मैं टीवी बहुत** कम देखता हूँ। कुछ ख़ास मौक़ों पर ख़बरें सुनने के लिए, किसी ख़ास ईवेंट का लाइव टेलीकास्ट या कोई अच्छी फ़िल्म आ रही हो तो उसे देखने के लिए ही टीवी के सामने बैठता हूँ। अभी कल मैंने यूँ ही टीवी के सामने बैठ उसका स्विच ऑन कर दिया। कोई एडवरटिजमेंट आ रहा था, मैंने चैनल बदला, दूसरे पर भी एड ही आ रहा था। तक़रीबन पाँच-सात मिनट तक मैं चैनल बदलता रहा, लेकिन मुझे किसी भी चैनल पर सिवाय एड के कुछ नहीं मिला। किसी एड में गंजे सर पर बाल उगानेवाली दवा, किसी में काले रंग को गोरे रंग में तब्दील कर देनेवाली क्रीम और एक एडवरटिजमेंट में तो कमाल था कि उनका सिद्ध किया लॉकेट गले में पहनते ही तमाम मुश्किलें आसान हो जाएँगी, बल्कि घर में धन-दौलत और रुपयों की बारिश होने लगेगी। इसके साथ इन चीज़ों के इस्तेमाल करनेवालों के बयान कि 'अब मैं अपने घर में सबसे ज़्यादा गोरा हो गया हूँ।' मेरे सिर पर पन्द्रह दिन में ही बाल उग आये अब मैं गंजा नहीं हूँ।' मैं कर्जदार था, इस सिद्ध लॉकेट को पहनने के बाद न सिर्फ़ मेरे कर्ज अदा हो गये बल्कि अब मेरे पास किसी चीज़ की कमी नहीं है।'

मैं यह देखते हुए हँस रहा था और सोच रहा था कि कौन बेवकूफ़ इन्हें ख़रीदता होगा? फिर ख़याल आया, अगर इन्हें कोई न ख़रीदे तो यह करोड़ों रुपये के विज्ञापन कैसे चलें। यकीनन इन चीज़ों को ख़रीदनेवालों की तादात कम नहीं है। यही सब सोचते हुए मैं पचास

बरस पुराने अपने शहर भोपाल में पहुँच गया। उस जमाने में रेडियोवाला रईस माना जाता था। टीवी का तो सवाल ही नहीं था। रेडियो था भी लेकिन अब घरों में बिजली नहीं थी। कुछ ही घरों में बिजली और रेडियो थे या कुछ होटलों और पान की दुकानों में। वह भी आज की तरह चौबीस घंटे नहीं। उसके बजने का भी वक़्त मुक़र्रर था। मोटर गाड़ियों की भरमार नहीं थी। महल और कुछ रईसों की सौ-पचास गाड़ियों के अलावा बाक़ी सब ताँगे, सायकल या पैदल, बाज़ार, गली, मोहल्लों में रौनक थी, मगर गैर वाजिब मतलबपरस्ती नहीं थी। सिनेमा, थियेटर और सरकस जैसे दिलबहलाव के जरियों की पब्लिसिटी का एक अलग कल्चर था। ताँगे या पैदल गाड़ियों पर बड़े-बड़े पोस्टर लगाकर बैंड-बाजे के साथ शहर में घुमाया जाता था, साथ में भोंपू पर उस फ़िल्म या नाटक के कलाकारों और उसकी ख़ूबियों के बारे में बताया जाता था। सर्कस के प्रचार का एक और बड़ा दिलकश तरीका था कि सरकस शुरू होने से एक रोज पहले सरकस के तमाम कलाकार और जानवर जुलूस की शक्ल में शहर की ख़ास सड़कों से अपने कुछ करतब दिखाते हुए गुज़रते थे। उनकी यह परेड लोगों को सर्कस के तम्बू तक खींचने में कामयाब रहती।

इन चीज़ों के अलावा उस वक़्त की तहज़ीब का एक ख़ास हिस्सा था सड़कों, चौराहों और बाज़ारों में मजमा लगाना। मजमा भीड़ को कहते हैं। भीड़ जुटाने को मजमा लगाना कहते हैं। यह मजमे अपनी बकमाल दवाएँ बेचने, जिनमें ताक़त और जवानी, गंजे सर को बालोंवाला बनाने, दाँतों की बीमारियाँ दूर कर उन्हें चमकदार बनानेवाले मंजन से लेकर तावीज़ तक शामिल थे। इसके अलावा कुछ नट भी अपने करतब दिखाने के लिए मजमे लगाते। इन मजमों को लगाना एक फ़न था, लोग दो-दो घंटे खड़े-खड़े मजमे वालों को सुनने में ऐसे गाफ़िल होते कि अपने ज़रूरी काम तक भूल जाते। यह फ़न बाकायदा उस्ताद-शार्गिद बनकर सीखा और सिखाया जाता था। फिर उस्ताद निगरानी में कुछ दिन मजमा लगाने के बाद कामिल होने पर ही अलग मजमा लगाने की इजाजत मिलती। भोपाल में कुछ तो रोज़ाना बिलानागे मुस्तकिल तौर पर मजमा लगाते। कुछ ख़ास जगहें उन्होंने मुकर्रर कर रखी थीं जिसका वह कुछ टैक्स भी अदा करते थे। इनमें कुछ तो सिर्फ़ दिन में अपना कारोबार करते थे, लेकिन कुछ देर रात तक कार्बाइड लैम्प या पेट्रोमेक्स की रोशनी में भी मजमा लगतो थे। यह लोग अपनी दवाओं या जो भी वह बेचते थे, उनके ऐसे हैरतअँगेज असरात वहाँ दिखाते कि अक़्ल हैरान रह जाए।

एक साहब जो बकलम ख़ुद हकीम थे और मजमा लगा कर अपना बनाया सुरमा बेचा करते थे। उनका दावा था कि इस सुरमे को लगाने से बीनाई (आँख की रौशनी) तेज होती है, आँख से पानी आना, रतौंधी आना और भी कई मर्ज कुछ ही दिन में दूर हो जाते हैं। इन हकीम साहब का कमाल यह था कि यह मजमें में खड़े कुछ दो तीन बूढ़े लोगों से उनकी आँखों की रौशनी के बारे में पूछते, जाहिर बूढ़ों की रौशनी कुछ कम होती ही है उन्हें यह आगे लाकर सबको बताते कि इनकी आँखों में जाला बन गया है जिसकी वजह से इन्हें साफ़ नहीं दिखता और अब देखिये मेरा सुरमा आपके सामने कैसे आँख का जाला काट कर इनकी रौशनी तेज़ करता है। इतना कह वह उन दोनों तीनों बुजुर्गों की आँखों में एक-एक सलाई सुरमा लगा कर उन्हें वहीं बैठा कर अपनी तकरीर जारी रखते। तकरीबन दस-पन्द्रह मिनट बाद वह कहते अब देखिए जाला कैसे निकलता है। वह एक माचिस की तीली ले उन बुजुर्गों की हर आँख से जाला निकाल-निकाल कर पूरे मजमे को दिखाते, फिर उनसे कहते कि अपनी आँखें रुमाल से पोंछ कर बताइए अब आपको कैसा दिख रहा है? जवाब सब का यही होता कि हमें अब बहुत साफ़ दिख रहा है। बस इसके साथ ही उनकी चार-चार आने की 15-20 शीशियाँ बिक जातीं।

एक साहब रात के वक़्त मजमा लगाते थे उनका अन्दाज अलग था। वह अपने मजमें में पन्द्रह-बीस पहलवानों की तस्वीरें बहुत सजाकर जमाते और उनके ऐसे-ऐसे वाक्यात बयान करते कि क्या कहने। एक बार उन्होंने एक पहलवान जिनका नाम शायद कीकड़ सिंह बताया था, कहा कि उनका जिस्म फ़ौलाद की तरह मजबूत और सख़्त इतना था कि उसकी पट (रान) पर रुपया बोलता था। वह कोई ताक़त की दवा बेचते थे। उनका दवा था कि इस दवा में भी ऐसी ही कुव्वत है।

इस वक़्त मुझे एक और मजमागीर की याद आ रही है जो सिर्फ़ कहानी सुनाता था। कहानी सुनाने में वह ऐसी मंज़रकशी करता था कि क्या कहने, पूरी फ़िल्म ही दिखा देता था। लोग उसके दीवाने थे। उसको देखते ही लोगों की बड़ी भीड़ जमा हो जाती और ऐसी तन्मयता से कहानी सुनती जो बयान से बाहर है। उसका लहजा और तर्जे बयान ऐसा कि आज भी कानों में बसा है। जिन्होंने उसे सुना है, यकीनन वह कभी उसे भूल नहीं सकते, लेकिन जब कहानी का क्लाइमेक्स आता तो वह सुनाना बन्द कर देता। जब लोग उससे कहानी पूरी करने का इसरार करते तो वह कहता पहले कुछ धन्धा तो कर लूँ वर्ना बच्चों को क्या खिलाऊँगा। अपना धन्धा पूरा कर चुकने पर वह अपना सामान समेटने लगता तो बचे हुए लोग उससे कहानी पूरी करने को कहते तो वह कल आकर सुनने की दावत देता और कल फिर वही होता। उसने कभी किसी को पूरी कहानी नहीं सुनाई। यही उसका ट्रेड सीक्रेट था।

एक और साहब मजमा लगा कर तावीज दिया करते थे और आठ आना उसका हदिया तय था। उनका दावा था कि यह तावीज़ जो पहनेगा उसकी हर मुश्किल आसान करे, उकसो आग, पानी या हवा कोई नुकसान नहीं पहुँचा सकता। अपनी बात को साबित करने के लिए वह उसी मजमे में से किसी को बुलाते उसके हाथ पर तावीज़ बाँधते और फिर लोहे की सुर्ख़ गर्म सलाख उसकी

कलाई पर रख देते, लेकिन उसे जलाना तो दूर कोई अहसास तक नहीं होता। मेरे एक बहुत अज़ीज़ दोस्त जिनकी उम्र उस वक़्त पन्द्रह-सोलह बरस रही होगी, तावीज़ और उसकी करामात से बहुत मुतास्सिर हुए। उन्होंने किसी तरह आठ आने का कहीं से जुगाड़ किया और तावीज़ हासिल कर सीधे अपने पर पहुँचे। घर पर लोहे का चिमटा चूल्हे में डाल कर सुर्ख किया फिर अपनी माँ, भाभियों और बहनों को बुलाया और कहा आज मैं तुम सबको एक हैरतअंगेज कमाल दिखाता हूँ। बस तुम यह तावीज़ मेरे हाथ पर बाँध दो। उनके हाथ पर बाँधकर सब उत्सुकता से उन्हें देखने लगे। दोस्त ने सुर्ख हो चुका चिमटा निकाल जिस हाथ में तावीज बँधा था उसकी कलाई पर रख दिया चिमटा कलाई से लगते ही ऐसी चीख निकली कि सारा मोहल्ला जमा हो गया। तावीज़ का तो पता नहीं लेकिन चिमटे का पूरा अक्स आज भी उनकी कलाई पर वैसा ही मौजूद है।

## 2.

पान हिन्दोस्तान के तकरीबन हर हिस्से में खाया जाता है। पाकिस्तान, बंगलादेश, नेपाल, श्रीलंका वगैरह में भी खूब खाया जाता है। हर जगह पान खाने के मुख्तलिफ़ तौर-तरीके हैं। कहीं यह बिल्कुल कच्ची हरी सुपारी के साथ खाते हैं, कहीं पकी, लेकिन गीली सुपारी के साथ। कहीं बग़ैर कत्थे का तो कहीं बग़ैर चूने का पान खाया जाता है। गरज़ कि हर जगह अपने अन्दाज में खाया ज़रूर जाता है। कुछ लोग गाहे-बगाहे पान खाते हैं, कुछ खाना खाने के बाद पान ज़रूर खाते हैं तो कुछ लोग लगातार पान खाते हैं। कई लोग पान के साथ तम्बाकू ज़रूर खाते हैं। यानी तम्बाकू के बग़ैर पान नहीं खाते।

पान कब से खाया जा रहा है इसका तो मुझे इल्म नहीं है, लेकिन हिन्दुओं की पूजा सामग्री में पान और सुपारी ज़रूरी चीज़ों में शुमार है, जिससे यह अन्दाजा लगाया जा सकता है कि पान हमारी तहज़ीब में बहुत पहले से मौजूद रहा है। यह भी कहा जाता है कि पान खाने का रिवाज़ बादशाह जहाँगीर और नूरजहाँ के ख़ुद पान खाने से शुरू हुआ और रफ़्ता-रफ़्ता वह आम हो गया। बहरहाल पान सैकड़ों वर्ष से हमारे यहाँ खाया जा रहा है और वह हमारी रोज़ की ज़िन्दगी का अहम हिस्सा भी है। यह बात अलग है कि आज की तेज़ रफ़्तार ज़िन्दगी में पान बनाने, खाने और खिलाने में वो नाज़बरदारियाँ और नज़ाकत और नफ़ासत नहीं रही, लेकिन पान मौजूद हैं।

भोपाल के हर खासो आम व छोटे बड़े तबके में पान खाने का रिवाज़ शुरू से रहा है। महलों से लेकर झोपड़ों तक अपनी हैसियत के मुताबिक पान खाया जाता रहा है। भोपाल में एक दौर ऐसा भी था जब शायद ही कोई शख़्स ऐसा हो जो पान न खाता हो। याने पान खाना यहाँ लाज़मी था। जो पान नहीं खाता था उसे अजीब हैरत की नज़र से देखकर कहा जाता, 'अरे तुम कैसे आदमी हो पान नहीं खाते?' कई लोग तो पान के ऐसे आशिक और आदी कि खाने से ज़्यादा पान को तवज्जो देते। घर में जब राशन लाने की लिस्ट बनती तो उसमें पान, छालियाँ (सुपारी) कत्था, चूना सबसे ऊपर होता था। पानदान भी मुख्तलिफ़ किस्म के ताम्बा, पीतल से लेकर चाँदी और सोने के मीनाकारी, कामदार और नक्काशी वाले जो देखने से तआल्लुक रखते थे। घर से बाहर हर शख़्स अपने साथ पान की डब्बी, बटुआ और चुनैटी साथ लेकर ही निकलता था। पान की यह डब्बियाँ भी हैसियत के मुताबिक सोने, चाँदी और पीतल की होती थीं। इन डिब्बियों में साफ़ी में लपेट कर कत्था-चूना लगे पान तह कर रखे जाते थे। साफ़ी (छोटा कपड़ा) भी ज़री और कारचोबी कामवाली हुआ करती थीं। बटुए में कम से कम तीन खन होते थे जिनमें कतरी हुई छालियाँ, लौंग-इलाइची और ज़र्दा वगैरह रखा जाता था। बटुए पर ज़री और कारचोब का काम व उसके बदों में सोने-चाँदी के छोटे-छोटे घुँघरू अकते थे। चुनेटी भी सोने-चाँदी या पीतल की होती थी जिनमें ज़रा गाढ़ा-सा चूना रखते थे।

पान के साथ खाया जानेवाला कत्था, चूना और छालियाँ तैयार करने के भी ख़ास तरीक़े और तहजीब थी। वह बड़ी नफ़ासत से तैयार किये जाते थे। कत्थे को पहले गुलाब या केवड़े के पानी में गलाया जाता था फिर से हल्की आँच में पकाकर उसकी तुर्शी मारने के लिए थोड़ा दूध गर्म करके मिलाया जाता था। उसके बाद पसन्द की खुशबू डाली जाती थी। तब वह पान पर लगाया जाता था। इसी तरह चूना तैयार करने का भी तरीका था। आज जो चूना पान के साथ खाया जा रहा है पहले यह भोपाल में नहीं खाया जाता था। यह चूना कलई का चूना यानी दीवारों पर सफ़दी करने वाला चूना कहलाता था। खाने वाला चूना अलग होता था जो कंकर का चूना या खाने का चूना कहलाता था। इस चूने की खदानें सीहोर के आस-पास थीं, यह वहीं से आता था। इस चूने को पानी में गला कर ठंडा होने पर बारीक कपड़े में छाना जाता था। पानदान और चुनेटी में रखते वक़्त उसकी तेज़ी कम करने के लिए थोड़ी बालाई और जाफ़रान मिलाई जाती थी।

छालिया यहाँ अच्छे क़िस्म की माँगरोल पसन्द की जाती थी। उसकी कटाई गोल और मद्दम दर्जे की जाती थी। यूँ सुपारी कई तरह से काटी जाती है जैसे वर्क़ी सुपानी, लच्छेदार वगैरह। यूँ आम तौर पर सभी जगह सुपारी कम खाई जाती है, लेकिन भोपाल में सुपारी बहुत ज़्यादा खाई जाती रही है। पिछले दौर में बाज़ार की दुकानों से पान खाना अच्छा नहीं समझा जाता था। मजबूरी में ही पान बाज़ार की दुकानों पर खाते थे। आमतौर पर पान की यह सारी तैयारियाँ घर में औरतें ही करती थीं। उस वक़्त संयुक्त परिवार ही हुआ करते थे। कई घरों में तो पचास और पचास से भी ज़्यादा लोग हुआ करते थे। वहाँ घर की किसी एक महिला पर

सिर्फ़ पान लगाने की ही जिम्मेदारी होती थी। वह कत्था चूना बनाने से लेकर पान तैयार कर डिब्बी-बटुआ भरने तक की जिम्मेदार होती थी। इन परिवारों में कई ऐसे थे जहाँ डलियों से पान और पसेरियों से सुपारी आती थी। यहाँ के बाज़ार में सादे ज़र्दे से लेकर लखनऊ, कानपुर और बनारस के मशहूर खुशबूदार जर्दे व किवाम मिलते थे। कई शौकीन अपने घर में भी अपने लिए किवाम और ख़ुशबूदार जर्दा तैयार करते थे।

भोपाल में पान का पत्ता मद्रासी, सोहागपुरी, कपूरी और बंगला खाया जाता था, लेकिन सबसे ज़्यादा मद्रासी पान ही पसन्द था। पान के पत्ते पर कत्थे के साथ चूना तो हर जगह लगाकर खाया जाता है, लेकिन पान का बीड़ा मुँह में रखने के बाद कुछ-कुछ देर में अपनी चुनैटी से चूना लेकर उँगली से चूना चाटते रहने का रिवाज़ सिर्फ़ भोपाल में ही है। इस सिलसिले में बहुत-सी दलीलें दी जाती हैं जैसे भोपाल के पान में कैल्शियम की कमी है उसे पूरा करने के लिए चूना ज़्यादा खाया जाता है, जबकि हक़ीकत यह है कि चूना कत्थे की तुर्शी मारता है और जर्दे की तेज़ी बढ़ाता है। इस स्वाद का मजा ज़बान को लगने के बाद चूना खाये बग़ैर नहीं रहा जाता।

कहा जाता है कि पान में कई किस्म के नशों का जैसे कोकीन वगैरह का भी इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन भोपाल इन लगावियात से दूर रहा है। हाँ यह ज़रूरी है कि कुछ नवाब और रईस पान में कुश्ते ख़ाकर अपनी यौन शक्ति को बढ़ाने की कोशिश करते थे, लेकिन यह आम बात नहीं थी। आम लोग पान में जर्दे से आगे कभी नहीं बढ़े। पान और जर्दे में चाँदी सोने के वर्क़ का इस्तेमाल ज़रूर हुआ है। घरों में आनेवाले मुलाकाती और मेहमानों को पान ही पेश किया जाता था। पान पेश करना सम्मान देना ही होता था। आज का दौर बहुत तेज़ी और जल्दबाजी का दौर है। लोगों के पास वक़्त की बहुत तंगी है। पान की तहजीब बहुत इत्मीनान और इस्तिक़लाल की तहज़ीब है। बाज़ारवाद ने सारी कलाओं और तहजीबों के नाज़ो-अदाओं और उनके लुत्फ़ को निगल कर गुटका पाउच का कल्चर पेश कर दिया है जिसे हमने भी ख़ुशी से इख़्तियार कर लिया है। आज हर घर में औरत और मर्द नौकरी पेशा या कारोबारी हैं। उनको इतनी मोहलत कहाँ कि पान की नाज़बरदारी करें। इसी मज़बूरी या आप जो भी कहें उसका फायदा बाज़ार ने रेडीमेड पान (गुटका पाउच) में पेश कर उठाया है।

हमारी तहज़ीब की बहुत-सी चीज़ें ख़त्म हो चुकी हैं। यक़ीन है कि पान भी बहुत जल्द सिर्फ़ क़िस्से कहानियों में ही नज़र आएगा। पहले दरबारों से दरबारियों को 'खर्चे पानदान' दिया जाता था। गनीमत है आज वैसे दरबार नहीं हैं, वर्ना आज 'खर्चे पाउच' दिया जाता।

मो.: 09425007136

## रवीन्द्र त्रिपाठी

# कविता में किस्से

*(रस्किन बांड ने एक जगह लिखा है कि वे किताबें अकसर अन्त से पढ़ना शुरू करते हैं। काव्य-संग्रहों को पढ़ने की मेरी भी यही आदत है)*

**विष्णु खरे के** नवीनतम संग्रह 'और अन्य कविताएँ' की आखिरी कविता 'हसरत' का आरम्भिक और अर्धांश से अधिक वाला हिस्सा इस तरह है—

*नॉवेल हों कहानियाँ हों*
*दीगर मसले हों*
*अच्छी किताबों को फ़ौरन पूरा पढ़ पाना*
*इसलिए भी मुश्किल है*
*कि हम उन्हें खोलते हैं*
*कुछ दूर तक जाते हैं उनमें*
*तो बाज औकात ऐसी कैफ़ियत दरपेश होती है*
*कि रुककर वर्कों के परे देखने लगते हैं*
*या उन्हें बन्द करना भूल*
*उफक में तकते रहते हैं*
*और दीये-बाती की बेला हो चुकी होती है*

*कहाँ कहाँ तक ले जाती हैं ऐसी किताबें*
*महज क़िस्से और शाइरी ही नहीं*
*जाने क्या तारी कर देती हैं वे*

*किन वक़्तों किन दुनियाओं किन सवालों में*
*हमारे जीवन से पहले की ज़िन्दगियों*
*हमारी मौत के बाद के जन्मों में*
*हमारे कितने भीतर और हमसे कितनी दूर ले जाती हैं*
*कभी-कभी समझना तकरीबन नामुमकिन*

ये अलग से कहने की ज़रूरत नहीं कि ये संग्रह भी एक ऐसी ही किताब हैं जिसको पढ़ते हुए पाठक वर्कों के परे देखने लगता है। इस संग्रह की कविताएँ भी, कुछ अन्य किताबों की तरह, हमें दूर तक ले जाती हैं। हमारे जीवन से पहले के वक़्तों में और हमारी होनेवाली मौत के बाद के समयों में। ये कविताएँ हमें घर-परिवार की, पड़ोस की, कस्बों और छोटे शहरों की, मिथकीय (हिन्दू और इस्लामी दोनों) लोक की, इतिहास की और वैश्विक त्रासदियों की भूमि में ले जाती हैं। और इनको पढ़ने के बाद मानसिक पटल पर जो दृश्य उभरता है उसमें इतनी चीजें घुलीमिली होती हैं कि किसी सरल वाक्य में कहना कठिन हो जाता है कि वो क्या है। आप इनको पढ़ते हुए एक बीहड़ प्रदेश में होते हैं जिनमें कई तरह के एहसास घुलेमिले होते हैं। कुछ तो अत्यन्त सहज, निजी तथा आत्मीय और कुछ बेहद दुरूह। दुरूहता भी ऐसी कि अच्छा-ख़ासा काव्य रसिक भी गच्चा खा जाए। कुछ मर्तबा तो विष्णु खरे कविता मे तिलिस्म रच देते हैं। ऐसे में हिन्दी कविता का सामान्य पाठक कठिनाई में पड़ जाएगा कि आखिर कहा क्या जा रहा है और कविता में किस तरह के सन्दर्भ हैं? मिसाल के लिए अगर आप हातिमताई (अरबी किंवदन्तियों का नायक। हातिमताई का मूल नाम तो हातिम था और 'ताई' उसके कबीले का नाम था) की कहानी से परिचित नहीं है तो 'जा, और हम्मामबाद गर्द की खबर ला' बिल्कुल समझ नहीं पाएँगे। वो इसलिए भी कि इसमें हातिम का नाम एक बार भी नहीं आया है। हाँ, अगर आपको पहले से मालूम है कि मुनीरशामी और हुस्नमानू का क़िस्सा क्या है और हातिम ने किस तरह मुनीरशामी की मदद की तथा हुस्नबानू के सात पहेलीनुमा सवालों के जवाब खोजे, तो फिर मुश्किल नहीं होगी। इसी तरह अगर किसी को ये जानकारी नहीं कि हिन्दू मिथकों में कद्रू-विनता-गरूड़ की कथा क्या है तो उसे 'सर्पसत्र' कविता का आगा-पीछा समझ में नहीं आयगा। इस संग्रह की कुछ कविताएँ तो माँग करती हैं कि पाठक बहुपठित हो अन्यथा वह शब्दों से रचित तिलिस्म को भेदकर अर्थ रूपी हीरा नहीं प्राप्त कर सकेगा।

लेकिन समानान्तर रूप से ये भी कहना पड़ेगा कि ये सब कवि इसलिए नहीं करता कि पाठक मान ले कि उसका पाला किसी अगड़धत्त विद्वान से पड़ा है। कवि इस वजह से भी ऐसा करता है कि साहित्य की दुनिया में बहुसांस्कृतिकता बची रहे और कविता या साहित्य मात्र किसी एकायामी संस्कृति में कैद होकर न रह जाए। बल्कि सिर्फ़ कविता या साहित्य नहीं बल्कि समाज भी। आज जब दुनिया, और भारत में भी, में कुछ ताकतें एकल संस्कृति पर जोर दे रही हैं बहुसांस्कृतिकता संस्कृति और साहित्य के साथ साथ समाज को बचाए रखने के लिए आवश्यक है। बहुसांस्कृतिकता यानी दूसरी और अन्य संस्कृतियों का स्वीकार और सम्मान। विष्णु खरे की काव्यभाषा में ठेठ हिन्दी है, उर्दूपन है और संस्कृत निष्ठता भी है। यानी उनकी भाषा के कई 'रजिस्टर' हैं। अर्थात् उनकी काव्यभाषा एकरूपी नहीं है। उनकी कविताएँ इस बहुप्रचारित लेकिन गलत धारणा का निषेध करती हैं कि समकालीन हिन्दी काव्यभाषा एकरस और एकरूपी है। इस संग्रह में तो नहीं है, पर कवि ने मालवी में भी कविता लिखी है। यानी बोलियों (हालाँकि भोजपुरी-ब्रजभाषा-अवधी-मालवी आदि को बोली कहना भी उनका अवमूल्यन करना है पर वह एक अलग बहस है) का प्रवेश भी उनकी कविता में है। ये भी एक प्रकार की बहुसांस्कृतिकता है। इससे हिन्दी का आन्तरिक वैविध्य उजागर होता है और विकसित भी।

उनके यहाँ दूसरे प्रकार की बहुसांस्कृतिकता काव्य-सदर्भो की है। हिन्दी पाठक के लिए मिथकीय सांस्कृतिक सन्दर्भ रामायण और महाभारत से उठाए जाते हैं। कुछ-कुछ पुराण कथाओं से। और ऐसी कविताओं की विष्णु खरे के यहाँ भी कमी नहीं है। उन्होंने रामायण और महाभारत को सन्दर्भ बनाकर कई कविताएँ लिखी है जिनमें कुछ इस संग्रह में भी हैं। बेशक वे अच्छी कविताएँ हैं। उनका अर्थ ग्रहण करने में हिन्दी के प्रबुद्ध पाठक को कठिनाई नहीं होती है, लेकिन सामने जब 'दज्जाल' जैसी कविता आ जाए तो उसे कुछ कुछ साबुत अखरोट की गिरी निकालने वाली दाँततोड़ू मेहनत भी करनी होगी। समझना होगा कि कौन था दज्जाल और समकालीन समय में उसके उल्लेख का आशय क्या है। और हाँ, बेशक़ ये कविता इस्लामी मिथक से सम्बन्धित है, लेकिन इसका अर्थ समकालीन राजनीति से भी जुड़ा हैं। भारत समेत दुनिया के कई देशों में नेता और राजनैतिक दल लोकलुभावन नारों के साथ आ रहे हैं और चुनावी मैदान फतह भी कर रहे हैं, लेकिन दरअसल वे दज्जाल की मानिन्द फरेबी देवता हैं। इस कविता और इन पंक्तियों का अर्थ मिथक से बाहर आकर सार्वभौम के अलावा समकालीन समय में व्याप्त हो जाता है—

*इबलीस का जाहिद-ओ आबिद होगा वह*
*लेकिन उसकी मुखालिफत का स्वाँग करेगा*
*कहेगा उसी को नेस्तनाबूद करने उतरा है वह*
*सारी बदी को खत्म करने और नेकी का निज़ाम लौटाने का वादा करेगा*
*और गुमराह कौमें उसके हाथों कदमों और जिल्ल को चूमने लगेंगी*
*दीवानावार उसकी मोतकिद हो जाएँगी*

*फिर वह ऐलान करेगा कि नबूवत भी उसी की है*
*और ख़ुदाई भी उसी की*
*परस्तिन्दों को एक में ही*
*दोनों के दीदार-ओ-इबादत का सुभीता हो जाएगा*

कविता सहज सम्प्रेषणीय हो, ये एक सिद्धान्त भर है। ज़रूरी नहीं कि ऐसा हमेशा हो। मिसालें कई हैं पर फिलहाल सिर्फ़ एक दूँगा। कोंस्टैंटाइन कवाफ़ी की एक कविता है जिसका शीर्षक अँग्रेज़ी में इस तरह है— 'वेटिंग फॉर द बारबेरियन्स'। इसके कुछ अनुवाद हिन्दी में भी हुए हैं, लेकिन 'बारबेरियन' शब्द का सही और सटीक अनुवाद क्या है ये तय करना कठिन है। हिन्दी में तो और भी। अँग्रेज़ी और हिन्दी के सामान्य पाठक के लिए 'बारबेरियन' का अर्थ बर्बर होता है और इसे आप नृशंसता और हिंसा से जोड़ सकते हैं। 'बारबेरियन' 'बारबर' से बना है लेकिन 'बारबर' (barbar) शब्द की व्युत्पति में जाएँ तो पता चलेगा कि ये एक कबीले का नाम भी था और प्रकारान्तर में इस कबीले के नाम से वह अर्थ जुड़ गया या जानबूझकर जोड़ दिया गया जिसे आज हिन्दी में बर्बरता कहते हैं। यानी कुछ हद तक अर्थ का अनर्थ हो गया। कवाफ़ी जिस अर्थ में 'वेटिंग फॉर द बेरिययन' कह रहे हैं क्या उसका सम्बन्ध आज के अँग्रेज़ीवाले बारबेरियन या हिन्दी में समझे जानेवाले बर्बरों से है? कवाफी मिश्री मूल के ग्रीक कवि थे इसलिए अँग्रेज़ों के लिए कविताएँ नहीं लिख रहे थे। अगर इस कविता का पूरी तरह से आस्वाद करना हो तो 'बारबर' के इतिहास-भूगोल को समझना होगा। तो हो गया न मामला पेंचदार? कविता में ऐसा होता रहता है।

ख़ैर, यह सब तो मंगलाचरण था। ये जताने के लिए कि खरे जी की कविताओं में पेचीदगी मौजूद है। पर ऐसा भी नहीं है कि उनकी हर कविता में यही सब है। इस संग्रह की, ज्यादातर कविताएँ सामान्य और दैनंदिन के तजुर्बो में जन्मी हैं। उनकी मशहूर और आधुनिक साहित्य में किंवदन्ती-सी बन चुकी कविता 'लालटेन जलाना' तो रोजाना के कस्बाई और गँवई अनुभव की है जो आज के विद्युतीकरण (जो देश के कई क्षेत्रों में अभी पहुँचा ही नही) के जमाने में भी हमारे जीवन में मौजूद है, लेकिन देश में पूरी तरह बिजली आ जाए और लालटेन नाम की चीज ख़त्म हो जाए तब भी इस कविता का तेज़ प्रकाशित होता रहेगा, क्योंकि यह सिर्फ़ लालटेन जलाने के बारे में न होकर सामान्य जीवन के बहुस्तरीय बुनावट के बारे में है। स्कूटर या मोटर साईकिल चलाने से लेकर खोमचा लगाने जैसे काम की जटिलताएँ भी इस कविता से उद्घाटित होती है। आर्जेटिनाई और स्पानी कवि (कहानीकार भी) होर्हे लुई बोर्हेस ने अपने 'पेरिस रिव्यू' को दिए साक्षात्कार में कहा था कि आम तौर पर कवियों के पास पाँच-छह मूल कविताएँ ही होती हैं, जिन्हें वे अलग अलग दृष्टिकोणों कई से बार लिखते हैं। इस लिहाज से देखें तो विष्णु खरे की ऐसी पाँच-छह 'मूल' कविताओं में एक 'लालटेन जलाना' भी है। इसी संग्रह में तीन पत्ते/ पत्ती उर्फ़ फ्लश या फलाश खेलते वक़्त बरती जानेवाली कुछ एहतियात' कविता भी 'लालटेन जलाना' का ही एक अन्य संस्करण है। भले इस संस्करण में कुछ नई बातें जोड़ दी गयी हों। पर काव्यदृष्टि और अन्तर्दृष्टि वही हैं।




*और अन्य कविताएँ*
विष्णु खरे
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
मूल्य : 300 /- रुपये

विष्णु खरे की एक अन्य ख़ासियत उनकी गद्यात्मकता है। जिसे आम समझ में काव्यात्मक कहा जाता है वो उनकी कविताओं में कम है। एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति और दूसरी से तीसरी, और ये क्रम आगे की पंक्तियों में जारी रहता है, इस तरह जुड़ती है मानों आप किसी ऐसे लिखित वक़्तव्य को पढ़ रहे हों जो किसी तथ्य के विभिन्न पहलुओं को सामने लाती है। कोई तथाकथित काव्यात्मक उड़ान नहीं। एक सघन वस्तुनिष्ठता, लेकिन साथ ही बेहद संवेदनशीलता। घटनाओं, प्रक्रियाओं या वाकयों के वस्तुनिष्ठ बयान से ही विष्णु खरे अपनी कविता निर्मित करते हैं। इसी कारण उन सामान्य जीवन स्थितियों में भी वे कविता का अनुसन्धान कर लेते हैं, जिनमें प्रवेश करने में कोई दूसरा कवि थोड़ा असहज महसूस करेगा। मसलन शोकसभाएँ आज के शहरी समाज में रोजाना होती हैं। हर छोटे-बड़े शहर में किसी न किसी की शोकसभा होती रहती है। इस संग्रह की पहली ही कविता 'विलोम' शोकसभाओं में निहित उन औपचारिक कर्मकांडों की निस्सारता को सामने लाती हैं जिसे हम सभी महसूस करते हैं लेकिन कह नहीं पाते, क्योंकि कहने से डरते भी हैं कि समाज क्या कहेगा? हालाँकि इन शोकसभाओं में पेशेवर शोकाकुल अक्सर दीखते हैं जिनके मौन (शोकसभाओं के अन्तवाला मौन) में मृत के प्रति किसी तरह का लगाव नहीं होता। बस एक पेशेवर

शोकसभाई अन्दाज होता है। और उनसे अलग अन्दाज होता है कवि का—

मेरे साथ यह विचित्र है कि/अगर किसी शोकसभा में जाता भी हूँ/तो मंच पर और मेरे आसपास आसीनों को देखते हुए उन पर/ और उनके बीच बैठे ख़ुद पर और दिवंगत आत्मा पर बल्कि सारे जमाने पर/ लगातार खिलखिलाने या कुछ अभद्र कहने की असभ्य इच्छा होती है/ जिसे अपने निजी जीवन की चुनिन्दा त्रासदियों को सायास याद करके ही दबा पाता हूँ

ऐसा कथन आपको किस समकालीन कवि के यहाँ मिलेगा?

अब एक 'क्लिशे'नुमा सवाल कि इस काव्य संग्रह का मूल मिजाज क्या है। मैं कहूँगा— किस्सागोई। यानी कवि ने कविताओं मे किस्से बुने हैं। सब में तो नहीं, लेकिन कई प्रमुख कविताओं में कोई न कोई क़िस्सा है। 'दम्यत्' कविता लीजिए। यह आजादी के पहले के भारत में बने एक गाँधीवादी, भाईजी, के बारे में है जो आजाद भारत में भी लम्बे समय तक, 1986 तक, गाँधीजी के बताए पथ पर चलते रहे। समाज के वंचित वर्ग के लिए आश्रम बनाया और उसमें पूरी निष्ठा और विनम्रता से लगे रहे। लेकिन फिर एक दिन, अकस्मात रूप से, जब वह डायबिटीज की वजह से बीमार पड़ के कोमा में चले जाते हैं को एक नया अध्याय शुरू होता है जो पिछले किए कराये पर पानी फेर देता है और यहीं से उनकी छवि का विघटन शुरू हो जाता है। ये गाँधीवादी बेहोशी-अर्धबेहोशी की स्थिति में अपने परिजनों को माँ की गालियाँ देना शुरू कर देते हैं। आसपासवाले सवाल पूछने लगते हैं कि आखिर ये सब क्योंकर हुआ? कई तरह के लोकापवाद फैलने लगते हैं। अपनों के बीच वे बेगाने हो जाते हैं और उनके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है—

दो-एक शाइस्ता औरतों को छोड़कर कोई महिला उनके पास न जाती थी/ न जाने दी जाती थी/ फीमेल नर्सों में भी अधेड़ कुछ दिन गयी भी/ फिर युवतियों की तरह उन्होंने भी जाना छोड़ दिया/ युवक मेल नर्स कुछ दिनों बाद हँसने मजाक करने लगते थे/ इसलिए सिर्फ़ रिटायरमेंट के नजदीक वार्डनों की ड्यूटी लगाई गयी/ अबोध बच्चों से लेकर अविवाहित नौजवानों तक का प्रवेश पूर्णत: वर्जित कर दिया गया/ सिर्फ़ डॉक्टर और सफाई कर्मचारी नियमित आते थे/ बीच में एक गम्भीर साइकॉलोजिस्ट अलबत्ता इस अद्वितीय केस को देखने आया था।

क्या कहती है ये कविता? क्या ये कि आजाद भारत में जिस तरह गाँधीवादी आदर्श छिन्न-भिन्न हुए उससे हताश भाईजी की असहायता का बोध उनकी बेहोशी में गालीरूपी टेक से सामने आ रहा था? एक पूर्ण समर्पित व्यक्तित्व ये पाता है कि जिन मूल्यों को लेकर वह चला था उनकी समाज में कोई औकात नहीं रही और ऐसे में हताशा के दौर में वह अपने अन्तर्मन में गाली देने के अलावा कोई विकल्प नहीं पाता। क्या वो गाली किसी और को नहीं बल्कि अपने को दे रहा है कि ऐसा जीवन क्यों जिया? या कविता ये बताती है कि मनुष्य का अन्तरतम कई तरह की जटिलताओं से भरा है और सार्वजनिक जीवन में अच्छे से अच्छा माने जानेवाला शख़्स अपने भीतर कई ग्रन्थियाँ पाले रहता है? ये ग्रन्थियाँ तब सामने आती हैं जब हम सामाजिक अनुकूलन से बाहर होते हैं या बेहोश होते हैं। आख़िर 'अपराध और दंड' के रस्कोलनिकोव ने वृद्ध-असहाय स्त्री की हत्या क्यों की थी, ये वो कभी सचेतन स्थिति से समझ नहीं सका। निश्चित रूप से कहना कठिन है भाई जी के साथ ठीक-ठीक क्या हुआ कि वे अपने को सिर्फ़ गाली की भाषा में ही सम्प्रेषित करने लगे। पर इतना तो कहा जा सकता है कि सार्वजनिक रूप से समाज के समर्पितों के मन के भीतर भी कई भावनाएँ ऐसी होती हैं जिनको वे दबाये रहते हैं और जब वो दबा हुआ बाहर आता है तो बहुत कुछ तहस नहस हो जाता है।

इस संग्रह में एक कविता है जिसका शीर्षक देवनागरी में नहीं बल्कि रोमन लिपि में है— abandoned (अबेंडंड)। हिन्दी में इसका मोटामोटी अर्थ होगा 'जिसे छोड़ दिया गया है' या 'परित्यक्त'। ये उन मकानों या भवनों के बारे में है जिनमें कोई स्थायी बाशिन्दा नहीं होता और जिनको क़ानूनी तौर पर घोषित कर दिया जाता है कि यहाँ कोई नहीं रहता या ये मकान किसी का पता नहीं है। इसके कुछ और भी क़ानूनी मतलब हो सकते हैं। अमूमन शहरों में इस तरह के मकान होते हैं। हालाँकि 'अबेंडंड' घोषित कर दिए मकान पूरी तरह के परित्यक्त नहीं होते। कवि इसकी तरफ़ भी संकेत करता है—

'पता नहीं कितने लोग फिर भी सर्दी गर्मी बरसात से बचने के लिए/ इन तजे हुए मकानों को चन्द घंटों के लिए अपनाते हों/ प्रेमी-युगल इनमें छिपकर मिलते हों/ बेघरों-फकीरों-बैरागियों, मुसीबतजदाओं का आसरा बनते हों ये कभी/ यहाँ नशा किया जाता हो/ जयरामपेशा यहाँ छिपते पड़ाव डालते हों/ सपेरे मदारी नट बाजीगर बहुरूपिए कठपुतलीवाले रूकते हो यहाँ/ लंगूर इनकी छतों पर बैठते हों/ कभी कभी चौकन्ना जंगली जानवर अपनी लाल जीभ निकाले हाँफता सुस्ताता हो'

इस कविता का मिजाज भी गद्यात्मक है और अपनी कुछ अन्य कविताओं की तरह कवि यहाँ विवरणी भी देता है कि इस मकान में क्या-क्या होता होगा। कई सम्भावनाएँ हैं। इनको जताते हुए कवि सिर्फ़ वहीं तक नहीं रूकता। वह आगे बढ़ता है और पूछता है कि अबेंडंड— 'किस-किस पर कैसे कब तक लिखोगे/ जबकि सबकुछ जो रखने लायक था तर्क किया जा चुका'

यानी कविता अन्त तक पहुँचते पहुँचते एक सामाजिक हानि की हो जाती है। समाज में और इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं जिसमें 'तज दिए गयों' के अपने निहितार्थ होते हैं।

विष्णु खरे की कई छवियाँ हैं— हिन्दी भाषी समाज में। इनमें एक क्रोधी दुर्वासा की भी है। हिन्दी की साहित्यिक दुनिया के

कुछ सत्तावन उनके शापों से मुक्त नहीं हो पाए हैं। शायद कभी होंगे भी नहीं। कुछ लोगों को खरे सांस्कृतिक कही जानेवाली शब्दावली में या सामाजिक कहे जानेवाले सम्बोधन से सम्बोधित नहीं करते। पर वे सिर्फ़ आरोप नहीं लगाते बल्कि ये भी कहते हैं कि— 'क्या पता मैं उन्हें इसलिए कमीना समझता हूँ/ कि उतना पहचानने लायक कमीनापन मुझमें भी बचा है।'

'आलैन' आलैन नाम के बच्चे के साथ सन् 2015 में घटी उस त्रासदी पर है, जिसने शरणार्थी समस्या को लेकर विश्व मीडिया और जनमत का ध्यान आकृष्ट किया था। सीरिया में जब इसलामिक स्टेट (आईएसआईएस) ने आतंक मचाना शुरू किया तो उन समूहों के लिए गम्भीर समस्या शुरू हो गयी जो सीरियाई मूल के नहीं थे। इन समूहों में कुछ कुर्द भी थे, हालाँकि इनको कहा तो सीरियाई कुर्द जाता है लेकिन ये वैध रूप से सीरिया के बाशिन्दे नहीं हैं। उनमें से कई वहाँ से भागकर विदेश जाना और बसना चाहते थे। आलैन के पिता अब्दुल्ला ने भी तय किया कि अपने परिवार के साथ वहाँ से भागकर अपनी बहन के पास कनाडा चला जाए। हालांकि तुर्की उस समय उन सीरियाइयों की मदद कर रहा था जो इस्लामिक स्टेट के आतंक से डरकर विदेश जाना चाहते थे। पर अब्दुल्ला-परिवार के साथ दिक्कत ये थी कि कुर्द होने के वजह से उनका क़ानूनी रूप से पासपोर्ट बनना सम्भव नहीं था। ऐसे में उस परिवार के पास इस बात के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा था कि वे अवैध तरीके से समुद्री रास्ते से ग्रीस जाएँ और फिर वहाँ से कनाडा। जिस नाव पर वो परिवार सवार हुआ वो समुद्री थपेड़े खाने के बाद उलट गया और उसमें सवार 23 में 14 लोग मारे गए। इनमें अब्दुल्ला की पत्नी, बड़ा बेटा गालिब और छोटा बेटा आलैन भी थे। आलैन का शव तुर्की समुद्री तट के पास पाया गया और उसका फोटो, जिसमें वह समुद्र तट के पास गीली रेत पर पाया गया था, पूरी दुनिया में प्रसारित हुआ था। (इस संग्रह के आवरण पर भी वही फोटो है।) रेत पर पड़ा ये शव इस मुद्रा में था कि इसे ढूँढ़नेवालों कुछ लोगों को लगा कि कोई बच्चा पेट के बल तट के करीब सो रहा है।

कविता माँ के नजरिए से लिखी गयी है। उस माँ के नजरिए से जो अपने बेटे के साथ ही इस दुनिया से जा चुकी है। दूसरे शब्दों में कहें तो माँ की रूह अपने बेटे से बात रही है। कविता इस तरह शुरू होती है—

*हमने कितने प्यार से नहलाया था तुझे*
*कितने अच्छे साफ कपड़े पहनाए थे*
*तेरे घने काले बाल सँवारे थे*
*तेरे नन्हें पैरों को चूमने के बाद*
*जूतों के तस्में मैंने ही कसे थे*
*गालिब ने सताने के लिए तेरे बालों पर गीला प्यार किया था*
*जिसे तूने हमेशा के लिए पोंछ दिया था*

*और अब तू यहाँ आकर इस गीली रेत पर सो गया*

*चल अब उठ छोड़ इस सर्द रेत के बिछौने को*
*छोड़ इन लहरों की लोरियों और थपकियों को*
*नहीं तो शाम को वह तूझे वह अपने आगोश में ले जाएँगी*
*मिलें तो मिलने दे फूफी और बाबा को रोते हुए कहीं बहुत दूर*
*अपन तीनों तो यहीं साथ हैं न*
*छोड़ दे ख्वाब नए अजनबी दोस्तों और नामालूम किनारों के*
*देख गालिब मेरा दायाँ हाथ थामे हुए है तू यह दूसरा थाम*
*उठ हमें उनींदी हैरत और खुशी से पहचान*
*हम दोनों को लगाने से गले से तूझे*
*आ तेरे जूतों से रेत निकाल दूँ*
*चाहे तो देख ले एक बार पलटकर इस साहिल उस दूर जाते उफक को*
*जहाँ हम फिर नहीं लौटेंगे*
*चल हमारा इंतिजार कर रहा है अब इसी खाक का दामन*

'आलैन' बेशक एक वैश्विक परिघटना से जुड़ी कविता है पर कवि ने यहाँ जिस तरह एक माँ की निजी पीड़ा को भी व्यक्त किया है उससे इसके अन्तर मौजूद त्रासदी का विस्तार हो जाता है। अमूनन सार्वजनिक दुर्घटनाओं और त्रासदियों में जो लोग मरते हैं वे आँकड़े होकर रह जाते हैं। पर मरनेवाले या मरनेवालियाँ भी क्रमशः किसी के पुत्र, पुत्री, भाई, बहन होते होंगे। उनकी निजी पीड़ा कहीं दर्ज नहीं होती। खरे उसे दर्ज करते हैं। कवि या कविता का एक काम ये भी है। यहाँ आलैन की माँ की पीड़ा भी दर्ज है और हर उस माँ की भी जिसका बेटा किसी दुर्घटना का शिकार होता है।

'देखना' एक सामान्य और सहज प्रक्रिया है। हर व्यक्ति जो दृष्टिहीन नहीं है, देख सकता है। लेकिन 'देखना' एक जटिल प्रक्रिया भी है। 'देखना' विश्लेषण करना भी है। 'देखना' दृश्य के पीछे और आगे जाना भी है। अपने भीतर भी प्रवेश करना है। 'फासला' कविता इसका एक उदाहरण है। कभी पत्रकार मित्र कुलदीप कुमार के केबिन में, जब वे 'पॉयनियर' नाम के अँग्रेज़ी अख़बार में काम करते थे, विष्णु खरे ने एक मढ़ा हुआ फोटोग्राफ देखा था। उसे देखने के बाद लिखी गयी कविता इस तरह शुरू होती है—

*थोड़ा झुका हुआ देहाती लगता एक पैदल आदमी*
*अपने बाएँ कन्धे पर एक झूलती-सी हुई वैसी ही औरत को ढोता हुआ*
*जो एक हाथ से उसकी गर्दन का सहारा लिए हुए है*
*जिसके बाएँ पैर पर पंजे से लेकर घुटने तक पलस्तर*
*दोनों के बदन पर फकत एकदम ज़रूरी कपड़े*
*अलबत्ता दोनों नंगे पाँव*
*उनकी दीखती हुई पीठों से अन्दाज़ होता है*

*कि चेहरे भी अधेड़ और सादा रहे होंगे*

आगे कवि कई अन्य चीजें भी देखने और सोचने लगता है। उसे लगता है कि ढोई जानेवाली औरत ढोनेवाले की ब्याहता रही होगी और वे दोनों शायद विलिंग्डन (अब राममनोहर लोहिया) अस्पताल जा रहे होंगे जहाँ उस औरत का पलस्तर कटना होगा। स्पष्ट है कि दोनों बेहद गरीब होंगे। आखिर क्यों एक आदमी अपनी औरत को किसी सवारी पर ले जाने की बजाए अपने कंधे पर ढोएगा? गरीबी ही वजह रही होगी। कवि यह भी सोचता है कि क्या अपनी हालत से परेशान औरत ने अपने मर्द से कहा होगा कि इस तरह उसे ले जाने की ज़रूरत क्या है और उसे कहीं बीच रास्ते पर पटक दे और लौट जाए और पति ने उसे डाँटा हो ज्यादा बोलने की ज़रूरत नहीं। कवि के मन में ये खयाल भी आता है कि आखिर दिल्ली शहर मे कोई उनकी अस्पताल पहुँचाने में मदद क्यों नहीं करता? कविता जितना कहती है उससे अधिक अनकहा छोड़ देती है। पाठक इन अनकहे को अपनी तरफ़ से समझ सकता है। कविता के अर्थग्रहण का तात्पर्य सिर्फ़ ये नहीं है कि आप उसके शब्दों के अर्थ समझ लें? अर्थ कोई निश्चित इकाई नहीं है। वह एक निरन्तरता है जो शब्दों के भीतर भी रहता है और उनसे परे भी जाता है। अच्छी कविता हमेशा शब्दों के पार जाती है और पाठक के कल्पनालोक को व्यापक बनाती है।

इस संग्रह की एक कविता 'तत्र तत्र कृतमस्तकांजलि' कस्बाई जीवन से सम्बन्धित है। वैसे खरे के भीतर एक कस्बाई शख़्स हमेशा मौजूद रहा है और इसी कारण उनकी कुछ कविताओं में उन शहरों और मुहल्लों के नाम आते हैं जो बहुत ज्यादा नहीं जाने जाते। उनके यहाँ ऐसे कस्बों या मुहल्लों की कहानियाँ हैं और वहाँ के लोगों का वृतान्त भी। ये कविता भी एक कहानी है। इसमें सोनी जी नाम के एक ऐसे सज्जन का वृतान्त है जो छिन्दवाड़ा के हैं और 'राम चरित मानस' का पाठ सार्वजनिक रूप से करते हैं। रात में कुछ लोग स्थायी रूप से उनके मानस-पाठ को सुनने आते हैं। इनमें एक व्यक्ति ऐसा हैं जो नियमित रूप से आता है और बिना किसी से कुछ बोले मानस सुनता हैं। पूरी निष्ठा के साथ। कवि कहता है— उसे किसी ने आते देखा था न जाते/इस अर्थ में कि वह अचानक दुकान के दरवाजे के सामने दिखाई देता था/और जाते समय गली के अंधियारे में मुश्किल से दस कदम तक'। किवंदती फैल जाती है कि सदा पूरी तन्मयता से रामकथा सुननेवाला यह शख़्स हनुमान जी है। उसे सोनी जी के मानसपाठ के स्थायी श्रोता ऐसा सम्मान देते हैं कि सच में वह रहस्यमय-सा आदमी हनुमान है और सोनी जी के बारे में धारणा फैल जाती है कि वे तुलसीदास के अवतार हैं।

सवाल उठाया जा सकता है कि आखिर इस कविता के माध्यम से कवि क्या कहना चाहता है? बड़ी आसानी से आरोप की शैली में कहा जा सकता है कि इस तरह की कविता से विष्णु खरे अन्धविश्वास को बढ़ावा दे रहे हैं। आखिर हनुमानजी मानस का पाठ सुनने कैसे आ सकते हैं और कोई सोनी जी नाम का शख़्स तुलसीदास का अवतार कैसे हो सकता है?

अगर आप इस मन:स्थिति के साथ इस कविता के पास गए तो इसी तरह के भाव मन में उठेंगे। अत: इस कविता के मर्म को समझने के लिए एक अलग तरह का दृष्टिकोण चाहिए। दरअसल खरे यहाँ, अपनी कुछ अन्य कविताओं की तरह, एक कथा बुन रहे हैं। कवि कोई मूल्य निर्णय नहीं देता कि फलाँ चीज लोगों का अन्धविश्वास है या उनकी आस्था। कविता, या इसके भीतर निहित कहानी, इस बात को दिखाती है कि हमारे कस्बाई जीवन की सामाजिक-मानसिक बनावट क्या है और धार्मिक आस्थाएँ किस तरह उसे निर्मित करती हैं। विष्णु खरे उन मनोभूमि का रिपोर्ताज लिख रहे हैं जहाँ आस्था किसी तरह की आक्रामकता से लैस नहीं है, बस सिर्फ़ भोलापन लिए हुए है। उस नृेतत्वशास्त्री की तरह जो अपनी अध्ययन भूमि का कोई विश्लेषण या व्याख्या पेश नहीं करता बल्कि तथ्य इकट्ठा करता है। वैसे ही कवि एक कथा सुना रहा है। समाज को समझने के लिए पहले देखिए कि वहाँ क्या-क्या है, और कौन सी मानसिकताएँ वहा काम कर रही हैं। वैसे जोसेफ कैम्पबेल जैसे मिथक-विशेषज्ञ ने अपने अध्ययन से दिखाया है कि मनुष्य लगातार मिथकों में जीता रहा है। इस नजरिए से भी इस कविता का विशलेषण किया जा सकता है।

कविता एक स्मृति भी है। और कई बार हमारी स्मृति कुछ छवियों या बिम्बों की होती है। उनका कोई और वृहत्तर अर्थ भले न हो पर वे हमारे मन के भीतर खुबी रहती हैं। इस संग्रह में भी ऐसी कुछ कविताएँ हैं जो सिर्फ़ यादे हैं। एक तो 'मुआफीनामा' शीर्षक से है जिसका सम्बन्ध हिन्दी के कवि-आलोचक गिरिधर राठी से है। राठी जी आपातकाल के समय जेल में थे और उस समय उनको सत्ता की तरफ़ से सन्देश भेजा गया था कि अगर वे माफी माँग लेते हैं तो उनको रिहा किया जा सकता है। (तो इस तरह इस कविता के पीछे भी एक कहानी है।) लेकिन राठी ने माफी नहीं माँगी थी। कविता में सिर्फ़ उस वाकये का जिक्र है जब दिल्ली के संसद भवन थाने में राठी जी से मिलने उनका परिवार— पत्नी, पुत्र और पुत्री— और शायद कवि (यानी विष्णु खरे) गए हुए थे। यहाँ सिर्फ़ राठी की भंगिमा दिखाई गयी है जिसमें वे थोड़ा सा मुस्कराते हैं और 'फिर वह मुस्कान भी चली गयी।' कविता गिरफ्तार कवि-आलोचक की पत्नी और बच्चों की मूक आशंकाओं और विवशताओं को भी दर्ज करती है।

स्मृतिवाली दूसरी कविता 'सरोज-स्मृति' है। इसका सूर्यकान्त 'त्रिपाठी' निराला की 'सरोज-स्मृति' से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, पर उसकी याद भी दिला ही जाती है। एक स्मृति दूसरी स्मृति या स्मृतिवाली कविता से जुड़ जाती है। विष्णु खरे की

'सरोज-स्मृति' एक ऐसी मजदूरन के बारे में है जो दूसरों के घरों में पीने का पानी भरने का काम करती है— किशोरी वही काम कर रही थी/जो उसकी माँ देवकी और बाप लक्खू गोंड करते थे/ सिर या काँवड़ पर मीठे कुओं से/ घरों में पीने के पानी भरने का...कनकछरी जैसी अब वह/ उसका चेहरा और गर्दन काँपते थे हल्के हल्के/ चुम्हरी पर रखी भरी गगरी के छलकने से/ किसी नर्तकी या गुड़िया सरीखे/ हाँ में या ना में समझना मुश्किल था।

ये साफ़ नहीं होता कि ये कवि की निजी स्मृति है या उसकी कल्पना है पर इसका सम्बन्ध भी मनुष्य के स्मृतिलोक से है। पर क्या इस कविता की कहानी को और भी आगे बढ़ाया जा सकता है? ठीक उस तरह जिस तरह विष्णु खरे पत्रकार कुलदीप कुमार के केबिन में फोटो को देखकर एक सम्भावित कहानी, या कविता, 'फासला' बुनते हैं। आगे चलकर क्या हुआ उस सरोज का? उसकी कोई गिरस्ती बसी या नहीं? क्या उसके बच्चे भी उसी तरह शहर के कुँओं से दूसरों के लिए पीने का पानी भरते रहे और घरों में पहुँचाते रहे, जैसा कि उसके माँ-और पिता भी करते थे और समाज में उनके सीमान्त पर होने का सिलसिला जारी रहा? या उसका जीवन बदला? उसकी पढाई-लिखाई तो नहीं हुई, पर उसके बच्चे (अगर हुए हों तो) स्कूल या कॉलेज पहुँचे? कई खयाल मन में आते हैं और कविता में कहे गए को आगे बढ़ाते हैं।

कविता वैयक्तिक भी होती है। यानी उसमें निजी दुख-सुख, उल्लास और अवसाद भी होते हैं। हर व्यक्ति की अलग अलग वैयक्तिकताएँ होती हैं। इस संग्रह में कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जो एक व्यक्ति के उन एहसासों को दर्ज करती है जिसे वह अपने परिवार में महसूस करता है। आदमी धीरे-धीरे अपने परिवार में भी अकेला पड़ता जाता है। परिवार से लगाव भी बना रहता है और उससे अलगाव भी हो जाता है। ये दुतरफ़ा मन:स्थिति रहती है। 'फाँक' कविता में इसी फाँक को लक्षित किया गया है। कविता इस बात से शुरू होती है कि एक परिवार के चार सदस्य— माँ और तीन सन्तानें— एक कमरे में बैठे हुए हैं। साथ में कुत्ता भी। हाहाहीही हो रहा है और धौलधप्पा भी। जब यदा कदा उनके बीच बच्चों का पिता, जो प्रौढ़ या वृद्ध हो चुका है, पहुँचता है तो वह अनामन्त्रित मेहमान-सा हो जाता है—

*कभी-कभी वह भी उनमें बिन बुलाए शामिल हुआ है*
*लेकिन उसने पाया है कि उसके पहुँचने के औसतन बीस मिनट बाद*
*यह शीराजा बिखरने लगता है*
*धीरे-धीरे सबको कोई न कोई काम याद आने लगते हैं और वे तितर-बितर होने लगते हैं*
*उसे वहीं चलते खाना खजाना के सामने छोड़कर*

हर कवि अपने भीतर कुछ अन्य दूसरे कवियों को भी समेटे रहता है। दूसरे कवि की कविता, या पंक्तियाँ उसके भीतर स्थायी रूप से बस जाती हैं। इस संग्रह के आधार पर ये तो कहा जा सकता है कि हिन्दी के दो कवि तो विष्णु खरे के भीतर लगातार गुंजित होते रहते हैं। निराला और शमशेर बहादुर सिंह। संग्रह की एक कविया (या गजल) 'बजाए गजल' शमशेर से प्रभावित है। कविता शुरू होने के पहले इसका ऐलान भी किया गया है। और इस गजल के एक शेर में 'निराला' इस तरह उपस्थित हैं—

*हर कोई निराला हो नहीं जाता*
*लाख कड़ी मारे पड़ें सीने पर*

और 'कल्पनातीत' कविता में घास, बकरियों और तितलियों के वर्णन में शमशेर की 'उषा' कविता की एक पंक्ति 'प्रात नभ था बहुत नीला शंख जैसे' बदले हुए शब्दों में इस तरह आ जाती है: 'प्रात: नभ होगा नीला शंख जैसा'। शमशेर की तरह कभी कभी विष्णु करे दृश्य की व्याख्या नहीं करते बल्कि उसका बयान कर देते हैं। अपनी तरह से। जैसे कोई भूदृश्य—पेंटर (लैंडस्केप पेंटर) दृश्य को सामन रख देता है। इस कविता में विष्णु खरे वही करते हैं।

कविता कई बार दूरस्थों को मिलाती है। उन दूरस्थों को जो काल और भूगोल-दोनों में दूर-दूर रहते हैं। 'झूठे तार' कविता में शेक्सपीयर और कुन्दनलाल सहगल के साथ-साथ आरजू लखनवी की उपस्थिति है। तीनों इस तरह मौजूद हैं कि मानों वाद्यवृन्द में तीन साज एक साथ हों। शेक्सपीयर शायद इसलिए कि कभी विष्णु खरे अँग्रेजी के अध्यापक थे और कुन्दनलाल सहगल इस वजह कि खरे जबरदस्त फ़िल्मप्रेमी और फ़िल्म-संगीत-प्रेमी भी हैं। और आरजू लखनवी कौन थे? पुराने हिन्दी-फ़िल्म संगीत-प्रेमियों को मालूम होगा कि आरजू लखनवी वो गीतकार हैं जिनके लिखे नग्मे 'जीवन बीन मधुर ना बाजे' को कुन्दलनलाल सहगल में 'स्ट्रीट सिंगर' फिल्म में गाया था। कविता इस तरह शुरू होती है—

*जूलियस सीजर में जब ब्रूट्स का किशोर गुलाम लुसियस*
*उस सन्तूर बजाकर सुला रहा होता है*
*तो बीच में उसे ही झपकी आ जाती है*
*और जब उसका मालिक कहता है*
*कि उठ लुसियस खामोश क्यों हो गया साज*
*तो उसने लैटिन में जो जवाब दिया होगा*
*शेक्सपिअर अपनी अँग्रेज़ी में कहता है*
*'दि स्ट्रिंग्स, माई लार्ड्स, आर फाल्स'*
*और हम अपनी जुबान में समझते हैं*
*'तार बेसुरे हो गए हैं आला हजरत'*

शेक्सपीयर के बाद सीधे उस कुन्दनलाल सहगल की याद आती है जिसके गाए आज

भी लोगों के दिल और होठों पर मौजूद हैं—

*कुन्दनलाल के स्वर याद आए*
*बिगड़े काठ से काम बने क्या*
*न मेघ बजता है न मल्हार*
*पंचम मध्यम में*
*खरज निकलता है गंधार में*
*जीवन बीन मधुर न बाजे*
*झूठे पड़ गए तार बीन के*
झूठे पड़ गए तार

और फिर शेक्सपीयर, कुन्दनलाल सहगल और आरजू लखनवी से होते हुए कवि आज के समय में पहुँचता है और उसके मन में सवाल उठने लगते हैं। ये सवाल सिर्फ़ संगीत के नहीं बल्कि जीवन की धड़कन से सम्बन्धित होते हैं—

*किस से खुलें तार*
*कौन फेंके तरबें*
*कहाँ से आएँ उत्तम तार नई तरबें*
*कैसा हो नया सिंगार*
*कैसे हर सुर बोले मद्धम*
*कब गूँजे संसार*

'और अन्य कविताएँ' में कुछ बाकी कविताएँ है ऐसी हैं जो अधिक गहन विश्लेषण की माँग करती हैं। जैसे मोहनजोदाड़ों की अभी तक अनपढ़ीं या नहीं समझी गयी लिपि पर लिखी गयी कविता। पारिवारिक और निजी सम्बन्ध वाली अन्य कविताएँ भी कई स्तरों पर हमारे भीतर पैठ बनाती हैं। खरे के पिछले संग्रहों की तुलना में ये संग्रह कुछ नयापन लिए हुए है और उनकी काव्यचेतना में हुए विस्तार का एहसास भी यहाँ होता है। हालाँकि उनका अपना अर्जित अन्दाज भी कायम है।

मो.: 09873196343

## राजेश जोशी

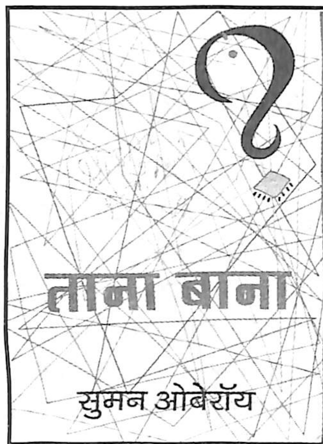
# बिखरता बनता जीवन का ताना-बाना

**सुमन ओबेरॉय का** यह दूसरा कहानी संग्रह है। जिन पाठकों ने उनके पहले संग्रह की कहानियों को पढ़ा होगा वो यह आसानी से लक्ष्य कर सकते हैं कि इस संग्रह की कहानियाँ पिछले संग्रह से आगे की कहानियाँ हैं। भाषा और शिल्प की दृष्टि से ही नहीं, जिन विषयों को, जीवन के जिन प्रसंगों को सुमन ओबेरॉय ने यहाँ छुआ है, उस दृष्टि से भी। कथाकार, नाटककार राजेश जैन ने भूमिका में लिखा है कि इसमें एक दबा-दबा-सा स्त्री-विमर्श भी है—लेकिन वह एकांगी नहीं है। स्त्री विमर्श के बहुत सारे आयाम हैं, यह एक बड़े विमर्श का विषय है, इस समय। मुझे लगता है कि सुमन के सोचने का ढंग थोड़ा अलहदा है। वो कम-से-कम विमर्शवादियों से आक्रान्त नहीं हैं।

घर-परिवार उनकी पिछली कहानियों के केन्द्र में भी था और इन कहानियों का भी केन्द्र घर-परिवार ही है। परिवार केन्द्र होते हुए भी वह उनकी सीमा नहीं है। वह उससे बार बार बाहर आती हैं। कहानी का अतिक्रमण करती हैं। उनकी कहानियाँ बहुत सारे मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक और सामाजिक पहलुओं को छूती हैं। सुमन ओबेरॉय चरित्रों के व्यवहार की पड़ताल करते समय चरित्रों के व्यवहार के भीतर धँसती हैं, ख़ास ढंग से, कहना चाहिये कि एक मनोवैज्ञानिक की तरह प्रवेश करती हैं। यह दिलचस्प है कि कहानी पढ़ते हुए हमें लगता है कि यह एक सरल-सी कहानी है। उसके चरित्र एकदम आसपास के चरित्र लगते हैं। आख्यान में घटित हो रही घटनाएँ एकदम चिर परिचित और दैनन्दिन की घटनाएँ लगती हैं। भाषा सरल है लेकिन चरित्र जटिल है। यह अजीब भी है और दिलचस्प भी। चरित्र के संस्कार, उसका मनोजगत जटिल है। कहानी कहने की कला सरल है। इसलिए वह सरलता से सम्प्रेषित भी होती है, लेकिन जैसे ही हम रूककर सोचने लगते हैं तो लगता है कि नहीं, यह उतनी सीधी सादी नहीं है। वह परत दर परत समाज की कई ग्रन्थियों को, उलझनों को खोलती है।

संग्रह की पहली कहानी है— बहता पानी। यह लिव-इन रिलेशनशिप पर है। इस कहानी की सबसे दिलचस्प बात यह है कि सुमन कोई मूल्य निर्णय नहीं थोपती हैं। वह सिर्फ़ एक कथा बुनती हैं, जिसमें एक स्त्री है—निशि, एक लड़का है दीपक। दोनों लिव इन में रहते हैं, लेकिन जब शादी की बात आती है तो लड़की सम्बन्ध में बँधने से इंकार कर देती है। यह छोटी-सी कहानी है। लिव इन की रिलेशनशिप भी बहुत कम दिन की है। कहानी को अगर थोड़ा बढ़ाया जाता तो इस सम्बन्ध की जटिलताओं को ज्यादा बेहतर ढंग से समझा जा सकता था, लेकिन सुमन ओबेरॉय शायद स्वयं भी इस उलझन में उलझ-सी गयी हैं। लेकिन ऐसा लगता है जैसे सुमन ओबेरॉय निर्णय का हक पाठकों पर छोड़ देना चाहती हैं। एक बहुत सुन्दर कहानी है—मुनिया की साइकिल। यह हमारे समय का एक कड़वा सच है। हमारे समय में जो जेंडर भेदभाव है, जो जितना सामाजिक स्तर पर दिखता है उससे कहीं ज़्यादा वह हमारे दिमाग के स्तर पर काम कर रहा है। यह कहानी इस लिंग-भेदभाव पर लिखी गयी एक मार्मिक कहानी है। जहाँ पढ़ने वाली लड़की को स्कूल में सरकार की तरफ़ से साइकिल मिलती है और आते ही उसे उसका भाई छीन लेता है। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि परिवार भी लड़के के साथ खड़ा दिखता है।

'सेकिंड इनिंग' एक मजेदार कहानी है। कवि पवन करण की एक कविता है प्रेम करती हुई माँ। यह हिन्दी की एक चर्चित कविता है। जिस तरह पवन करण की कविता में बेटा माँ, जो अकेली हो गयी है उसके प्रेम करने को देखता है, उसी तरह इस कहानी में भी बेटा अपनी अकेली हो गयी माँ के जीवन में आये प्रेम को देखता है। लड़का माँ से कहता




*ताना बाना (कहानी संग्रह)*
सुमन ओबेरॉय
प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली
मूल्य : 250 /- रुपये

---

भी है कि तुम दुबारा शादी करो, तुम्हारा भी घर संसार हो। लड़के को लगता है कि जब उसकी अपनी शादी हो जाएगी तो घर में माँ एक आउट साइडर हो जाएगी, इसलिए माँ का अपना घर, अपना संसार होना चाहिये। एक और कहानी है—हलाहल। यह कहानी एक स्तर पर विभाजन की त्रासदी से जुड़ी है। सुमन ओबेरॉय हालाँकि विभाजन की त्रासदी की साक्षी नहीं रही हैं। इस अर्थ में यह महत्त्वपूर्ण है कि आज का लेखक विभाजन की त्रासदी को किस तरह से देखता है और विभाजन की त्रासदी के कितने दूरगामी प्रभाव हुए होंगे, इस कहानी से पता है।

इस संग्रह का लक्ष्य यदि देखना हो तो–अँधेरे से उजाले तक, कहानी में देखा जा सकता है। यही नहीं सुमन ओबेरॉय की कहानियाँ अपनी सारी विडम्बनाओं, विसंगतियों, दुख तकलीफ़ के बावजूद निराशा की तरफ़ नहीं ले जातीं। इसी अर्थ में इस ताना बाना को समझना चाहिये।

ये आकार में छोटी, सरल कहानियाँ हमारे आसपास के जीवन की कई जटिलताओं को, कई ग्रन्थियों को सरलता से खोलने का काम करती हैं।

E-mail : rajesh.isliye@gmail.com

## धीरंजन मालवे

# आदिवासी संस्कृतियों का ख़ूबसूरत कोलाज

**भारत की बहुरंगी** सामासिक संस्कृति में देश के नौ करोड़ से अधिक आदिवासी अपनी ख़ास छटा बिखेरते हैं। इन आदिवासियों की अपनी विशिष्ट जीवन शैली है जिनमें भाषा, संगीत, लोकगाथाएँ, सामाजिक संगठन, विज्ञान चिकित्सा और इंजीनियरिंग जैसे तत्त्व समाहित हैं। ये सारे तत्त्व काल के प्रवाह के साथ-साथ परिपक्वता पाते रहे हैं और विभिन्न आदिवासी समुदायों ने इन तत्त्वों के संयोजन से बने धरोहर को पीढ़ी दर पीढ़ी सँजोकर सुरक्षित रखा है। इनकी निष्ठाएँ, मान्यताएँ, जीवन मूल्य और नैतिक मानदंड आधुनिक सभ्यता का दम भरनेवाले शहरी समुदाय से कहीं ऊँचे हैं।

यह अफ़सोस का विषय है कि आज़ादी के सत्तर वर्षों के बाद भी आदिवासियों को मुख्यधारा के साथ पूरी तरह से जोड़ा नहीं जा सका है, बिना उनकी मूल जीवन पद्धति पर आघात पहुँचाए। शायद इसीलिए उनकी विशिष्ट जीवन शैली के प्रति सम्मान का अभाव नज़र आता है। साहित्यिक वर्ग भी इस सिलसिले में अपनी जवाबदेही से पूरी तरह से मुक्त नहीं है और इस दिशा में बहुत कुछ करने की आवश्यकता है।

ऐसे में हरिराम मीणा की पुस्तक 'आदिवासी लोक की यात्राएँ' एक आशा की किरण के समान है। हरिराम मीणा पेशे से पुलिस अधिकारी रहे हैं, मगर भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बसनेवाले आदिवासियों के जीवन और संस्कृति में उनकी गहरी अभिरुचि रही है, हृदय के अन्तरतम तक। उन्होंने भारत के विभिन्न भागों में स्थित आदिवासियों के बीच जाकर उनके जीवन को निकट से देखा है और अपनी पैनी दृष्टि और विश्लेषण के माध्यम से संचित अनुभवों और ज्ञान को साहित्य का रूप देकर जन जन तक पहुँचाने की दिशा में निरन्तर काम किया है।

उनकी अभी हाल ही में प्रकाशित पुस्तक उनके वर्षों की खोज का परिणाम है। जो देश के अलग-अलग हिस्सों में अवस्थित बारह आदिवासी समुदायों से पाठकों का साक्षात्कार कराती है। पुस्तक के आध्यम से हम अंडमान के जारवा और सेंटीनेलीज भाइयों से मुलाकात करते हैं, छत्तीसगढ़ के बैगाओ से रूबरू होते हैं और बंजारा समुदाय से मुख़ातिब होते हैं। मीणा हमें मध्यप्रदेश के भील इलाकों से घुमाते हुए आन्ध्र प्रदेश के चेंचू जनजीवन से भी परिचित कराते हैं। मीणा के विस्तृत कैनवास में राजस्थान के गरासिया, सहरिया और मीणा के साथ-साथ मध्यभारत के गोंड सिक्किम के लेपचा, झारखंड के मुंडा और नीलगिरि के विभिन्न समुदाय किसी कोलाज की तरह एक-दूसरे से जुड़ते प्रतीत होते हैं।




*आदिवासी लोक की यात्राएँ*
हरिराम मीणा
भारतीय ज्ञानपीठ
नयी दिल्ली-110003
मूल्य : 150 /- रुपये

यह पुस्तक हमें देश की बारह जनजातियों से परिचित तो करा देती है, मगर यह साफ़ है कि इसके सीमित कलेवर में गहराई और गहनता की गुंजाइश अधिक नहीं बनती। मीणा जी चूँकि स्वयं राजस्थान से हैं अत: राजस्थान के गरासिया, सहरिया और मीणा जनजातियों की जीवन शैली के विभिन्न पहलुओं पर वे विशेष रूप से विचार करते हैं, मगर अन्य

जनजातियों का विवरण मूलत: परिचयात्मक ही है। इतना अवश्य है कि यह पुस्तक चर्तुदिश अज्ञानता के अन्धकार में एक रोशनी तो फेंकती ही है जो पाठकों की जिज्ञासा को उत्तेजित कर उन्हें आगे के अध्ययन के लिए प्रेरित करती। कुल मिलाकर मीणाजी अपनी भाषा और शैली की सहजता तथा बोधगम्यता के साथ इस दिशा में सफल नज़र आते हैं और उनकी पुस्तक अपने पाठकों के साथ एक सार्थक संवाद करती है।

मो.: 9810463338

## राकी गर्ग

# जल थल मल

**हम कई बार** सूर्योदय या सूर्यास्त देखने अपने शहर बहुत दूर किसी पर्यटन स्थल पर जाने की बात करते या सोचते है पर अपने ही घर की खिड़की से कैसा दिखता है सूर्योदय और सूर्योस्त, यह हमें देखने की फुर्सत नहीं होती है। ठीक इसी तरह जैसे हमारे आसपास क्या हो रहा है हमारी दृष्टि में नहीं आ पाता पर बहुत बड़ी-बड़ी बातों की जानकारी हमें होती है। पत्रकारिता से जुड़े रहे और गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान में शोध क्षेत्र में कार्यरत सोपान जोशी की किताब 'जल थल मल' हमारी रोज़मर्रा के जीवन से जुड़े स्वच्छता के कुछ ऐसे ही पहलुओं पर दृष्टि डालती है, जिनसे हमारा सम्बन्ध दिन-प्रतिदिन का है पर उसके प्रति ज़िम्मेदारी का कोई भाव नहीं है। यह सम्बन्ध है जल थल मल का अर्थात् पानी, मिट्टी और शरीर का। और इस सम्बन्ध का ही हिस्सा है मनुष्य की प्रतिदिन की क्रिया जिसके कई नाम प्रचलित है जैसे दिशा मैदान, दीर्घ शंका, टॉयलेट आदि। लेकिन हमारा भाव इसके प्रति इतना घृणा का रहा है की हममें से अधिकतर शायद इस तरफ़ ध्यान भी नहीं देते होंगे कि प्रतिदिन की एक सामान्य सी क्रिया जिसको हम शरीर की स्वच्छता से जोड़कर देखते है, वह कैसे हमारी सामाजिकता, नैतिकता और शुचिता से जुड़ी हुई है। स्वच्छता से शुचिता और नैतिकता जैसे प्रसंग आकर इसलिए जुड़ते जाते हैं कि जिसे हमारा शरीर ही विसर्जित कर रहा है वह कचरा कहाँ जा रहा है? यदि वह नदी, तालाब को दूषित कर रहा है तो ऐसी स्वच्छता के कोई मायने नहीं है और उसे साफ करने के लिए कुछ विशेष जाति के लोग है, जिनके प्रति हमारा व्यवहार बहुत उचित नहीं है, तो सवाल हमारी नैतिकता का भी है। सोपान ने लिखा है, स्वच्छता व्यक्तिगत हो सकती है पर शुचिता निखालिस एक समाजिक प्रसंग है। सोपान ने स्वच्छता बनाम शुचिता पर जोर देते हुए स्वच्छता की बेतरतीब कड़ियों को सामने रखा है।

अभी पिछले एक साल से लगभग स्वच्छता अभियान का बड़ा शोर है। सरकार अमिताभ बच्चन, विद्या बालन और सचिन तेन्दुलर जैसे लोकप्रिय और दिग्गज हस्तियों से लगातार मीडिया के माध्यम से प्रचार करवा रही है कि खुले में शौच न जाएँ, शौचालय बनवाएँ और खुले में शौच जाने से होनेवाले खतरों के प्रति आगाह कर रही है। लोगों में जागरुकता लाने के लिए स्वच्छता पर फिल्मों का निर्माण भी किया जा रहा है। सरकार इस दिशा में कुछ कर रही है तो यह एक अच्छी बात है, क्योंकि विश्व में खुले में शौच जाने वाली आबादी का आधा प्रतिशत हमारे देश का है यह एक शर्म की बात है और खुले में पड़ा मलमूत्र हजारों बीमारियों को भी जन्म देता है। शौचालय बनाकर हम स्वच्छता भारत के स्वप्न को तबतक साकार नहीं कर सकते जबतक वहाँ पर पानी की व्यवस्था और उसके साथ मैले को ठिकाने लगाने की व्यवस्था न हो।

फिलहाल शौचालय बनाना, न बनाना इस किताब का विषय नहीं है। सोपान पिछले पाँच-सात वर्षो से इस किताब पर काम कर रहे थे। इसलिए किसी भी राजनीतिक दल के किसी अभियान का विरोध करना इस किताब का मकसद नहीं है। इस किताब का उद्देश्य सिर्फ़ मनुष्य के मल से उत्पन्न होनेवालों खतरों के प्रति आगाह करना है। किताब विकास के नाम पर प्रकृति में हस्तक्षेप पर अंकुश लगाने का समर्थन करती है और प्राकृतिक सन्तुलन को बिगाड़ने के दुष्परिणामों के प्रति चिन्ता प्रकट करती है।

जीवन और प्रकृति परस्पर लेन-देन एक चक्र है जिस पर जीवन-सन्तुलन टिका हुआ है। गम्भीरता से विचार करने पर ये हर जगह दिखाई भी देता है। किताब के अन्तिम अध्याय मल-दर्शन में व्हेल के उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया गया है कि किस तरह एक प्राणी का कचरा दूसरे का साधन बन जाता है। 20 सदी में व्हेल का जो महासंहार किया गया उसके बाद क्रिल की संख्या घटने लगी। क्रिल ऊँगली के बराबर झींगे जैसा जीव है जो व्हेल का आहार है। व्हेल क्रिल को खाती है। यह एक आश्चर्य की बात थी कि व्हेल के साथ क्रिल की संख्या क्यों घट रही है जबकि बढ़नी चाहिए। फिर अभी हाल में पता चला कि क्रिल का आहार प्लवक होते हैं और क्रिल ही नहीं समुद्र के समस्त जीव प्लवकों पर ही निर्भर होते हैं। यह प्लवक व्हेल के मल से पनपते हैं। इस तरह से सिर्फ़ व्हेल की नहीं, प्लवक और क्रिल की खाद्य सुरक्षा भी मल पर टिकी हुई है और उनके जीवन में सहज रूप से शुचिता जुड़ी हुई है।

पहले जिस तरह से मल को खाद बनाकर खेतों में उसका प्रयोग किया जाता था। उसके स्थान पर अब उर्वरक कमोड में बहाए जा रहे हैं। इससे जमीन तो बंजर हो ही रही है और सीवर की उचित व्यवस्था न होने के कारण जलस्रोत भी प्रदूषित हो रहे हैं। दस साल पुराने आँकड़े कहते हैं कि हर तरह के उर्वरकों को खेतों में छिड़कने के बावजूद, भारत की उपजाऊ मिट्टी से हर साल कोई एक करोड़ टन उर्वरक का शुद्ध घाटा होता है। इस घाटे का प्रमुख कारण है मलमूत्र का जलस्रोतों और सीवर में बहाव।

इनको वापस खेत में पहुँचाने के लिए माहौल चाहिए। जिसे हम स्वच्छता कह रहे हैं, वह हमारे जीवन में शुचिता का पर्याय नहीं बन पा रही।

हमारे समाज का एक ऐसा वर्ग जिससे हम अपनी गन्दगी तो साफ़ करवा लेते है पर बदले में उसे देते हैं कुछ थोड़े से रुपये और तिरस्कार। किताब के प्रथम अध्याय, 'शौचालय से निकले कुछ विचार' में रेलगाड़ी के सवारी डिब्बों और रेलवे पटरी को शौचालय के रूप में काम लेने और उसके होनेवाले रेलवे के नुकसान के बारे में बताया गया है। रेलवे को लगभग डेढ़ लाख सफाई कर्मचारी रखने पड़ते हैं जिनका कार्य पटरी से मलमूत्र साफ़ करना होता है। यह काम कुछ खास जाति और समाज के लोग करते हैं, जिन्हें रात-दिन अपमान और अन्याय झेलना पड़ता है और यह काम इतना आसान भी नहीं है उन्हें अपने हाथों, झाड़ू और पानी से यह सब साफ़ करना होता है। हाथ से मैला साफ़ करनेवाली कुरीति को बढ़ावा मिलता है। अब रेलवे, रेलगाड़ी के शौचालयों को बायो डाइजेस्टर में बदल रही है। जिससे सम्भवत: इस कुरीति को बढ़ावा देने पर रोक लग जाए। यह बात सिर्फ़ रेलवे तक सीमित हो ऐसा नहीं है। गली, मोहल्लों व अन्य गली मोहल्लों में भी अकसर कैसे हम शौचालय की टंकियाँ साफ़ करवाते हुए अमानवीय हो जाते हैं।

आगे 'सफाई के मन्दिर में बलि प्रथा' अध्याय में बताते हैं कि भले ही शौचालय की टंकियाँ साफ़ करनेवाले लोग यह काम पैसों के लिए करते हैं पर कोई विवशता ही उनसे यह काम करवाती है। और दो तीन सौ रुपये के लिए कोई नाली या टंकी साफ़ करते हुए यदि कोई सफाई कर्मचारी मारा भी जाता है तो उसके पीछे किसी को सहानुभूति नहीं होती। इतना ही नहीं सोपान सफाई कर्मचारियों की दुर्दशा पर विचार करते हुए उनके इतिहास से परिचित होने और यह विशेष वर्ग कैसे अस्तित्व में आया यह जानने के लिए वर्णव्यवस्था, वेद, पुराण




*जल थल मल*
सोपान जोशी
गाँधी शान्ति प्रतिष्ठान
नयी दिल्ली-110009
मूल्य : 300 /- रुपये

---

और स्मृतियों की खोह में चले जाते हैं, जिसे हम स्वच्छता मानकर चल रहे हैं उसमें हम कितना अनैतिक हो जाते हैं इसका हमें जरा भी अन्दाजा। सीवर की टंकियों में उतरना हजारों बीमारियों को निमन्त्रण देना है और हमारे मन में उनके प्रति कृतज्ञता का भाव भी नहीं रहता। उनके काम के बदले में कुछ रुपये देकर हम यही सोचते हैं कि हमने कोई अमानवीय कार्य नहीं किया। इस पर एक बार विचार करने की ज़रूरत है।

किताब में सिर्फ़ समस्याएँ ही नहीं है। इन समस्याओं के कुछ हल भी हैं, जिन्हें हमारे ही समाज के कुछ लोगों ने अपनाए हैं। मैले पानी के प्रति हम थोड़ी उदार दृष्टि अपनाए तो इसका हल प्राप्त कर सकते हैं। जिस तरह से रेलवे, पटरियों को नुकसान से बचाने के लिए रेलगाड़ी के शौचालयों को बायोडाइजेस्टर शौचालयों में बदल रही है वैसे ही इकोसैन पद्धति से भी ही मैले को खाद में बदला जा सकता है। किताब में त्रिरुचिरापल्ली नगर में स्कोप नाम की एक सामाजिक संस्था का भी जिक्र है जिसका कार्य आस-पास के गाँवों में विकास की परियोजनाएँ चलाना है। कई संस्थाओं और लोगों की मदद से स्कोप ने ऐसे शौचालय बनाये जिससे मलमूत्र को इकट्ठा करके खाद बनाई जा सके और जिसके इकोसैन पद्धति का सहारा लिया गया। 'इकोसैन में मल-मूत्र बढ़ने के बजाय घटता है। मल अगर किसी बन्द स्थान पर तीन-चार महीने पड़ा रहे तो मौजूद रोगाणु धीरे-धीरे ख़त्म हो जाते हैं। दूसरे जीवाणु भी उन्हें मारने का काम करते हैं, और गले हुए मल के ढेर का तापमान इतना बढ़ जाता है कि रोगाणुओं का बचना मुश्किल हो जाता है। इस प्राकृतिक उपचार के बाद निकली खाद निर्दोष होती है, हाथ से निकाली जा सकती है। इसमें कोई बदबू नहीं होती है, एकदम मिट्टी जैसी दिखती है।'' (पृष्ठ 167) इकोसैन कैसे काम करता है। कैसे शुरू हुआ इसकी पूरी जानकारी इस किताब के मल का थल विसर्जन अध्याय में मिल जाएगी, लेकिन सोपान आगे लिखते हैं कि शुचिता लाने का एकोसैन या बायोडाइजेस्टर ही हल नहीं हो सकता। इसको किसी अभियान से नहीं बाँधा जा सकता। इस विचार का मोल, हर गाँव. हर शहर, हर बस्ती, हर घर को अपनी परिस्थिति के हिसाब से करना पड़ेगा। मलमूत्र का प्रबन्ध आमतौर पर वहाँ बेहतर मिलता है जहाँ साधनों की कठिनाई होती है। कठिनाई को साधना अपने आप में एक साधन है।

इस कठिनाई को साधने का एक उदाहरण सोपान ने कोलकाता के मछुआरों का दिया है, जिन्होंने बिना किस बड़े-बड़े सीवर साफ करने के प्लांट के, प्राकृतिक तरीके से किसी हद तक मैले पानी को साफ करके मछली पालने का कार्य किया है। खारे पानी के दल-दल में मैले पानी को छोड़कर वहाँ पर मछली पालन, वृक्षारोपण का अद्‌भुद कार्य यहाँ के मछुआरों कर रहे हैं। यहाँ पर 30 से ज्यादा प्रजातियाँ मछलियों की और 170 से ज्यादा पक्षियों की। एक लाख से अधिक पेड़ हैं यहाँ। कोलकाता के निवासियों के लिए भीड़-भाड़ से उकता जाने पर सिर्फ़ 10 रुपये की टिकट में शान्ति प्राप्त करने का यह अच्छा स्थल है। ऐसे ही लद्दाख का ज़िक्र करते हैं जहाँ कठिन परिस्थितियों में कब से मनुष्य के मलमूत्र को इकट्ठा

करके खेती के उपयोग में करते रहे हैं। यह काम वहाँ के किसान मिलजुल कर करते रहे हैं।

बीमारियों का कारण अत्यधिक गन्दगी ही नहीं होती, बहुत अधिक स्वच्छता भी होती है। बहुत अधिक स्वच्छता का भाव उस वातावरण से दूर कर देता है जिनमें रच-बसकर मनुष्य जाति का क्रमिक विकास हुआ है। यद्यपि आजकल लोग handsainitizer पर्स में साथ लेकर चलते है, लेकिन यह अत्यधिक स्वच्छता का भाव उन परजीवियों से दूर कर देता है जिसका रोग प्रतिरोधक तन्त्र से गहरा सम्बन्ध होता है। एक प्रकार का एक एंटीबायोटिक हैं ट्राईक्लोसैन जिसका उपयोग साबुन, टूथपेस्ट शेविंग क्रीम इत्यादि में होता है। शोध से पाया गया है कि ट्राईक्लोसैन पानी में रहने वाले उन बैक्टीरिया और शैवाल के लिए घातक हैं जो पानी से मैला चट कर जाते हैं। सभी कीटाणु हमारे दुश्मन नहीं है, कुछ मित्र भी हैं। यदि हम इनके प्रति अपने अनादर भाव का त्याग नहीं करते हैं तो इसका हमको अच्छा- खासा नुकसान उठाना पड़ सकता है। सोपान का कहने का अर्थ है जिस मिट्टी से हमारा शरीर बना है उसके प्रति थोड़ी हमारी श्रद्धा भी होनी चाहिए सिर्फ़ शोध का भाव नहीं। तभी हम कुछ गहरे जा पाएँगे, कुछ ऊँचा उठ सकते हैं।

यह एक शोध परक किताब है। प्रस्तावना, सन्दर्भ और शब्द सूची के अलावा नौ अध्याय और हैं जिसमें जल थल और मल के सम्बन्ध को विस्तार से स्पष्ट किया गया है। जिसका हर वाक्य एक तथ्य है, जानकारी है और उसके साथ उसके वैज्ञानिक प्रमाण, उदाहरण और शोध से जन्मे आँकड़े और हमारे कचरे को सिर्फ़ विज्ञान की दृष्टि से नहीं बल्कि इतिहास, पर्यावरण, आचरण और भविष्य की दृष्टि से भी देखने का प्रयास। भाषा सरल है। हर अध्याय के दूसरे से पृथक भी और सम्बद्ध भी। एक पृष्ठ दूसरे पृष्ठ पर जाने की जिज्ञासा उत्पन्न करता है। पठनीयता है। हो सकता है इसमें से बहुत से जानकारियाँ किसी को हो, लेकिन एक बार हमारी स्वच्छता में शुचिता का भाव है कि नहीं इसकी पड़ताल ज़रूरी है। निश्चितरूप से किताब इसमें मददगार है।

**मो.: 8586943564**

## सत्य शुचि

# स्नेहिल स्पर्शों का साथ

**वह माँ को** ख़ूब मानता-पूजता था। वास्तव में, हर शिक्षा-सीख पर माँ का असर एक प्रेरणा की मानिन्द उस पर रहा है और इसीलिए माँ अभी बेहद आराम में थी।

एक दिन घर में नयी बहू भी आई और माँ ने महसूसा, यह बहू भी उसकी बेटी जैसी है...।

अब बेटे-बहू दोनों का एक गहरा आत्मीय लगाव-झुकाव माँ के लिए उमड़ा-उमड़ा-सा रहने लगा था।

सहसा, उस दिन माँ ने अनुभव किया कि जमानेभर की लाख विपरीत हवाओं-आँधियों के चलते-विचरते-गुजरते आज उसके अपने घर में जीवन के प्रति बेटे-बहू के नज़रिए में कोई फ़र्क नहीं है, बल्कि एक सन्तुलन-बोध उसमें समाहित है, जिसकी वह कायल है... और फिर यही सन्तुलन उसके सुखी परिवार की आधार-कुंजी भी तो है!

और पलक झपकते ही माँ की आँखें पनिया आईं।

# मोहबद्ध

आज वह स्कूल से लौटी तो दिल धड़क रहा था, पैर काँप रहे थे। बार-बार हाथ पर्स से टकराता और पर्स की चैन खींचते-खोलते सहमकर इस तरह ठिठक जाता मानो कोई साँप का पिटारा हो, वह एक बार तरतीब से सारे काग़ज़ों को ठीक से पढ़ लेना चाहती थीं, पर मन नहीं हो रहा था या हिम्मत नहीं थी।

''जैन बहन जी, आज कुछ उदास नज़र आ रही हैं!'' बुहारी लगाते मकान-मालकिन ने उनकी तन्द्रा भंग की।

''हाँ... ऊहूँ... नहीं तो... ठीक तो हूँ!'' वह अपनी हथेलियों को मलती-सी मनोभाव छिपाने का उपक्रम करती है कि सहसा ख़्याल आता है, इसे तो बता ही दूँ। मकान खाली जो करना होगा... बाई जी, बस एक-दो दिन और है आपका साथ, फिर तो जाना ही पड़ेगा कि मेरा ट्रांसफर हो गया है...

इस शहर से, यहाँ के लोगों से ऐसा कोई लगाव हो उसे, ऐसा नहीं लगता? ...वह ख़ुद से पूछती है और ख़ुद ही जवाब देती है, इसी मकान के किसी कोने में सिमट गया है उसका लगाव, उसकी चाहत सभी कुछ अनचीन्हा, अनाभिव्यक्त है तो क्या! कुछ तो है ही कि बाहर के दरवाज़े की साँकल बजने के साथ ही दूसरे कमरे की खिड़कियाँ स्वत: खुल जाती हैं। सुबह उसके स्कूल जाने का वक़्त होता हे तो छह बजे ही वह दातुन लेकर मुंडेर पर टँग जाता है। मकान-मालकिन कहती है, 'अजीब आदमी है वह दातुन करके वापिस हो जाता है...'

अजीब तो है ही कि उसके ऑफिस के लौट आने का समय होता है और वह अपने अधबने स्वेटर को खोलती-बुनती चौखट पर आ बैठती है, भला, शाम के पाँच-छह बजे कोई वक़्त होता है बाहर बैठने का।

पूरी रात किलसती रही वह। उसे पता न हो, ऐसा तो सम्भव नहीं। मकान-मालकिन ने उसी वक़्त यह ख़बर सारे घर में बाँट दी थी। पर कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई। कम से कम उसे एक दफे औपचारिकता के नाते ही सही पूछना तो चाहिए कि कहाँ ट्रांसफर हुआ है।

सुबह उठी तो सिर भारी था। निगाहें फिर वहीं अटक गयीं, दरवाज़े पर मोटा ताला देखकर चौंकी वह। स्कूल से घर आई तो अपनी जिज्ञासा नहीं रोक पाई। मकान-मालकिन ने अपनी अनभिज्ञता जाहिर करते हुए बतलाया कि रात ही कहीं चला गया है वह...।

अजीब-सी उधेड़बुन में गुज़रा सारा दिन। वह शनै: शनै: अपना सारा सामान जमा रही थी। प्राचार्या ने कह दिया था कि रिलीवर के आते ही उसे रिलीव कर दिया जाएगा। यह शहर पूरी तरह से छोड़ने के लिए वह मानसिक रूप से तैयार हो चुकी थी कि शाम अकस्मात् उसके दरवाज़े पर दस्तक हुई। यन्त्रवत् उसने द्वार खोला और चौंक गयी। हाँ, वही तो था! मैं भीतर आ सकता हूँ... अवाक् सी वह पीछे हट गयी।

''आपका ट्रांसफर...!''

''हाँ!'' उसने लरजते स्वर में कहा, ''जोबनेर जाना होगा!''

वह उसे समझने का यत्न करती रही, कुछ क्षण खामोश रहने के बाद उसने मुँह खोला,

''सुधाजी! ...मैं नहीं चाहता कि आप यहाँ से जाएँ, इसीलिए देखिए तो क्या लाया हूँ...?''

उसने एक लिफाफा उसकी ओर बढ़ाया और चुप रह गया। ''आपके स्थानान्तरण का निरस्तीकरण।''

सुधा ने काँपते हाथों से लिफाफा खोला। 'स्थानान्तरण के निरस्त्रीकरण का आदेश'— पढ़कर रोमांचित हो उठी।

मो.: 09413685820

**अनंत विजय**

# कल्पना और घटना का बोझिल कोलाज

**हाल में अँग्रेज़ी** की दो किताबें आयी हैं, जो अपने प्रकाशन के पूर्व से ही चर्चा में बनी हुई हैं। पहली किताब है— अमीष त्रिपाठी की 'सीता, द वॉरियर ऑफ मिथिला' और दूसरी किताब है— बुकर पुरस्कार से सम्मानित मशहूर लेखिका अरुन्धति राय का उपन्यास 'द मिनिस्ट्री ऑफ अटमोस्ट हैप्पीनेस।' इन दोनों पुस्तकों के प्रकाशन के पूर्व अँग्रेज़ी मीडिया ने पाठकों के बीच इसको लेकर जबरदस्त उत्सुकता का वातावरण बनाया। लेखकों के साक्षात्कार से लेकर सोशल मीडिया पर इसको हिट करवाने की तरकीब का भी इस्तेमाल किया गया। नतीजा सामने है। दोनों पुस्तकें धड़ाधड़ बिक रही हैं। अमीष त्रिपाठी का अपना एक अलग पाठक वर्ग है और खास विषय है तो अरुंधति ने पिछले दो दशकों में अपने एक्टिविज्म से एक अलग ही तरह का वैश्विक पाठक वर्ग तैयार किया है। अरुन्धति राय का पहला उपन्यास 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' उन्नीस सौ सत्तानवे में आया था, जिस पर उन्हें बुकर पुरस्कार मिला था। यह भारत में रहकर लेखन करनेवाले किसी लेखक को पहला बुकर था। 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' के प्रकाशन के बीस साल बाद अरुन्धति का यह दूसरा उपन्यास आया है। पूरी दुनिया में अरुन्धति के इस उपन्यास का इन्तजार था, भारत में भी उनके पाठकों को। दो उपन्यासों के प्रकाशन के अन्तराल के बीच अरुन्धति ने कश्मीर समस्या, नक्सल समस्या, भारतीय जनता पार्टी खासकर नरेन्द्र मोदी के उभार पर बहुत मुखरता से अपने विचार रखे। इनका विरोध भी हुआ और उनके इस तेवर ने ही उनको वैश्विक स्तर पर एक विचारक के रूप में मान्यता भी दिलाई। अरुन्धति का अपना एक पक्ष है, उनके अपने तर्क हैं, जिससे सहमति या असहमति एक अलहदा मुद्दा है, लेकिन वो विचारोत्तेजक अवश्य है। जितनी मुखरता से वो भारत की उपरोक्त समस्याओं पर अपने विचारों को प्रकट करती रही हैं, तो यह लाजमी था कि ये सब विचार किसी ना किसी रूप में उनके उपन्यास में आयें। आए भी हैं। 'द मिनिस्ट्री ऑफ अटमोस्ट हैप्पीनेस' के पात्रों की पृष्ठभूमि इन्हीं इलाकों से है। पात्रों के संवाद के केन्द्र में भी बहुधा इन समस्याओं को लेखिका जगह देती चलती हैं।

अरुन्धति का यह उपन्यास 'द मिनिस्ट्री ऑफ अटमोस्ट हैप्पीनेस' बेहद रोचक तरीके से शुरू होता है। शुरुआत एक लड़के की कहानी से होती है कि किस तरह से उसके अन्दर स्त्रैण गुण होता है और अन्ततः वो किन्नरों के समूह में शामिल हो जाता है। यहाँ भी जो संवाद हैं उसमें अरुन्धति का एक्टिविस्ट उनके लेखक पर हावी दिखता है। किन्नरों के बीच के संवाद में यह कहा जाता है कि दंगे हमारे अन्दर हैं, जंग हमारे अन्दर है, भारत-पाकिस्तान हमारे अन्दर है आदि-आदि। लेकिन कहानी जैसे-जैसे आगे बढ़ती है तो लेखक पर एक्टिविस्ट पूरी तरह से हावी हो जाता है। फिक्शन की आड़ लेकर जब अरुन्धति कश्मीर के परिवेश में घुसती हैं तो उनकी भाषा बेहद तल्ख हो जाती है, बहुधा फिक्शन की परिधि को लाँघते हुए वो अपने सिद्धान्तों को सामने रखती नज़र आती हैं। कश्मीर के हालात और कश्मीरियों के दुखों का विवरण देते हुए वो पाठकों को उस भाषा से साक्षात्कार करवाती हैं जिस भाषा से कोफ़्त हो सकती है, क्योंकि पाठक फिक्शन समझ कर इस पुस्तक को पढ़ रहा होता है। कश्मीर के परिवेश की भयावहता का वर्णन करते हुए वो लिखती हैं— 'मौत हर जगह है, मौत ही सबकुछ है, कॅरियर, इच्छा, कविता, प्यार मोहब्बत सब मौत है। मौत ही जीने की नई राह है। जैसे-जैसे कश्मीर में जंग बढ़ रही है वैसे-वैसे क़ब्रगाह भी उसी तरह से बढ़ रहे हैं जैसे महानगरों में मल्टी लेवल पार्किंग बढ़ते जा रहे हैं।' इस तरह की भाषा बहुधा वैचारिक पुस्तकों या लेखों में पढ़ने को मिलती है।

अरुन्धति का यह उपन्यास, दरअसल, कई पात्रों की कहानियों का कोलाज है। शुरुआत होती है अंजुम के किन्नर समुदाय में शामिल होने से। उसके बाद कई कहानियाँ एक के बाद एक पाठकों के सामने खुलती जाती हैं। केरल की महिला तिलोत्तमा की कहानी जो अपनी सीरियन क्रश्चियन माँ से अलग होकर दुनिया को अपनी नज़रों से देखती है। इस पात्र को देखकर अरुन्धति के पहले उपन्यास 'गॉड ऑफ स्माल थिंग्स' की 'ममाची' की याद आ जाती है, क्योंकि दोनों पात्र रंगरूप से लेकर हावभाव और परिवेश तक में एक हैं। इसके साथ ही शुरू होती है एक और दास्ताँ जो तीन लोगों के इर्द गिर्द घूमती है। एक है सरकारी अफसर बिप्लब दासगुप्ता जो जमकर शराब पीता है, और कश्मीर में पदस्थापित है। एक पत्रकार और एक कश्मीरी। उपन्यास में अरुन्धति ने बताया है कि किस तरह परिस्थियों के चलते ये कश्मीरी युवक आतंकवादी बन जाता है। यही युवक तिलोत्तमा को कश्मीर की हालात से परिचित कराता है। यहाँ पर एक बार फिर से संवाद के दौर में कश्मीर की ऐतिहासिकता को लेकर अरुन्धति के विचार प्रबल होने लगते हैं। पाठकों पर जब इस तरह के विचार लादने की कोशिश होती है तो उपन्यास बोझिल होने लगता है। वैचारिकी अरुन्धति की ताकत हैं और इस उपन्यास में वो इसको मौका मिलते ही उड़ेलने लगती हैं। कुल मिलाकर अगर हम देखें तो अरुन्धति के भक्त पाठकों को यह उपन्यास भा सकता है, लेकिन फिक्शन पढ़नेवालों को निराशा हाथ लगेगी।

मो.: 9871697248

मुकेश कुमार

# लोकतन्त्र की पीठ पर सत्ता का चाबुक

**ये कोई अचानक** नहीं हुआ। पहले से ही इसका अन्देशा था। ख़तरे की घंटियाँ लगातार बज रही थीं। मारो-मारो, बचने न पाए की आवाज़ें भी आ रही थीं। इसलिए सब जानते थे कि वे छोड़ेंगे नहीं। बरसों से खुन्नस खाए बैठे हैं, चाकू-छुरियाँ तेज़ की जा रही हैं। मौक़े की तलाश में हैं, बहाने ढूँढ़े जा रहे हैं, सबूत गढ़े जा रहे हैं, खुले आम निशाने साधे जा रहे हैं और अभियान चलाए जा रहे हैं, विदेशी हाथ से लेकर विधर्मी होने तक के आधार बनाकर दुष्प्रचार किया जा रहा है, तमाम सरकारी एजंसियों को उसके पीछे लगाया गया है। इसलिए एक न एक दिन ये होना ही था, जो हुआ।

वैसे ये पहली बार भी नहीं हुआ। कुछ समय पहले भी उसका गिरेबान पकड़ने, उसे धमकाने की कोशिश की गयी थी। शायद उसी समय उसका टेंटुआ दबाने का भी इरादा था, मगर अदालत ने उसे रोक दिया और इस बात से वह और भी बौखला गया था। प्रतिशोध की जो अग्नि उसके सीने में डेढ़ दशकों से धधक रही थी, वह ऐसे तो शान्त नहीं होनेवाली थी। वह हिंसक हो चुकी थी। वह चाहती थी बदला। इसीलिए वह सबक सिखाने पर आमादा था। उसे ही नहीं, उसके बहाने औरों को भी। सन्देश देना चाहता था कि अगर नहीं बदले तो अब बारी तुम्हारी आएगी।

उसे इस बात का कोई खयाल नहीं था कि जिसे वह निशाना बना रहा है वह देश का सर्वाधिक विश्वसनीय प्रतिष्ठान है। उस पर घटिया काम करने के वैसे आरोप कभी नहीं लगे जैसे कि दूसरों पर बल्कि वह मानक तय करनेवाला रहा, इसलिए दूसरों को उससे रश्क भी था। हालाँकि उसने भी बाज़ार की राह पकड़ी और बहुत सारे लोक-लुभावन फार्मूले गढ़े। धन्धे के गुर उसे भी खूब आते थे और इसीलिए उसका साम्राज्य फैलता चला गया। मगर ये भी सच है कि वह बाज़ार के सामने बिछ नहीं गया। वह उसका हमराही बन गया मगर उसका गुलाम नहीं बना। उसका हिन्दुस्तान खाते-पीते लोगों का था, ग़रीबी और बदहाली में जीते-दम तोड़ते लोगों का नहीं। इसके बावजूद वह दूसरों से बेहतर था।

लेकिन बदले की आग में उसे ये भी नहीं दिखाई दिया कि देश के अधिकांश संस्थान उसके जैसा बनना चाहते थे, मगर कभी बन नहीं पाए। उसकी जैसी गुणवत्ता हासिल करना उनके बूते के बाहर था। वे बेशक लोकप्रियता की होड़ में आगे रहे, मगर उन्हें वैसी प्रतिष्ठा नहीं मिली। बात जब क्वालिटी की होती थी तो उसी का नाम लिया जाता था। यही वजह थी कि बहुतेरे ईमानदार एवं अच्छा काम करने की इच्छा रखनेवाले लोग वहाँ काम करने की ख्वाहिश रखते थे। यहाँ तक कि नेताओं-मन्त्रियों के लिए उसके कार्यक्रमों में शामिल होना प्रतिष्ठा का विषय होता था। बाद के दौर में संस्थान की आर्थिक हालत खस्ता होती गयी, उसके बिकने की ख़बरें फैल गयीं, मगर उसने ख़ुद को गिरने नहीं दिया। वह घटियापन की होड़ में शामिल नहीं हुआ।

इस संस्थान के प्रति उसका पुराना बैर जगज़ाहिर तो था ही और उसे ढहाने की मंशा भी छिपी नहीं थी। मगर उसकी साख को अनदेखा करना या उसके ख़िलाफ़ झूठे अभियान चलाना और उसे ख़त्म करने की साज़िशें रचना उसके लिए बहुत ज़रूरी भी था। ज़रूरी इसलिए था कि वह साम्प्रदायिकता का विरोध करता था, लोकतन्त्र, मानवाधिकार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का पैरोकार था, उसके हिसाब से चलने को तैयार नहीं था। दूसरे चैनलों की तरह वह उसका भोंपू बनने से इंकार करता था, बल्कि इसके विपरीत उसके फासीवादी एजेंडे और कार्यक्रम को बेनकाब करने में लगा रहता था। धीरे-धीरे वह उसकी दुर्नीतियों के विरोध का सबसे बड़ा प्रतीक बन गया। कई बार विरोध में वह अपनी स्क्रीन को काला कर देता था, जो उसके राज-काज को मुँह बिराती लगती थी। उसे लगता था ये कालिख उसके मुँह पर पोत दी गयी है। उसे ये सब नाकाबिल-ए-बर्दाश्त था। उसे असहमति या प्रतिरोध मंज़ूर नहीं था, इसलिए वह ऐसी हर सम्भावना को अपराध बताकर उसके ख़िलाफ़ कार्रवाई करने पर आमादा रहता था।

ऐसे व्यक्ति, ऐसे विचार और ऐसे शासक हमेशा दमनकारी तरीके अपनाने के लिए कुख्यात रहे हैं, जो विरोधियों को शत्रु समझते हैं। वे सत्ता का चाबुक विरोधियों को बदनाम करने, उन्हें परेशान करने के लिए करते हैं और यहाँ तक कि उन्हें ख़त्म करने के लिए भी उसका इस्तेमाल करते हैं। लोकतन्त्र की पीठ छिलती है तो छिल जाए मगर चाबुक चलाते वक़्त उन्हें परम्पराओं, मूल्यों और सिद्धान्तों की ज़रा भी चिन्ता नहीं रहती। इसलिए ये लाज़िमी ही था कि वे ऐसा करते। उन्होंने पहले भी यही किया है और आगे भी ऐसा करेंगे। उनकी हिट लिस्ट लम्बी है। अपने महान लक्ष्यों को हासिल करने के लिए वे राह में अड़चन खड़ी करने वालों के साथ यही सलूक करेंगे। सावधान।

**E-mail : mukeshkabir@gmail.com**

प्रियदर्शन

# क्योंकि जीवन को बचाती हैं कलाएँ

**हॉलीवुड के जाने**-माने निर्देशक जॉर्ज क्लूनी की 'द मॉनुमेंट्स मेन' दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान नष्ट की जा रही, लूटी जा रही और चुराई जा रही कलाकृतियों को बचाने के लिए बनाई गयी एक छोटी सी टीम के बड़े प्रयासों पर केन्द्रित फ़िल्म है। यह 1943 का साल है और मित्र सेनाएँ जर्मन फौजों को पीछे धकेलती लग रही हैं। रूसी सैनिक भी इस मुहिम में आगे हैं, लेकिन इस युद्ध में सिर्फ़ जान-माल का नुकसान नहीं हो रहा, दुनिया की मूल्यवान कृतियाँ भी नष्ट की जा रही हैं। महत्त्वाकांक्षी हिटलर अपने म्यूज़ियम में सारे महान कलाकारों की मशहूर कृतियों को इकट्ठा करना चाहता है और इसके लिए फ्रांस के संग्रहालयों की लूट जारी है। इस लूट को रोकने के लिए जो टीम बनाई गयी है, उसमें कुछ म्यूजियम वाले, कुछ संग्राहक और कुछ कला-मर्मज्ञ हैं। फिल्म के शुरू में यह कहा जाता है कि कलाकृतियाँ जितनी भी अनमोल हों, वे मनुष्य की जान से क़ीमती नहीं हैं, इसलिए किसी को जान-जोखिम में डालने की ज़रूरत नहीं है, लेकिन इस मुहिम के दो नायक मारे भी जाते हैं। फिल्म के एक हिस्से में उनमें से एक कहता है, वे अगर हमारी कलाकृतियों को नष्ट कर देते हैं तो वे हमारी स्मृति और हमारी सभ्यता नष्ट करने में सफल हो जाएँगे। उनकी कोशिशों के बावजूद बहुत सारी कलाकृतियाँ नष्ट हो जाती हैं, जला दी जाती हैं— क्योंकि हिटलर का यह आदेश था कि अगर लगे कि वह बचेगा नहीं तो इन सबको नष्ट कर दिया जाए। लेकिन इसके बावजूद यह छोटी-सी टीम लाखों कलाकृतियाँ बचा लेने में, उन्हें उनके संग्रहालयों तक पहुँचा देने में कामयाब होती हैं।

2014 की बनी यह फिल्म हाल में देखते हुए यह खयाल बार-बार आता रहा कि क्या वाकई कलाकृतियाँ हमारे लिए इतनी अनमोल रह गयी हैं? क्या वह समाज, वह दुनिया अब भी कायम है जिसे अपनी कलाकृतियों, अपने कलाकर्म और अपने कलाकारों की परवाह रहा करती थीं? या वैसे कलाकार बचे हुए हैं जिनको उनका समाज सँजोने का जतन करना चाहे? यह कला और समाज के बीच की दूरी है या कला को लेकर समाज का बदला हुआ नज़रिया जिसमें हर चीज़ उपभोग का सामान है और उसका एक उपयोगितावादी पक्ष है? कोई कला तभी महान है जब उसका बाज़ार मूल्य ऊँचा है। और यह ऊँचा बाज़ार मूल्य देने की हैसियत किनकी है? उनकी, जिनके पास ज़रूरत से ज्यादा पैसा है- ज़्यादातर मामलों में यह अतिरिक्त पैसा अगर ग़ैरक़ानूनी तरीकों से कमाया नहीं जा रहा तो ग़ैरक़ानूनी तरीकों से बचाया जा रहा है।

इस मोड़ पर कला, संगीत, साहित्य या सिनेमा तक की विधाओं की एक विडम्बना सामने आती है। अपनी सारी स्वायत्तता के बावजूद इन सारी विधाओं का वजूद उस आर्थिक सत्ता पर निर्भर करता है जिसके सहारे इन तमाम विधाओं के प्रकाशन या प्रसारण का काम होता है। अचानक हम पाते हैं कि पूँजीवाद के विरुद्ध रचा गया साहित्य किसी पूँजीवादी प्रकाशक के माध्यम से ही सामने आ पाता है, मुक्ति और रोमांस के इन्द्रधनुष बनाता संगीत का कोई एलबम किसी ऐसी म्यूज़िक कम्पनी से आता है जिसका वास्ता सग्दिग्ध पैसे और संदिग्ध तौर-तरीकों से भरे जीवन से है। सम्भव हैं, किसी पूँजीपति के ख़िलाफ़ बनाई गयी कोई पेंटिंग उसी के ड्राइंग रूम में सजी दिखे, क्योंकि वह पेंटिंग मजदूर नहीं, मालिक ही ख़रीद सकता है।

लेकिन कोई लेखक, कलाकार या गायक क्या करे? क्या वह इसीलिए लिखना बन्द कर दे कि उसके सृजन के उपभोगकर्ताओं या संरक्षकों में वे लोग शामिल हैं जो उन्हीं कसौटियों पर खरे नहीं उतरते जिनकी अपेक्षा यह सृजन करता है? जाहिर है, जिसे कला की स्वायत्तता कहते हैं, उसका भी अपना एक मोल होता है और यह कला देखने-सुनने-पढ़ने वालों को भी कुछ बदलती है।

मगर इसके लिए यह ज़रूरी है कि हम देखने-पढ़ने या सुनने को तैयार हों। सच तो यह है कि इस उत्तर आधुनिक समय में यह सब कुछ एक बड़े तन्त्र या उद्योग का हिस्सा हो गया है जिसे मनोरंजन उद्योग कहा जाने लगा है। इस उद्योग में बौद्धिक और कलात्मक उपक्रम भी अन्ततः एक निवेश होते हैं जिनकी तय कीमत होती है। वे बाज़ार में एक युद्ध लड़ते रहते हैं। शायद यही वजह है कि किन्हीं वास्तविक युद्धों में कोई उन्हें बचाने की फ़िक्र नहीं करता, उनके लिए जान देने की बात तो दूर है।

लेकिन फिर क्यों कोई क्लूनी साल 2014 में साल 2045 की ख़त्म हो चुकी एक कहानी उठा कर एक फ़िल्म बनाना चाहता है? शायद कलाओं के भीतर कोई चीज़ होती है जिसमें हमारी आत्मा का संरक्षण चलता रहता है। इस लगातार विषाक्त और एकरैखिक होती दुनिया में, लगातार एक बड़े बाजार में बदलते संसार में, लगातार पूँजी का प्रसार और दम्भ झेल रहे एक समाज में, लगातार

असम्भव लगती और अदृश्य होती जाती मनुष्यता अचानक इन्हीं माध्यमों में प्रगट होती है और दुनिया को याद दिलाती है कि जीने का एक धरातल यह भी है। शायद यही वजह है कि सबकुछ के बावजूद कलाएँ बची रहती हैं, विधाएँ आविष्कृत और नवीकृत होती रहती हैं। भारतीय समाज के सन्दर्भ में भी हम यह उम्मीद कर सकते हैं कि जब सबकुछ शुष्क, सपाट, नीरस और असंवेदनशील होता लगेगा, तब कोई कविता, कोई पेंटिंग, कोई धुन, कोई कृति उसकी तरलता बचाए रखेगी, उसके हिस्से का पानी, आँसू और लहू पैदा करेगी।

कहते हैं हिटलर ने दूसरे विश्वयुद्ध में पेरिस पर इसलिए बम नहीं गिराया कि उसे डर था कि वहाँ संरक्षित अनमोल कलाकृतियाँ नष्ट न हो जाएँ। कलाओं का एक मोल यह भी होता है। कभी-कभी वे ठोस ढंग से शहरों को बचा लेती हैं— हिटलर को बदल सकें न सकें, उनके भीतर किसी शहर पर बम गिराने की इच्छा को मार देती हैं।

मो.: 9811901398

हमन दुनिया से यारी क्या

## ज्ञान चतुर्वेदी

# प्रश्नाकुल

**मेरे एक मित्र** हैं जिनका पूरा जीवन 'यार, अब क्या होगा?'— यह प्रश्न पूछते-पूछते निकला है। जो भी उनके निकट हो, उसी से पूछ लेते हैं, और ऐसे ऐसे अललटप्पू सन्दर्भों में पूछते रहते हैं कि आइंसटीन भी पास खड़ा होता तो चकरा जाता।

वे दिन रात, हर बात से परेशान रहते हैं, और हर बात में बस एक यही सवाल उनके मन को मथता रहता है कि हाय, अब क्या होगा? हम प्लेटफार्म पर खड़े थे। वहाँ की घड़ी में दो बज रहे थे। वे उद्वेलित हो गये। अब क्या होगा? मैंने बताया कि यार और क्या हो सकता है— दो बजे हैं, दो के बाद फिर तीन बजेंगे, बस। ये उत्तर से उनका सहमत हो जाना इतना आसान काम नहीं होता है। वे बोले कि यार ग्यानू, तुम्हें थोड़ी जिम्मेदारी से उत्तर देना चाहिए। सीधे तीन पर कूद गये तुम तो। भैय्या, दो के बाद ढाई भी तो बज सकता है? है कि नहीं? मान लो कि हमें 'दादर अमृतसर पकड़नी हो, तो वो तो आती है ढाई बजे। हम तुम्हारे तीन के चक्कर में बैठे रह गये, तब तो स्साली ट्रेन ही निकल जाएगी हमारी? है कि नहीं? तो ऐसे एकदम से कूद के उत्तर मत दे दिया करो। पहले, पूरी बात पूछ तो लिया करो यार! मैंने कहा कि यार, हमने तो एक बात कही है, और कोई ऐसी गलत भी नहीं कही है तो वे बोले कि आजकल यही तो चक्कर है भैय्या, आदमी, बात की गहराई में उतरे बिना ही उत्तर देने लगता है। सोचा तो करो कि जब हम इतनी चिन्ता में पूछ रहे हैं कि 'यार, अब क्या होगा?' तो हमारे पूछने का कोई तो मतलब होगा। आप इसे मजाक मान लें और हमारी चिन्ता समझें ही न, तो ठीक बात नहीं।

इस साल गर्मी बड़ी तेज़ पड़ी। वे एक दिन पसीना बहाते पूछने लगे कि यार, यदि ऐसी ही गर्मी पड़ती रही तो अब क्या होगा? तभी बिजली चली गयी। पंखा बन्द हो गया। पूछने लगे कि यार, अब तो बताओ? अब क्या होगा? ये स्साले ऐसे ही बिजली कट करते रहे तो क्या होगा? मैं जानता हूँ कि मैं जो भी उत्तर दूँ वे असहमत होकर नये सिरे से 'अब क्या होगा' की टेक पकड़ लेंगे। मैंने सुरक्षित-सा उत्तर दिया। यही कहा कि यही हाल रहा तो ऐसी की तैसी हो जाएगी। वे नाराज़ हो गये, बोले कि यार, आप हर बात को इतना 'लाइटली' क्यों लेते हैं? भैय्या, ऐसी-तैसी तो आदमी की तेज़ सर्दी में भी हो जाती है, फिर तेज़ गर्मी में भी यदि आपका वही उत्तर होगा तो आदमी तो मौसम के बारे में कन्फ्यूज हो जाएगा न? है कि नहीं? और जहाँ तक ऐसी-तैसी हो जाने की बात है तो वह तो अभी भी ख़ूब हो रही है। देख ही रहे हो कितना पसीना बह रहा है तो कितनी और ऐसी-तैसी हो जाए, तब जाकर तुम मानोगे कि हाँ, ऐसी-तैसी हुई है? वे फटकारने लगे कि यार, हमने इतना गम्भीर प्रश्न पूछा और तुमने सारी बात का इतना साधारणीकरण कर डाला अरे ऐसी तैसी तो किसी भी चीज़ से हो सकती है। हमें तुमसे उम्मीद थी कि तुम बताओगे कि इत्ती तेज़ गर्मी पड़ रही है तो अब क्या होगा? मन किया कि कहूँ, डामर पिघल जाएगा या लू लग जाएगी, पर उनके साथ एक जगह आकर चुप रह जाना ही बेहतर पॉलिसी रहती है।

उनके साथ फ़िल्म देखना बड़ी कठिन परीक्षा होती। टायटलिंग ख़त्म होते-होते वे पूछने लगते कि यार, अब क्या होगा? फ़िल्म में किसी ने पिस्तौल निकाली तो पूछने लगते कि यार, अब क्या होगा? मैं कहता कि गोली चलाएगा क्योंकि पिस्तौल से तो गोली ही चलती है। वे असहमत हो जाते। कहते कि यह भी तो हो सकता है कि न चलाये? हो सकता है, बिना चलाये ही पिस्तौल को वापस खीसे में धर ले? फिर अँधेरे में मेरे मुँह को देखते हुए वे कहते कि यार, बुरा मत मानो। चलो, तुम्हारी बात ही सही। बापणा गोली चलाएगा। ठीक है। पर वो किसी को लगेगी कि नहीं? वे इधर पूछ रहे हैं कि उधर पिस्तौल चल भी गयी। वे उद्वेलित हो गये। यार ग्यानू, तुम सही कह रहे थे। स्साले ने वाकई चला दी यार। अब? अब क्या होगा? हीरो को छाती पर गोली घली है। बचेगा कि नहीं? मैं बताता हूँ कि अभी फ़िल्म का इंटरवल भी नहीं हुआ है। अभी से हीरो को मार दोगे तो फ़िल्म को आगे कैसे घसीटेंगे भला? वे चकित रह जाते। कहते कि यार, तुम्हें कित्ता पता है। तारीफ करने लगते। कहते कि देखो, यह होता है हमेशा पूछते रहने का फायदा। तभी तो हम तुम्हारे ही साथ पिक्चर देखने आते हैं। दूसरे यह बात न बताते, अरि हम भी यही मानते कि बापणे को गोली लगी है तो मर ही जाएगा। वाह ग्यानू वाह। वे फ़िल्म देखते हुए मेरा हाथ पकड़ लेते। भावुक होकर कहते कि यार, तुम शहर से चले गये तो? तब क्या होगा? फ़िल्म ख़त्म होने के बाद भी वे रास्ते भर कोई न कोई प्रश्न पूछते रहते। कहते कि हीरोइनें इतना उघाड़ कर दिखाती हैं— यदि ये इनकी आख़िरी चिन्दी भी गिर जाये तो क्या होगा? वे लौटते-लौटते उस दर्जी का भी पूछते हीरोइन की इत्ती-सी चिन्दी ड्रेस बनाकर कित्ता कपड़ा बचा लेता होगा? बचे कपड़े की चड्ढी कित्ती मुलायम रहती होगी? वे एक फ़िल्म के बाद सात-आठ दिनों तक, उसी से, अब क्या होगा की अपनी भूख मिटाते रहते थे।

उनकी यह स्थिति किसी किताब पढ़ने पर भी होती। उपन्यास के पहले तीन-चार पेज पढ़ते-पढ़ते वे बेचैन हो जाते। हाय, आख़िर अब होगा क्या? इतने उद्विग्न हो जाते कि इस चक्कर में सीधे आख़िरी पेज पढ़ डालते सब पता चल जाने के बाद भी परेशान रहते कि अन्त में जो हुआ, सो हुआ कैसे? आख़िर लेखक ने यह सब कैसे कर डाला? इसके लिए वे फिर किताब को बीच से खोलकर बात समझने की कोशिश करते। जब अन्त ऐसा है तो अब बीच में क्या होगा? फिर वे कन्फ्यूज होकर मुझे फोन करके पूछते। यार, इस सुरेश टाइप के आदमी सब हो जायें तो क्या होगा मैं पूछता, कौन सुरेश? वे नाराज़ हो जाते। यार, लेखक होकर भी तुमने यह उपन्यास नहीं पढ़ा? यह तो हद है। ऐसे में लेखकों का क्या होगा? साहित्य का भविष्य क्या होगा? सुरेश का तो जो होगा सो होगा पर ऐसे समाज का क्या होगा जहाँ एक लेखक यह न जानता हो कि दूसरे लेखक का सुरेश जो कर रहा है, सो क्यों कर रहा है? फिर कोई तुम्हारे सुरेश की परवाह क्यों करेगा? ऐसे में साहित्य तथा सुरेश का आख़िर क्या होगा?

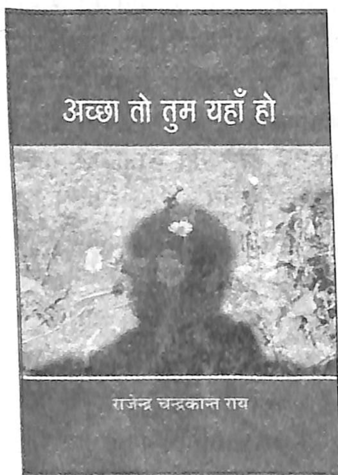
वे देश के भविष्य के बारे में तो दास मलूका टाइप बेचैन रहते ही हैं। हर स्थिति में यही पूछते कि यार, अब देश का क्या होगा? नेहरू जी, इन्दिरा जी से लगाकर वार्ड पार्षद कनछेदी लाल जी की मृत्यु के बाद भी वे जन-जन से पूछते फिरे कि बताओ, अब क्या होगा? मेरा मन तो किया कि कह दूँ, अब तेरहवीं होगी और फिर बरसी मनाया करेंगे— पर मेरी हिम्मत नहीं पड़ी। वे गम्भीर जवाब की उम्मीद करते थे।

आदमी ऐसे प्रश्नाकुल आदमी के साथ आख़िर कब तक निभा सकते हैं? एक दिन चिढ़कर मैंने कह दिया कि यार, आप ही बताओ न कि अब क्या होगा? हम ही हम क्यों बताते फिरे? थोड़ा दिमाग़ आप भी चलाइये न? वे नाराज़ हो गये। कहने लगे कि यह बताओ, प्रश्न पहले किसने पूछा था। हमने कि तुमने? प्रश्न उठाने की छोटी चीज समझे हो क्या? सोच-सोच कर नानी मर जाती है। प्रश्न पूछने में कित्ता दिमाग खर्च होता है, यह पता है? हम उत्तर भी खोजने बैठ जाएँ तो अगला प्रश्न कौन सोचेगा? जीवन में हज़ारों प्रश्न हैं। महापुरुष बापणे इनमें उलझकर ही जीवन भर महापुरुषाई करते रहे हैं। हमें यह पता होता तो तुमसे पूछते? अरे तुम्हें भी न पता हो तो सीधे मना कर दो। हम किसी और से पूछ लेंगे। कोई तो बताएगा कि अब क्या होगा?

उस दिन नाराज़ होकर जो वे गये तो आज तक वापस नहीं लौटे हैं। मैं चिन्तित हूँ कि अब क्या होगा।

मो.: 09425604103

# ज्ञानपीठ— नये प्रकाशन




मूल्य : 220 रुपये

## अच्छा तो तुम यहाँ हो (कहानी-संग्रह) : राजेन्द्र चन्द्रकान्त राय

*राजेन्द्र चन्द्रकान्त राय ने मेरा ध्यान पहले-पहल तब आकृष्ट किया था, जब मैंने कई साल पहले उनकी पर्यावरण की चिन्ता को लेकर लिखी गयी एक कहानी 'तीसरा खत' पढ़ी थी। फिर तो उनका लिखा हुआ ढूँढ़-ढूँढ़ कर पढ़ता रहा। वे अपनी क़लम और गतिविधियों से चिन्ताओं और सरोकारों के फलक के व्यापक होने का प्रमाण देते रहे हैं। राजेन्द्र क़रीने के कथाकार हैं। जन और जीवन से उन्हें गहरा लगाव है और वे कहानियों का 'कंटेंट' इर्द-गिर्द घट रही घटनाओं में तलाशते हैं। उनकी क़लम बदी की मुखालिफ़ और नेकी की हिमायती है। मानवीय रिश्तों और मनुष्यत्व की गरिमा में उनका गहरा यक़ीन है। लोक के वृत्त में रहते हुए चीज़ों का संधान करने की कला उनके पास है और उनका यह हुनर उनकी कहानियों में बखूबी झलकता है। चाहे 'अच्छा तो तुम यहाँ हो' के स्त्री-पुरुष हों या 'जयहिन्द' के कलेक्टर या कमांडर अथवा 'पाइपर माउस' का नायक चूहा, वे हमें बेहद अपने लगते हैं, हमारे अपने बीच के परिचित और जाने-पहचाने। राजेन्द्र घटनाओं और संवादों की लटों से कहानी को बहुत जतन से गूँथते हैं। उनकी भाषा उनका साथ देती है। वे कहीं लड़खड़ाते नहीं और न ही हड़बड़ी में भागते दीखते हैं। सधी हुई चाल। न प्रकंप, न उतावलापन। वे तनाव और लगाव दोनों को बहुत सलीक़े से व्यक्त करते हैं। वे अपनी ओर से नहीं बोलते, बल्कि वाक़ये और किरदार बोलते हैं। उनके पात्र पाठक को अपने साथ-साथ देर और दूर तलक ले चलने की क़ुव्वत रखते हैं। यही नहीं, इस यात्रा के बाद पाठक के लिए उन्हें भूल पाना मुमकिन नहीं हो पाता। राजेंद्र शब्दों को विचारों की मद्धिम आँच में पकाते हैं। वे रिश्तों की सान्द्रता को चीन्हते हैं और क़लम से रिश्तों की देह में धँसी किरचों को बीनते हैं। उनकी कथायात्रा हताशा, नैराश्य, अवसाद अथवा पलायन के साथ समाप्त नहीं होती, वह साहसपूर्वक आगे की यात्रा की भूमिका रचती है। राजेन्द्र यथार्थ से मुठभेड़ के साहसी और चेतस कथाकार हैं और समाज और व्यवस्था के खोट और खुरंट को उजागर करने से नहीं चूकते। वे चुहल भी करते हैं और तंज़ भी कसते हैं। इन लम्बी कहानियों में वे कहीं भी शिथिलता या स्फीति के शिकार नहीं होते। आज के समय की ये कहानियाँ समकालीन कथा जगत को समृद्ध करती हैं।*

**—डॉ. सुधीर सक्सेना**

# खुशकलामियाँ

### लेखक और टाइपरायटर

**मार्क ट्वेन ने** 1905 में लिखे अपने निबन्ध 'द फर्स्ट टाइपिंग मशीन' में दावा किया है कि टाइपरायटर पर लिखनेवाला सबसे पहला लेखक और कोई नहीं स्वयं मार्क ट्वेन है :

मैं दावा करता हूँ, जब तक कि कोई प्रतिदावा न करे, कि दुनिया भर में टाइपरायटर को साहित्य से जोड़नेवाला मैं पहला व्यक्ति हूँ और वह पुस्तक जो इस प्रकार लिखी गयी 1876 में प्रकाशित 'द एडवेंचर्स आफ टाम सायर' ही होना चाहिए।

लेकिन डारेन वेर्शलर हेनरी ने 'साहित्यिक टाइपरायटिंग का इतिहास' में लिखा है कि वह पुस्तक 'टाम सायर' नहीं बल्कि उसके कुछ वर्ष बाद 1883 में प्रकाशित मार्क ट्वेन की ही 'लाइफ आन द मिसीसिपी' थी। इस आधार पर साहित्य और टाइपरायटिंग के सन्दर्भ में मार्क ट्वेन दूसरे स्थान पर पहुँच जाता है पर केवल कुछ ही महीने के अन्तराल के कारण।



1882 में फ्रेडरिक नीत्शे ने 375 जर्मन मार्क में 'हानसेन रायटिंग बाल' (टाइपरायटर) खरीदी थी। हानसेन स्वीडिश पादरी था और गूंगे-बहरे बच्चों को पढ़ाता था। उसने अपना 'आविष्कार' ('हानसेन रायटिंग बाल') उन अभागे बच्चों के लिए किया था न कि नीत्शे जैसे जर्मन दार्शनिकों के लिए। अपने इस नए 'खिलौने' पर नीत्शे ने टाइप किया :

'लिखने की यह गेंद मेरे ही समान है— लोहे जैसी किसी सख्त चीज से बनी। यात्राओं में इसे आसानी से मोड़ लिया जाता है। इसके लिए अच्छी उँगलियों के समान ही अतिशय धैर्य और कौशल की आवश्यकता होती है।'



अमेरिकी उपन्यासकार जैक लन्डन को विकलांग कहना विकलांग शब्द का अवमूल्यन ही कहा जाएगा। वह अपने समय का बहुत ही चर्चित और सम्भवत: पहला अमेरिकी लेखक था जिसने अपने उपन्यासों के बल पर काफी पैसा ही नहीं कमाया, उसे विश्वव्यापी कीर्ति भी मिली। 'जान वार्लेकार्न' शीर्षक से अपनी पुस्तक में उसने लिखा है कि उसके लेखक जीवन का शुभारम्भ टाइपरायटर से ही हुआ था, जो उसके जीवन के कठिनतम संघर्षों में से एक था। 1897 में जब वह बर्कले विश्वविद्यालय में प्रथम वर्ष में था, तो उसने लेखक बनने की ठानी। कभी-कभी वह खाने-पीने की परवाह किये बिना पन्द्रह घंटों तक लगातार लिखता रहता था। फिर लिखे हुए को टाइप करने की बात आती थी। उसके जीजा के पास एक टाइपरायटर था जिस पर वह दिन में काम करता था। अत: जैक रात को उसका उपयोग कर सकता था। वह 'ब्लिक' टाइपरायटर था जो उस समय की पहली-पहली टायपिंग मशीन थी और उस पर केवल 'कैपिटल' अक्षर ही टाइप होते थे। उसकी 'की' को इतनी जोर से दबाना पड़ता था कि उँगलियों के अगले हिस्से में बहुत दर्द होने लगता था और उँगलियों के पीछे फफोले पड़ जाते थे। कहा जाता है कि उस मशीन पर वह इस प्रकार धीरे-धीरे टाइप करता था कि उसे धीरे टाइप करनेवालों की श्रेणी में 'विश्व चैम्पियन' माना जा सकता है।



हिन्दी में टाइपरायटर का प्रयोग वैसे तो टाइपिस्टों द्वारा कम-से-कम पिछले 80 वर्षों से किया जाता रहा है जब कुछ लेखक/साहित्यकार उनसे अपनी रचनाएँ टाइप कराते होंगे। यह भी हो सकता है कि आर्थिक दृष्टि से 'सम्पन्न' कुछ लेखकों के पास अपने टाइपरायटर हों (अज्ञेय और कमलेश्वर जैसे कुछ लेखकों के पास तो निश्चय ही अपने टाइपरायटर रहे होंगे) और वे पूरी पुस्तक नहीं वरन लेख, पत्र आदि फुटकर रचनाएँ स्वयं टाइप करते होंगे, पर यह शोध का विषय हो सकता है। जहाँ तक सबसे पहले हिन्दी में अपनी पूरी पुस्तक स्वयं टाइप करने की बात है, इसका दावा शायद यह लेखक स्वयं कर सकता है (जबतक कि कोई अन्य दावेदार सामने न आए)



अँग्रेज़ी लेखकों (ब्रिटिश और अमेरिकी दोनों) में प्राय: सभी अपने टाइपरायटरों पर स्वयं टाइप करते हैं। यदि कभी यह पता लगाने की कोशिश की जाए कि लेखकों द्वारा किस कम्पनी के टाइपरायटर सर्वाधिक प्रयोग किये जाते रहे हैं तो केवल भारत ही नहीं दुनिया भर में रेमिंगटन को ही सबसे पहले रखा जाएगा। उसके बाद इम्पीरियल, रॉयल और जर्मनी में बने ओलम्पिया के साथ ही इटली के ओलीवेत्ति को। भारत में तो कहा जा सकता है कि शुरू से ही अँग्रेज़ी और हिन्दी में रेमिंगटन का लगभग एकाधिकार-सा रहा है। अँग्रेज़ी में भी जार्ज ओरवेल, अगाथा क्रिस्टी, टेनेसी विलियम्स और विलियम फॉकनर जैसे चर्चित लेखक 'रेमिंगटन टाइपरायटर' पर टाइप करते थे, जबकि पापा हेमिंगवे, पी.जी. वुडहाउस और जेम्स बांड सीरीज के उपन्यासों के लेखक इया फ्लेमिंग की पसन्द रॉयल टाइपरायटर थे।

**महेन्द्र राजा जैन**
**मो.: 09415347351**

# चिट्ठीरसा

नया ज्ञानोदय का धन्यवाद, जिसने मई दिवस के अवसर पर ख़्यातनाम हस्तियों के लेख प्रकाशित करके 'मज़दूर' एवं 'श्रम विमर्श' की जो 'मशाल' प्रज्वलित की उससे रोशन होकर हमारे दोस्त लालमियाँ ने उसमें छपी रचना- 'गुमशुदा' पढ़कर सुनाते हुए...व्यंग्योक्ति भरे लहजे में पूछा— ''बताओ... बताओ... कहाँ हैं मज़दूर? उसकी मशाल? और आपकी क़लम...?' उनकी आग उगलती नज़रों ने मेरे दिमाग़ की बत्ती जला दी! मैंने मुलज़िम की तरह सफ़ाई देते हुए कहा—'मियाँ, आप भी कहाँ इन व्यंग्यकारों के लिखे में उलझ रहे हैं! उनका 'काम' है लिखना...! मज़दूर नज़र आते हैं— अविकसित पिछड़े समाज में, मशाल चमकती है 'अँधेरे' (अँधेर) में और क़लम तब चलती है जब सरफरोशी की तमन्ना हो! विकास के चकाचौंधी प्रभामंडल में जब हमारा 'टारगेट' उड़ती सोने की चिड़िया पकड़ना हो, तब हम नीचे देखें या ऊपर! 'स्वच्छ भारत' की 'स्मार्ट सिटीज' में मज़दूर दिखना 'डिजिटल सरकार' के करे कराये पर पानी फेरना है!'

'मजदूर का न दिखना, विकास के लिए अच्छा संकेत नहीं! आउट ऑफ़ साइट, आउट ऑफ़ माइंड! बिना पैरों (महाभारत मे चतुर्थ वर्ण की तुलना भगवान के पैरों से की गयी है।) का विकसित शरीर किस काम का? श्रीकान्त वर्मा ने लिखा है—'एक आदमी दूसरे का और दूसरा तीसरे का दहेज है/ जिसकी वाणी में आज तेज़ है/ दस साल बाद वह इस तरह लौट आता है/जैसे किसी वेश्या के कोठे से/अपने को बुझा कर।'

'हज़ारों बरसों से जिसे निम्न श्रेणी में रखा गया हो,वह गगनचुम्बी 'विकास अट्टालिकाओं' का सपना देखने वाले 'मनुओं' की निगाह में कहाँ जगह पा सकता है? हमारी संस्कृति के अनुसार तो 'जो निगाह से गिरा, वह दिलो दिमाग़ से भी गया'! नींव में गढ़े 'पत्थरों' को देखने के लिए नींव खोदने की हिमाकत कौन करेगा? 'शिखर' नहीं हिल जाएगा! आपकी बात से लग रहा है कि मज़दूर की ख़ैर ख़बर लेनेवाले मशालची 'राग दरबारी' बनकर अभी कहीं मुजरा करने, कराने, एवं देखने में व्यस्त हैं दस साल बाद लौटेंगे!' 'मियाँ, अब 'प्रेमचन्द' के 'गोदान' का किसान 'होरी', होरी नहीं-होरा सिंह हो गया; और उसका मज़दूर बेटा 'गोबर' शहर जाकर— गोवर्धन। राजनीति ने दलित पिछड़ों को कुछ दिया हो, या नहीं, परन्तु अपने नाम के साथ दबंगी से अपना गोत्र लिखकर बरसों से उनका शोषण करनेवालों के साथ बराबरी से सिर उठा कर चलने की ताक़त ज़रूर दे दी है। अब वह विकास के मूल मन्त्र 'ठेकेदारी' को समझ गया है,इसलिए 'चौराहे' पर मजबूर भिखारी-सा खड़ा नहीं मिलता बल्कि चायना मैड कपड़े एवं जूते पहने, हाथ में मोबाइल लिए, अपनी झोंपड़ी में टीवी देखते हुए विशेषज्ञों की तरह 'ऑन कॉल' रहकर, ठेकेदार को अपनी मर्जी से समय देता है!'

'बिना मज़दूर के शोषण के कोई विकास सम्भव है क्या?'

'मियाँ, मज़दूर तो हैं, परन्तु 'मज़दूरी' ने उन पारम्परिक मज़दूरों का दामन छोड़कर 'विकास मानुष'— एम बी ए, इंजीनियर, डॉक्टर, सी ए, वैज्ञानिकों आदि का हाथ पकड़ लिया है! जो देश एवं दुनिया के चौराहों पर बन्धुआ मज़दूरों से बदतर स्थिति में, अपना ज़मीर बेच कर 'काम' करने के लिए मरे जा रहे हैं!

'और मज़दूर को सरकारी रियायतों की रेवड़ी बाँटकर घर बैठा दिया गया! यही तो राजनीति की विशेषता है कि अभावों के रेगिस्तान में 'मृगतृष्णा' पैदा करने को सफल 'राज नीति' कहा जाता है। 'सब्सिडी' नाम का 'स्लो पॉयजन' और पीने के लिए पानी की जगह धर्म की ठंडाई में राष्ट्रभक्ति नाम की भाँग, धतूरा, अफ़ीम देकर, विकास के नाम पर धन्धा और नौकरियाँ मिलने का झुनझुना पकड़ाना भी उसका एक हिस्सा हो सकता है! लेकिन यह नहीं भूलना चाहिए कि जब वह उससे बाहर निकलता है तब अपने हाथ में मशाल नहीं बन्दूक या बम उठाये भी नज़र आ सकता है! यहाँ कवि राजकमल चौधरी की पंक्तियाँ याद आ रही हैं— 'आदमी को तोड़ती नहीं हैं लोकतान्त्रिक (तथाकथित) पद्धतियाँ / केवल पेट के बल उसे झुका देती है /धीरे-धीरे अपाहिज/ धीरे-धीरे नपुसंक बना लेने के लिए/उसे शिष्ट राजभक्त देशप्रेमी नागरिक बना देती है।'

हमारे तथाकथित विमर्श को सुनकर घर में मज़दूरी कर रहा रामजी (एम.ए. पास कारपेंटर) बोला— 'साहब, 'मजबूरी' का नाम 'मज़दूरी' है'। बुद्धिजीवी कौन-सी अच्छी स्थिति में हैं- सम्पादक मालिक का मज़दूर है, मालिक बाज़ार और सत्ता का, तथाकथित लेखक, साहित्यकार, व्यंग्यकार 'मज़दूरी' लेकर ही सम्पादक और प्रकाशक की क़लम से लिखते हैं...जिसकी स्याही होते हैं सरकारी विज्ञापन! मई दिवस मनाना है तो उन नौकर पेशा युवक युवतियों के लिए मनाइये जो विकास के मायाजाल में फँस कर प्रेमचन्द के किसान मज़दूर के शारीरिक शोषण से अधिक अमानवीय मानसिक एवं सांस्कृतिक शोषण के शिकार हो रहे हैं, और उनसे भी अधिक उन्हें पालने-पोसनेवाले उनके माँ बाप...! मशाल जलाने की हिम्मत नहीं है, तो मत जलाइये, परन्तु जो 'मिसालें', 'कोठार' में रखी हैं, उन्हें तो निकाला जा सकता है! श्री नरेश मेहता निरंकुश शासनतन्त्र के समय भी लिख गये— 'अधिपति होने का अर्थ / राजा तो है / पर राष्ट्र नहीं / जिस दिन ऐसा मान लिया जाएगा / महानुभावो / इतिहास की वह सबसे ग़लत परम्परा होगी...!'

—सुरेश गर्ग

ISSN 2278-2184

Regd. No. RNI : DEL-Hin / 2003 / 9468
Postal Regd. No. DL(S)-17 / 3089 / 2015-17
Licened to Post without Pre-payment
of Postage L. No. U [SE] - 63 / 2013 - 14



प्रकाशक : धर्मपाल जैन द्वारा भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली 110 003 के लिए मुद्रित एवं प्रकाशित
मुद्रक : चार दिशाएं, जी-39/40, सेक्टर-3, फेज-1, नोएडा (उ.प्र.)